सप्रेम आशीर्वाद

परम पूज्य संत श्री रणछोड दास जी महाराज

चित्रकूट वालों की ओर से

भगवान महावीर का २५६९वाँ
जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका

१९७०

सम्पादक मण्डल

१. श्री केवलचन्द ठोलिया
२. श्री चन्दनमल वैद
३. श्री उमरावमल चोरडिया
४. श्री कपूरचन्द्र पाटनी
५. डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
६. श्री प्रकाशचन्द्र पाटणी
७. श्री ताराचन्द्र साह

प्रधान सम्पादक
भँवरलाल पोल्याका
साहित्य शास्त्री, जैन दर्शनाचार्य

मुद्रक
अजन्ता प्रिण्टर्स
घी वालों का रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर

मूल्य २)

प्रकाशक
ताराचन्द साह
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्यकारिणी के पदाधिकारी एवं सदस्य

१. श्री केवलचन्द ठोलिया बी. ए. एल. एल. बी.	अध्यक्ष
२. श्री कपूरचन्द पाटनी एम. काम एल एल. बी. साहित्यरत्न, एडवोकेट	उपाध्यक्ष
३. श्री हुकमचन्द सेठी एम. बी. बी. एस.	उपाध्यक्ष
४. श्री ताराचन्द साह बी. ए. एल. एल. बी. एडवोकेट	मंत्री
५. श्री प्रकाशचन्द पाटनी बी. ए. साहित्यरत्न	संयुक्त मंत्रो
६. श्री बाबूलाल सेठी एम. काम., एस ए. एस. नाट्यालंकार	संयुक्त मंत्री
७. श्री सुरज्ञानीचन्द लुहाडिया न्यायतीर्थ	कोषाध्यक्ष
८. श्री माणिकचन्द जैन एम. ए., बी. टी.	सदस्य
९. श्री कैलाशचन्द बाकीवाला बी. काम., एल. एल बी.	सदस्य
१०. श्रीमती प्रभावती साह एम. ए., एल एल बी.	सदस्य
११. श्री सेठ मालचन्द जैन	सदस्य
१२. श्री अनूपचन्द, न्यायतीर्थ साहित्यरत्न	सदस्य
१३. श्री बलभद्र जैन बी. ए प्रभाकर, साहित्यरत्न	सदस्य
१४. श्री सूरजमल सोगाणी	सदस्य
१५. श्री नेमीचन्द पाटणी बी. काम सी आई. आई. बी. विशारद	सदस्य
१६. श्री सुभाषचन्द चौधरी बी. ए. बी. काम.	सदस्य
१७. श्री रमेशचन्द गंगवाल बी. काम.	सदस्य
१८. श्री ओमप्रकाश कासलीवाल	सदस्य
१९. डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम ए. पी. एच. डी	सदस्य
२०. श्री मुन्नीलाल जैन एम. काम. एल. एल. बी, ऐफ. सी. ए. चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट	सदस्य

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं

"भगवान् महावीर की सत्यशोध की दृष्टि बहुत व्यापक थी। उन्होंने सत्य को अनेकान्त दृष्टि से देखा और सापेक्ष दृष्टि से उसका प्रतिपादन किया। इसीलिए उनकी वाणी में सहअस्तित्व, समन्वय, मैत्री और अहिंसा का सशक्त ओज है। किन्तु उनका अनुयायी वर्ग उनकी वाणी को तन्मयता से सुन न सका और प्रबल प्रयत्न द्वारा दूसरों तक पहुँचा नहीं सका। इसीलिए कोटि-कोटि जनता उनकी वाणी से अपरिचित है। उनकी वाणी से अपरिचित होने का अर्थ है अपनी शांति और अपने भीतर छिपी हुई शक्तियों से अपरिचित रहना। भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शती आ रही है यह एक बहुत बडा निमित्त है। इसका लाभ उठा कर जैन लोग स्वयं भगवान् की वाणी से परिचित हो और दूसरो को उससे परिचित करे। इस कार्य में आपके पत्र का भी बहुत बडा योग हो सकता है।"

आचार्य तुलसी

ऋषभदेव का मन्दिर
कुलपाक (आन्ध्र)
२२ फरवरी १९७०

मुख्यमंत्री, राजस्थान.
जयपुर
अप्रैल २, १६७०

यह प्रसन्नता का विषय है कि राजस्थान जैन सभा द्वारा आगामी महावीर जयन्ती दिनांक १६ अप्रेल, १६७० को श्री महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित की जा रही है।

हिंसा एवं संघर्ष के वातावरण से त्रस्त मानवता के लिये भगवान महावीर का सत्य-अहिंसा एवं अपरिग्रह का संदेश अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आशा है स्मारिका में भगवान महावीर के जीवन चरित्र एवं उपदेशों पर प्रेरणाप्रद सामग्री प्रस्तुत की जायगी।

स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए मैं अपनी शुभ कामनायें भेजता हूँ।

मोहनलाल सुखाड़िया

जयपुर
राजस्थान

दिनाक ३० मार्च, ७०

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी वीतराग भगवान श्री महावीर की जयन्ती सुअवसर पर राजस्थान जैन सभा की ओर से "श्री महावीर जयन्ती स्मारिका" प्रकाशित होने जा रही है। पूर्व में प्रकाशित विद्वानो के लेख व कवितायें आध्यात्मिक दृष्टि के अलावा राष्ट्र प्रेम से ओतप्रोत होने की वजह से सराहनीय रही हैं। मुझे विश्वास है कि इस स्मारिका में प्रकाशित विद्वज्जनो के लेख व कवितायें भी जनमानस में समाज सेवा व राष्ट्रभक्ति की भावना जागृत करेगी। मैं स्मारिका की सफलता की कामना करता हूँ।

रामकिशोर व्यास

राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जन्म २२ जनवरी सन् १९०० — निधन २६ जनवरी सन १९६९

आपके द्वारा सम्पादित स्मारिका आज भी आपकी प्रेरणा से स्मृति रूप प्रकाशित हो रही है। आप राजस्थान जैन सभा के मुख्य संरक्षक एवं मार्ग दर्शक थे।

दो शब्द

जैन वाङ्मय, इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व का जैन एवं जैनेतर जनता में प्रचार और प्रसार हो अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजस्थान जैन सभा, जयपुर प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती के परम पुनीत अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन करती आई है। भगवान् महावीर के उपदेश चिरन्तन सत्य हैं। कल उनकी जो उपयोगिता थी वह ही आज भी है और आने वाले कल भी रहेगी। धर्म की वास्तविकता को पहचानने की कसौटी भी यह ही है। ऐसा ही धर्म मानव-जीवन का निर्माण कर सकता है। वह देश, धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि से अतीत होता है। ऐसे धर्म का वास्तविक स्वरूप सबके लिये, साधारण से साधारण व्यक्ति के लिये, भी सुलभ हो इस हेतु इन स्मारिकाओं का मूल्य लागत से भी अत्यन्त कम दो रुपया मात्र रक्खा जाता है और उचित स्थानों, संस्थानों एवं विद्वानों के पास वह निःशुल्क भी भेजी जाती है। सभा के इस कार्य की सभी क्षेत्रों में सराहना की गई है जिससे उसकी उत्साह वृद्धि होती रही हैं।

स्मारिका के छह अङ्क अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। उसका सातवां अङ्क पाठकों के हाथ में है। प्रयत्न रहा है कि स्मारिका न केवल अपना पूर्वस्तर स्थिर रख सके अपितु वह आगे भी बढ़े। इस प्रयत्न में हमारी सफलता कहां तक है इसका निर्णय कृपालु पाठक करें।

स्मारिका के विभिन्न कार्यों के सम्पादन हेतु एक सम्पादक मण्डल का गठन इस वर्ष भी किया गया जिसके प्रधान सम्पादक श्री भँवरलाल पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य, सा० शास्त्री हैं। उन्होंने लेखों का सकलन किया, चयन किया, संशोधन किया, प्रूफ आदि सारे ही कार्यों को देखा। स्मारिका को प्रस्तुत करने का मुख्य श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने जिस लगन व सेवा-भाव से इस कार्य को पूरा कराया उसके लिये सभा उनके तथा सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यों के प्रति अपना आभार प्रकट करती है।

स्मारिका जिस रूप में पाठकों के हाथों में पहुँच रही है उसके लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जिन महानुभावों का सभा को सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। एतदर्थ आर्थिक समस्याओं को हल करने, विज्ञापन आदि जुटाने में विशेषत: श्री कपूरचन्द्र जी पाटणी, संयोजक विज्ञापन समिति, श्री चन्दनमल जी वैद, श्री मदनलाल जी वैद, श्री अनूपचन्द्र जी ठोलिया, श्री मुन्नीलाल जी संघी, श्री हस्तीमल जी संघी, श्री राजमल जी संघी, श्री विजयचन्द्र जी वैद व श्री नेमीचन्द जी पाटणी आदि का जो सक्रिय सहयोग मिला इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

लेखकों और विज्ञापनदाताओं के भी हम समान रूप से आभारी हैं। वास्तव में इन्ही के सहयोग से तो यह महत्कार्य हो पाता है।

श्री अजन्ता प्रिण्टर्स ने इस स्मारिका का मुद्रण किया है। उसके मैनेजर श्री महावीर कुमार रारा एवं श्री जितेन्द्र कुमार संघी ने दिन रात इस व्यवस्था को देखा है जिसके कारण यह अङ्क समय पर जनता की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। एतद्धेतु वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं।

स्मारिका का यह अङ्क आपको कैसा लगा? इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति भेजने की कृपा करें।

—केवलचन्द ठोलिया

अध्यक्ष, राजस्थान जैन सभा

जयपुर

सम्पादकीय

महावीर जयन्ती का पर्व प्रतिवर्ष आता है। सारे भारत में इस दिन बड़ा उत्साह होता है। स्थान स्थान पर प्रभातफेरियाँ और जलूस निकाले जाते हैं। सार्वजनिक सभाएँ होती हैं जिनमें बड़े बड़े विद्वान्, लेखक, कवि एवं राजनेता आदि भाग लेते हैं। भगवान् महावीर का गुणगान होता है, जयगान होता है उन द्वारा प्रचारित धर्म ही महिमा का वर्णन होता है और हम समझते हैं हम सफल हो गये, हमने बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न कर लिया, गढ जीत लिया।

इन सब की उपयोगिता से इन्कार नही किया जा सकता किन्तु प्रश्न है क्या महावीर जयन्ती का पावन पर्व केवल इसलिए ही आता है। यह ठीक है कि जैन धर्म सार्वभौमिक है वह उदार और सर्वग्राह्य है। 'जीओ और जीने दो' उसका मूलमन्त्र है। इससे भी अधिक वह आग्रहहीन है। वह 'ही' का प्रयोग न कर 'भी' का प्रयोग करता है। क्या ये सिद्धान्त हमारे जीवन में उतरे हैं ? आचार्य समन्तभद्र ने कहा है 'न धर्मो धार्मिकेर्बिना।" धर्म का अस्तित्व धर्मात्माओं से ही है। उसके धर्म के अनुयायी ही उस धर्म में वर्णित सिद्धान्तों के, चारित्र के चलते फिरते मूर्त्तरूप होते हैं। उनको ही देखकर धर्म की अच्छाइयों और बुराइयों का अनुमान जनता लगाती है। भगवान् महावीर की जय बोलने के साथ इस पावन पर्व पर हम अपने अन्तस को टटोलें कि हम कहा हैं। गतवर्ष से हम आगे बढे हैं या हमारे पग उससे भी पीछे हटे हैं जहाँ हम थे। नि सन्देह इस सबका उत्तर नकार में ही होगा। आइए भगवान् महावीर के हम अनुयायी एक होकर प्रतिज्ञा करें कि हम उनके बताए मार्ग पर चलेंगे, आपस में लड़ेंगे झगडेंगे नही, जैनधर्म के प्रचार और प्रसार के लिये कंधे से कंधा भिड़ा कर चलेंगे, कार्य करेंगे, हमारा जीवन दूसरो के लिए आदर्श और प्रेरणाप्रद होगा।

इस वर्ष आयोजित सेमिनार के अवसर पर बनारस के बहुश्रुत विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र जी ने दुःख के साथ कहा था कि आज दिगम्बरत्व कहीं दिखाई नहीं देता। मैं उनके इन शब्दों में संशोधन के साथ कहता हूँ कि हम में जैनत्व ही नहीं दिखाई देता। औरङ्गजेब ने कहा था कि संसार में इन्सान तो बहुत हैं किन्तु मुझे इन्साब एक भी नहीं दिखाई देता। मै कहता हूँ जैनियों की कमी नहीं लेकिन जैन दिखाई नही देते। यदि होते

तो क्या आज हमारी यह दशा होती, क्या हम इसी प्रकार टुकड़ों में बँटे रहते, क्या साम्प्रदायिक भेदभाव हमारे में होते ? दुनिया को ऐक्य और संगठन का उपदेश देने वाले हम स्वयं ही आपस में लड़ते हैं। क्या यह हमारे लिए लज्जा और क्षोभ की बात नहीं है। हमारी इसी फूट के कारण महावीर जयन्ती की छुट्टी नहीं हो पा रही है क्योंकि सरकार पर संगठन का प्रभाव पड़ता है, वह जीवित समाजों की आवाज सुनती है। यदि आज सरकार को यह विश्वास हो जावे कि यदि उसने जयन्ती की सार्वजनिक छुट्टी घोषित न की तो एक तूफान उठ खड़ा होगा तो वह निश्चय ही बिना किसी ननु नच के हमारी बात मान लेगी। हम वाच्छूर तो हैं कर्मशूर नहीं। बातें तो बड़ी बड़ी बनाते हैं किन्तु तदनुकूल कार्य नही करते, अस्तु।

महावीर जयन्ती स्मारिका का यह सातवां अङ्क जनता के हाथों में है। स्मारिका का उद्देश्य है जैना जैन जनता में भगवान महावीर के जीवन दर्शन और उनके उपदेशों का प्रचार करना, जैन साहित्य, दर्शन, पुरातत्त्व आदि विषयों पर पक्षपातहीन खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में स्मारिका कहां तक सफल हुई है यह जनता देखे और यदि कही त्रुटि है तो निःसंकोच हमारा ध्यान उधर आकृष्ट करें। साहित्य शब्द का अर्थ है ऐसी रचनाएँ जो सद्भाव को जागृत करें अथवा मानवमात्र की भलाई हितचिन्तन उनमें हो। इसी प्रकार का साहित्य स्मारिका देती रही है और भविष्य में भी देना चाहती है। येन केन प्रकारेण अपने कलेवर की पूर्ति कर लेना इसका उद्देश्य नहीं है।

सम्पादन कला का मुझे अनुभव नहीं है किन्तु मेरे सभी साथियो का, सम्पादन मण्डल के सदस्यों का मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है उन सब ही का मैं कृतज्ञ और आभारी हूँ। राजस्थान जैन सभा के कार्यकर्ताओं ने जो मुझे इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए चुना उसके लिए भी मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ। मैंने भरसक इस गौरवास्पद पद की गरिमा अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की है फिर भी त्रुटियां संभव हैं जिनके लिए मैं और केवल मैं उत्तरदायी हूँ और उनके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

विद्वान् लेखकों का भी पूर्ण सहयोग मुझे मिला है। कइयों ने तो मेरे एक बार के अनुरोध पर ही अपनी बहुमूल्य रचनाएँ भेज दीं। हमारे अधिकांश लेखक अध्यापन कार्य करते हैं और यह समय परीक्षाओं के सामीप्य का रहा अतः उनके पास समयाभाव होना स्वाभाविक था फिर भी उन्होने अपने व्यस्त जीवन के कुछ अमूल्य क्षण प्रदान किये उसके लिए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि भविष्य में भी उनकी कृपा एवं सहयोगभाव इसी प्रकार बना रहेगा।

विशेष रूप से मैं पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीर' का आभारी हूँ जिन्होंने 'वीर' के वीर जयन्ती अंक के सम्पादन कार्य में व्यस्त होते हुए और रक्तचाप से पीड़ित होते हुए भी न केवल अपनी रचना ही भेजी अपितु अन्यों से प्रेरणा करके भी उनकी रचनायें भिजवाईं।

कुछ विद्वानों की रचनाएँ समयाभाव व स्थानाभाव के कारण स्मारिका के इस अङ्क में स्थान नहीं पा सकी हैं। उनको सुरक्षित रख लिया गया है। भविष्य में यथासंभव उनका उपयोग कर लिया जावेगा या फिर लेखकों के लिखा आने पर उनको लौटा दिया जायेगा।

दो शब्द कृपालु पाठकों से भी। स्मारिका सम्पूर्ण जैन समाज की है। इसमें ऐसा कुछ मुद्रित हो जाना स्वाभाविक है जो शायद एक सम्प्रदाय के पाठकों की मान्यताओं के विरुद्ध हो। सम्पादक के लिए प्रत्येक स्थान पर यह लिखना सम्भव नहीं है कि इस लेख की अमुक-अमुक बात अमुक सम्प्रदाय के लोग नहीं मानते। पाठक लेखों को सम्प्रदाय के मोह से मुक्त होकर पढ़ें और केवल सार को ग्रहण कर लें।

अन्त में मैं स्व० श्रद्धेय गुरुवर्य पण्डित चैनसुखदास जी को श्रद्धा के साथ प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ आज जो कुछ भी मैं हूँ सब उनही की कृपा और आशीर्वाद का फल है।

जय वीर!

भँवरलाल पोल्याका

अहिंसा

किसी जंगल में एक भयानक साँप रहता था। एक बार एक सन्त उसके पास से गुजरे। साँप उनके पाँवो में लौटकर अपने उद्धार की प्रार्थना करने लगा। सन्त बोला—"किसी को काटा मत कर, तेरा भला होगा।"

साँप ने काटना छोड़ दिया। उसके इस परिवर्तन की चर्चा दूर-दूर तक फैल गयी। नतीजा यह हुआ कि दुष्टजन उसे लकड़ी, पत्थर इत्यादि से मार-मार कर सताने लगे। एक वार वही सत फिर उधर से निकले। साँप ने अपनी दु:ख-गाथा बयान की—"महाराज, आपने अच्छा उपदेश दिया, मेरा तो जीना ही मुहाल हो गया।"

सन्त बोले—"भाई ! मैंने तुझसे काटने के लिए मना किया था; यह कब कहा था कि तू फुफकारना भी मत।"

प्रकाशकीय

"महावीर जयन्ती स्मारिका" का सप्तम वार्षिक संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हम अतीव प्रसन्नता तथा गौरव का अनुभव कर रहे हैं।

यह अंकित करना अतिशयोक्ति न होगी कि भगवान महावीर की जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली इस स्मारिका ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान बनाया है तथा जैन साहित्य, धर्म, दर्शन और संस्कृति के विषय में जानने के इच्छुक प्रबुद्ध नागरिकों ने इसके सान्दर्भिक महत्व को स्वीकार किया है।

प्रकाशन के इस महत्त्व की प्राप्ति का श्रेय निर्विवाद रूप से हमारे उन सभी माननीय लेखकों को है जिनके प्रयत्नो व सहयोग से हम इस सकलन को तैयार कर पाते हैं। स्मारिका को एक स्तरीय प्रकाशन बनाने का मूल्य श्रेय स्वर्गीय पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ को है जिन्होने इसके प्रथम पांच संस्करण सम्पादित किये। पण्डित साहब के निधन के बाद इसका सम्पादन भार सौपने के लिए योग्य व्यक्ति का चयन वस्तुतः एक समस्या था, लेकिन श्री भँवरलाल पोल्याका जिन्होंने पण्डित साहब के रहते हुए भी इसके सम्पादन कार्य में सहयोग दिया था, ने यह गुरुत्तर भार ग्रहण कर हमें इसका सहज समाधान दिया। उनके लिए हम श्री पोल्याका के हृदय से आभारी हैं।

स्मारिका का सम्पादक मंडल भी जैसा कि प्रायः होता है, दिखावटी या सजावटी नहीं है, वह कार्यकारी है। सम्पादक मण्डल के प्रायः प्रत्येक सदस्य ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके प्रकाशन में सहयोग दिया है। प्रत्येक के प्रति नामजद कृतज्ञता के स्थान पर मैं यहां सामूहिक रूप से संपादक मडल के सभी माननीय सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उनका कृपापूर्ण सहयोग, संरक्षण एवं मार्गदर्शन प्रकाशन को उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण एवं उपादेय बनाने की दिशा में प्राप्त होगा।

स्मारिका प्रकाशन को सम्भव बनाने में विज्ञापनदाताओं के सहयोग को ओझल कर नहीं चला जा सकता। जहाँ सामग्री के बिना संकलन तैयार करना असम्भव है वहाँ विज्ञापन के माध्यम से प्राप्त आर्थिक साधन सुविधाओं के अभाव में प्रकाशन के वित्तीय साधन जुटाना भी असंभव है। इस बात का हमें बड़ा संतोष है कि विज्ञापनदाताओं का उदार सहयोग हमें विज्ञापन समिति के संयोजक श्री कपूरचन्द पाटनी तथा उनके सहयोगी सदस्यों के प्रयत्नों से आशा, अपेक्षा और ग्रन्थ के लिए आवश्यक मात्रा के अनुरूप प्राप्त हो रहा है। हम सभी विज्ञापनदाताओं तथा विज्ञापन समिति के संयोजक तथा समिति के सभी माननीय स॰स्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

स्मारिका के मुद्रक मैसर्स अजन्ता प्रिन्टर्स के सहयोग के प्रति भी हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होने पूरी दिलचस्पी के साथ अपने हर सम्भव साधन प्रकाशन को समय पर तैयार करने के लिए जुटाये। अल्प समय में इतनी बड़ी पुस्तिका का कलात्मक मुद्रण निश्चय ही उनकी मुद्रण क्षमता तथा कर्मनिष्ठा का परिचायक है।

स्मारिका को अधिकाधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से हम प्रयत्नशील रहे हैं तथा रहेंगे. लेकिन फिर भी हम बडी कृपा मानेंगे यदि पाठकगण भी कमियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे तथा अपने अमूल्य सुझावों से मार्गदर्शन दे कृतार्थ करेंगे।

ताराचन्द साह
मंत्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा जयपुर :
परिचय और प्रवृत्तियाँ

राजस्थान जैन सभा जयपुर सम्पूर्ण जैन समाज के ऐसे कार्यकर्ताओं का संगठन है जो सम्पूर्ण जैन समाज को एक डोरी में बाधे रख कर उसकी प्रत्येक प्रकार से धार्मिक एवं सामाजिक उन्नति करना चाहते हैं, समाज में फैली कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं अन्य प्रकार की बुराइयों से उसकी रक्षा कर उसमें नव प्राणों का सचार कर उसे अन्य उन्नत समाजों से अधिक नही तो उनके समकक्ष तो लाना ही चाहते हैं। इसकी स्थापना इन पावन उद्देश्यों को लेकर सन् १९५२ में हुई थी। तब से लेकर आज तक केवल यही एकमात्र ऐसी सस्था है जो सम्पूर्ण जैनों का धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही नही राजनीतिक क्षेत्र में भी सारे राजस्थान के जैनियों का प्रतिनिधित्व करती है। राजस्थान विधानसभा में जब नग्न विरोधी बिल रखा गया था तो उसका सफल विरोध करने वाली यह सभा ही थी। इस ही के प्रयत्नों से वह बिल वापिस हुआ था।

जैन एवं जैनेतर समाज में भगवान महावीर का पावन उपदेश प्रचारित एवं प्रसारित हो इस दृष्टि से सभा समय-समय पर धार्मिक उत्सवों का आयोजन करती है। पर्यूषण एवं महावीर जयन्ती के पर्व इनमें मुख्य हैं। इस वर्ष २६ जनवरी सन् ६९ को कराल काल के क्रूर करो ने श्रद्धेय परमादरणीय राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत प. चैनसुखदास जी न्या. तीर्थ, अध्यक्ष श्री दि. जैन संस्कृत कालेज को हमारे मध्य से उठा लिया। सम्पूर्ण समाज उनके निधन के समाचारों से शोक संतप्त हो गया। सभा के तो वे मार्गदर्शक, प्रेरक सब ही कुछ थे। सभा ने उसी दिन बडे दीवान जी के मन्दिर में एक वृहद् शोकसभा का आयोजन किया जिसमें समाज की विभिन्न सस्थाओं की ओर से एवं व्यक्तिशः भी अश्रुपूरित नेत्रो से दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

पूज्य पण्डित साहब के वियोगजनित दुःख से अभी मुक्ति ही नही हुई थी कि ता. २९-३-६९ को जबकि सभा के कार्यकर्ता तीन दिन पश्चात् ही आने वाली महावीर जयन्ती समारोह की तैयारियां करने में दत्तचित्त होकर लगे हुए थे, सभा के अध्यक्ष श्री केसरलाल जी अजमेरा का हृदय की गति रुक जाने से यकायक ही स्वर्गवास हो गया। श्री अजमेरा में वृद्धा-

वस्था में भी युवकों का सा उत्साह था और वे समाज हित के प्रत्येक कार्य में हमेशा ही आगे की पंक्ति में खड़े मिलते थे। उसी दिन चाकसू के मन्दिर में श्री सिद्धराज ढड्ढा की अध्यक्षता में शोकसभा हुई जिसमें समाज के गरामान्य व्यक्तियों ने स्व. आत्मा को श्रद्धा सुमन चढाते हुए उनको आत्मा को शांति प्राप्त्यर्थ प्रार्थना की गई। श्री अजमेरा के स्थान में श्री केवलचद ठोलिया सर्वसम्मति से सभा के अध्यक्ष चुने गए।

३१ मार्च ६९ को महावीर जयन्ती का पावन पर्व आया और सदा की भांति ही इस वर्ष भी मनाया गया। ३० को प्रात. प्रभातफेरी निकाली गई। इसी दिन संध्या को रवीन्द्र मंच पर सास्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किया गया जिसमें हजारो स्त्री-पुरुष और बच्चों ने भाग लिया। ३१ को प्रातः महावीर पार्क से सदा की भाति ही एक जुलूस रवाना हुआ जो नगर के प्रमुख बाजारों में होता हुआ रामलीला मैदान पहुंचा जहां राज्य सरकार के उपमन्त्री नियुक्ति एव सामान्य प्रशासन ने अपने करकमलों से झण्डा-रोहण किया। सध्या को इसी स्थल पर सर सेठ भागचन्द जी सोनी अज-मेरा की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसका उद्घाटन प्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री गोकुलभाई भट्ट ने किया एवं अन्य विद्वानो के भाषण और कविता पाठ हुए। स्वभावतः ही सारे आयोजनों पर दोनों सदात्माओ के वियोग जनित दुख की छाया छाई हुई थी।

दशलक्षरण पर्व के अवसर पर यह सभा दस दिन तक विशाल आयो-जन करती है जिसमें प्रतिदिन दश धर्मों मे से क्रम प्राप्त एक धर्म पर एवं अन्य उपयोगी विषयों पर जैन एव जैनेतर विद्वानों के भाषरण होते है। अब तक स्व. श्रद्धेय प. चैनसुखदास जी इस समारोह के मुख्य वक्ता होते थे। उनके सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नही, सम्पूर्ण जैन समाज उनका ऋरणी है और सभा के तो वे मार्गदर्शक थे। प. टोडरमल जी के पश्चात् जयपुर में इतने विशाल ज्ञान के धारी विद्वान् वे ही हुए थे इसमें सन्देह नही। उनको मृत्यु से जयपुर जैन समाज की ही नही सम्पूर्ण राष्ट्र की एक ऐसी क्षति हुई है जिसको निकट भविष्य में पूर्ति होना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। उनके अभाव में सभा ने इस पर्व पर इस वर्ष सितम्बर ६९ में उज्जैन के प्रसिद्ध विद्वान् और स्व. पण्डित साहब के सुयोग्य शिष्य प सत्यंधरकुमार जी सेठी को प्रमुख वक्ता के रूप में आमन्त्रित किया जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और उज्जैन से जय-पुर पधारकर आपने इन पवित्र दिनों में जनता को धर्मामृत का पान कराया। श्री रामप्रसाद लड्ढा कृषि एवं यातायात मन्त्री राजस्थान राज्य ने इस समारोह का ता. १५-९-६९ को उद्घाटन किया। दूसरे दिन पडित

गोविन्दनारायण जी शर्मा, न्यायाचार्य प्रिंसिपल संस्कृत कालेज जयपुर का वेद एवं जैनधर्म विषय पर भाषण हुआ जिसमें आपने जैन और वैदिक धर्मों का तुलनात्मक दृष्टि से बड़ा ही मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया। शेष दिनों में श्रीमती रवीन्द्रा ने 'समाजोत्थान में महिलाओं का योगदान', श्री बाबूलाल सेठी का 'पर्वों का महत्व', श्री भवरलाल पोल्याका का 'पाप, पुण्य और धर्म', श्री बिरधीलाल जी सेठी का अनेकान्तवाद, श्रीमती चन्द्र-कान्ता का शिक्षा धर्म और समाज, श्री श्रीपतराय बज का 'वर्तमान युग में धर्म प्रभावना', श्री कपूरचन्द्र पाटनी का 'जैन धर्म और समाजवाद', श्री आर.एस. कुमार का जीवन में स्वाध्याय का महत्व', श्री माणिक्यचद्र जैन का 'नैतिक शिक्षा की आवश्यकता', श्री प्रेमचन्द रांवका का 'धार्मिक सिद्धान्तों का जीवन में महत्व' तथा डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल का 'मूर्ति पूजा का इतिहास एव उसका महत्व' विषयो पर भाषण हुए।

ता २७-६-६६ को क्षमापन पर्व समारोह श्री रामकिशोर जी व्यास की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ जिसमें २० हजार से भी अधिक सख्या में लोगो ने भाग लेकर क्षमा के महत्व को समझा और समारोह के पश्चात् एक-दूसरे से क्षमायाचना की। हजारो लोगो का इस प्रकार एक-दूसरे से क्षमायाचना करने का दृश्य बड़ा भव्य और प्रभावक था।

ता. १०-११-६६ को बड़े दीवानजी के मन्दिर में महावीर निर्वाण महोत्सव श्री केवलचन्द ठोलिया की अध्यक्षता में मनाया गया जिसमें भी कई वक्ताओ के भगवान महावीर की पावन देशना पर भाषण हुए।

समारोहो के आयोजन से ही सभा के कार्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। वह अन्य सामाजिक कार्यों में भी उसी उत्साह से भाग लेती है जिस प्रकार कि बड़े-बड़े समारोहों के आयोजन में। प्रसिद्ध राष्ट्र नेता श्री अर्जुनलालजी सेठी के उपयुक्त स्मारक के लिए भूमि प्राप्ति के प्रयत्न सभा ने चालू रख रखे हैं और उनके शीघ्र ही फलीभूत होने की आशा है। मा. मोतीलाल जी संघी के सन्मति पुस्तकालय का निर्माण कार्य भी प्रारंभ हो गया है जिसके लिए अपेक्षित धन प्राप्ति हेतु सभा प्रयत्न कर रही है।

भगवान महावीर के पावन उपदेश जैनाजैन जनता में प्रचारित एवं प्रसारित हो इस हेतु सभा के अपने विशेष प्रयत्न हैं। वह जयन्ती के पावन अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन करती है। इसमें भगवान महावीर के जीवन, उनके उपदेश, जैन साहित्य, धर्म, इतिहास आदि विषयों पर भारत भर के जैनाजैन अधिकृत विद्वानों की रचनायें एवं कविताएँ, भजन आदि होते हैं। अब तक प्रकाशित इन स्मारिकाओं की सभी क्षेत्रों में बड़ी

प्रशंसा हुई है। प्रचार की दृष्टि से इसका मूल्य भी लागत से बहुत कम रखा जाता है। जैनसभा का यह प्रयत्न सारे भारत में अपने ढंग का अनोखा एवं एकाकी है : इसके अतिरिक्त मुनिश्री विद्यानन्द जी द्वारा लिखित कुछ ट्रैक्टों, पुस्तकों का प्रकाशन भी सभा द्वारा हुआ है। सभा का अपना एक वाचनालय भी है जिसमें प्रमुख दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं।

पूज्य प० साहब की स्मृति को स्थाई रखने हेतु भी सभा ने अपने ढंग का अनोखा ही प्रयत्न किया है। उसने एक बुक बैंक की स्थापना की है जिससे असमर्थ छात्रों को पढ़ने हेतु पुस्तकें दी जाती हैं। श्री केवलचन्द ठोलिया और श्री बाबूलाल सेठी इस कार्य के सचालक हैं। यद्यपि यह कार्य अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है किंतु शीघ्र ही इसका पर्याप्त विस्तार हो जाएगा ऐसी आशा है।

सभा का विधान प्रजातांत्रिक पद्धति पर आधारित है जिसकी कार्य समिति के चुनाव प्रति वर्ष होते हैं। यह गौरव की बात है कि सभा के चुनाव अब तक प्राय: सर्वसम्मति से हो होते आए हैं। सभा के कार्यकर्त्ताओं का सेवाभाव एवं उनके एकजुट होकर कार्य करने का स्वभाव अनुकरणीय एव प्रशसनीय है। कार्यकारिणी के वर्तमान पदाधिकारियों और सदस्यो की सूचि अन्यत्र प्रकाशित है।

ताराचन्द साह
मन्त्री

सभा के अध्यक्ष
श्री केवलचन्द ठोलिया
जन-समूह को सम्बोधित
करते हुए

राजस्थान जैन सभा

द्वारा

आयोजित

क्षमापन पर्व
महोत्सव
१६६६

सभा के मन्त्री
श्री ताराचन्द्र साह
धन्यवाद ज्ञापन
करते हुए

महोत्सव के अध्यक्ष श्री रामकिशोरजी व्यास विशाल जन-समूह के समक्ष भाषण करते हुए

भगवान महावीर
और
उनकी देशना

प्रथम खंड

इस अङ्क में :—

रेडियो रूपक
(आकाशवाणी से प्रसारित)

वर्धमान महावीर

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन
आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.
व्यवस्थापक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

> और भगवान महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा—
> "जिस प्रकार हमें दुःख प्रिय नहीं लगते उसी तरह किसी को दुःख अच्छे नहीं लगते। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। अतएव निर्ग्रन्थ प्राणीवध का निषेध करते हैं।
> कोई भी किसी का प्राण न ले, किसी को पीड़ा न दे। किसी को परिताप न दे, किसी को उद्वेजित न करे। ...."

(भक्ति सूचक संगीत : संगीत मे से उभरता हुआ स्वर)

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि
अरहंते सरणं पव्वज्जामि
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि
साहू सरणं पव्वज्जामि
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

(सामूहिक स्वर मे पुनरावृत्ति : संगीत समाप्त)

वाचक—आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। सारे भारतवर्ष में हर्ष और उल्लास के साथ भगवान महावीर की जयन्ती मनायी जा रही है। भगवान महावीर जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर माने जाते हैं। आज से २५६७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन बिहार के कुण्डलपुर मे महावीर का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। सिद्धार्थ वैशाली गणतन्त्र के एक प्रसिद्ध राज नेता थे।

एक दिन सिद्धार्थ अपने आस्थान मण्डप मे बैठे थे—

स्त्री स्वर—महाराज को बधाई हो। देवी त्रिशला ने पुत्र रत्न को जन्म दिया है।

पुरुष स्वर णमो तस्स भगवदो पासणाहस्स। मदनिके ! ले यह स्वर्ण मुद्रिका। इस शुभ सूचना का उपहार। और हाँ, तत्काल यह समाचार देवी त्रिशला के तात चरण महामान्य चेटक को भिजवाओ।

स्त्री स्वर—जो आज्ञा महाराज !

(पृष्ठभूमि मे शहनाई का मध्यम स्वर)

(डके की आवाज, मनादी)

उद्घोषक पुरुष स्वर—वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष, लिच्छवि कुलभूषण, महामान्य चेटक महाराज का सन्देश है कि ज्ञातृवशी, कश्यपगोत्री, क्षत्रिय नरेश सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान महावीर के जन्म की खुशी मे सम्पूर्ण वैशाली तोरण, पताकाओ और पुष्पो से सजायी जाये तथा सर्वत्र खुशिया मनायी जाएँ।

(डके की आवाज)

(बच्चो और नागरिको के हल्के कोलाहल के बीच मनादी की दो बार पुनरावृत्ति)

वाचक—महाराज चेटक का सदेश मलय की सुरभि की तरह सर्वत्र फैल गया। सारा वैशाली गणतन्त्र हर्षोल्लास मे झूम उठा—

(पुत्र जन्मोत्सव का सगीत, वाद्य, नृत्य, गान, बधावे आदि)

वाचक महावीर जन्म से ही उदीयमान, मेधावी और तेजस्वी थे, इसलिए उनके वर्धमान और सन्मति नाम पडे। बाल्यकाल मे ही कुछ ऐसी शौर्यपूर्ण घटनाए घटीं जिनके कारण वे वीर, अतिवीर और महावीर कहलाने लगे। सारे वैशाली गणतन्त्र मे उनकी चर्चा फैल गयी।

बालको का स्वर—भागो, भागो, साँप, साँप, काला साँप (भगदड की ध्वनि)

वर्धमान (बाल स्वर)—अरे ! तुम लोग तो ऐसे डर गये कि जैसे कि वह खा ही जाएगा।

बालको का स्वर—बाप रे ! वर्धमान, वर्धमान, दूर रहो वर्धमान ! भयकर साँप है।

वर्धमान (बाल स्वर)—अरे भई, इतना क्यो डरते हो ? देखो अभी पकडता हूँ।

बालको का स्वर—नही, नही, नही वर्धमान !

(बालको की चिल्लाहट की ध्वनि)

वर्धमान (बाल स्वर)—लो ! लो ! नाग देवता ! बच्चे समझ कर हम लोगो को डरा रहे थे। लो पूछ पकड कर ऐसा फेंकता हूँ कि पुष्पोद्यान से बाहर गिरोगे।

(साँप को पकडकर फेंकने की ध्वनि)

बालको के उल्लास का स्वर—बडा वीर है वर्धमान, साँप को पकड कर फेंक दिया।

वाचक—एक बार वैशाली मे एक हाथी बिगड गया और धन-जन की हानि करता उत्पात मचाने लगा—

(हाथी की चिंघाड, लोगो की भगदड, चिल्लाहट)

स्त्री-स्वर बचाओ, बचाओ, यह दुष्ट हाथी इसी ओर, इसी ओर आ रहा है।

(घबराहट और रोने की आवाज)

प्रौढ-स्वर—घबडाओ नही। मै आया। वर्धमान के रहते न पशु उत्पात कर सकता है न मनुष्य।

प्रौढ-स्वर—रुको, रुको गजराज, आगे नही बढना।

(घबडाहट, कोलाहल शान्त, हर्ष ध्वनि)

उल्लास का स्वर—वर्धमान महावीर धन्य हैं, धन्य हैं। कितना प्रभाव है कि कहने भर से दुष्ट हाथी शान्त हो गया।

स्त्री-स्वर—युवराज, इस दुष्ट हाथी ने बहुतो को कुचल डाला।

पुरुष-स्वर—वर्धमान कुमार न होते तो पता नहीं आज यह दुष्ट सारा नगर उजाड़ कर रख देता।

वाचक—महावीर स्वभाव से चिन्तनशील थे। उस युग के परिवेश और परिस्थितियों ने उन्हें और अधिक चिन्तनशील बनाया। जीवन और जगत के प्रश्न बार-बार उनके मन में आ कर टकराते। सामाजिक विषमता, धर्म के नाम पर पाखण्ड और अपव्यय, तथा जिजीविषा के लिए कठोर संघर्ष देख कर उनका जी तिलमिला उठता। वे विचारों में खो जाते। वर्षों तक वे इन प्रश्नों पर घर में ही सोचते रहे, किन्तु उन्हें समुचित समाधान नहीं मिला। अन्ततः तीस वर्ष की भरी जवानी में एकान्त चिन्तन के लिए वे घर से निकल पड़े। यह समाचार बिजली की लहर की तरह दौड़ गया। सारी वैशाली वर्धमान के दर्शनार्थ उमड़ पड़ी।

(जन-समूह का कोलाहल। सामूहिक उद्‌घोष)

पुरुष-स्वर—सिद्धार्थ कुमार की जय।

स्त्री-स्वर—त्रिशलानन्दन की जय।

बाल-स्वर—वर्धमान महावीर की जय।

पुरुष-स्वर—अरे, यह हरीकेसी कहाँ बढ़ा जा रहा है। वर्धमान कुमार की ओर ही तो। ओह, कोई रोको इसे, कुमार को न छुए। चाण्डाल। जनम-जनम का पापी।

वही स्वर—अरे, यह क्या। कुमार ने हरीकेशी को गले लगा लिया। चाण्डाल को ऐसे गले लगाया जैसे उनका सगा भाई हो।

(नदी का कलकल स्वर, पेड़ों की खरखराहट)

वाचक—वर्धमान कुमार तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के साधुकुल में दीक्षित हो गये। जृम्भका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे उन्होंने कठोर साधना प्रारम्भ कर दी। हेमन्त की बर्फीली हवाएँ (बर्फीली हवाओं की ध्वनि) ग्रीष्म की आग उगलती दोपहरी (ध्वनि), मूसलाधार वर्षा और तूफान (ध्वनि), झेलता वह महान योगी १२ वर्ष तक कठोर साधना करता रहा। एकान्त चिन्तन करता रहा। और जैसे सारे प्रश्नों का समाधान कोई एक साथ पा जाए। एक दिन शालवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे महावीर को दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई। वे केवलज्ञानी हो गये।

वाचक—महावीर की कठोर साधना और दिव्य ज्ञान की चर्चा सारे देश में दूर-दूर तक फैल गयी। अपार जन-समूह वर्धमान महावीर के दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़ा। राजगृह के विपुलाचल पर तीर्थङ्कर महावीर की प्रथम विशाल समवशरण सभा आयोजित हुई। मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार उस सभा के प्रधान प्रश्न-कर्ता थे और इन्द्रभूति गौतम तीर्थङ्कर महावीर की दिव्य वाणी के प्रथम व्याख्याता। लाखों लाख आँखें महावीर की ओर लगी हुई थी और चारों ओर से जय-जयकार का उद्‌घोष हो रहा था—

उद्‌घोष—तीर्थङ्कर महावीर की जय

ज्ञातपुत्र महावीर की जय

दीर्घ तपस्वी वर्धमान की जय

गौतम (पुरुष स्वर)—ओम् शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

(प्रल्पकालिक अन्तराल)

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं ॥

महावीर (दिव्य वाणी)—जह मम ण पियं दुक्खं
जाणइ एवम् सव्व जीवाण ।

सव्वे, जीवा वि इच्छन्ति जीविउ न मरीज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर निग्गथा वज्जयंति ण ॥

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे भूया सव्वे
जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा न अज्ज-
वियव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न
उद्वेयव्वा ।

व्याख्या . पुरुष स्वर (गौतम) – आयुष्मन् श्रेणिक
और कल्याणेच्छु भव्य जीवो ! अत्र
भगवान् तीर्थङ्कर महावीर ने अभी अपने
दिव्य उपदेश में हिंसा और अहिंसा का
प्रतिपादन किया ।

जीवन और जिजीविषा का प्रश्न चिरतन है ।
जिस प्रकार हमे दुःख प्रिय नही लगते

उसी तरह किसी को दुःख अच्छे नही
लगते ।

सभी प्राणी जीना चाहते है । मरना कोई
नही चाहता ।

अतएव निर्ग्रन्थ प्राणीवध का निषेध
करते हैं ।

कोई भी किसी का प्राण न ले, किसी को
पीडा न दें ।

किसी को परिताप न दे, किसी को उद्वे-
जित न करे ।

पुरुष-स्वर—धन्य हैं भगवन्, धन्य हैं ।

सामूहिक स्वर—धन्य हैं भगवन्, धन्य हैं ।

(श्रेणिक) पुरुष-स्वर—भन्ते । अहिंसा का सन्देश
सुना । आपने हरिकेशी चाण्डाल को अपने
संघ मे दीक्षित किया है । हम इसका
रहस्य जानना चाहते हैं ।

दिव्य-वाणी—

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होई खत्तिओ ।
वइस्सो कम्मुणा होई सुद्दो होइ उ कम्मुणा ॥
मनुष्यजातिरेकैव ।

गौतम—पुरुष-स्वर (व्याख्या)—आयुष्मन् श्रेणिक
और कल्याणेच्छु भव्य जीवो ! तीर्थङ्कर
महावीर ने कहा—जन्म से कोई छोटा-
बडा, कोई ऊँच-नीच नहीं होता । प्राणी
कार्य से ब्राह्मण, कार्य से क्षत्रिय, कार्य से
वैश्य और कार्य से शूद्र होता है । आदमी
आदमी एक है । प्राणी मात्र समान है ।
वह समाज कैसा जो मानव को मानव से
अलग करे । वह धर्म कैसा जो व्यक्ति के
बीच मे दीवार खडी करे ।

पुरुष-स्वर—साधु, साधु ।

सम्मिलित स्वर —साधु, साधु ।

श्रेणिक (पुरुष-स्वर)—भन्ते ! हमने समाज रचना
के लिए समता के उपदेशामृत का पान
किया । तीर्थङ्कर महावीर सर्वथा निर्ग्रन्थ
हैं पर समाज की आर्थिक विषमता के
विषय मे हमारा पथ प्रदर्शन करें ।

महावीर (दिव्य वाणी)—असविभागी नहि तस्स
मुक्खो ।

मुच्छा परिग्गहो ।

जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फ किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥

(दश० १/२)

व्याख्या—जो व्यक्ति समविभाग नहीं करता, सब स्वयं ही बटोर लेना चाहता है उसका कल्याण नहीं हो सकता। संग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति ही परिग्रह है। जैसे भ्रमर पुष्प को पीडा दिये बिना रस ग्रहण करता है, उसी तरह व्यक्ति को दूसरो को पीडा दिये बिना अपना अंश ग्रहण करना चाहिए।

पुरुष-स्वर—धन्य हो प्रभु, धन्य हो।

श्रेणिक (पुरुष-स्वर)—प्रभो, हमने अपरिग्रह का उपदेश सुना। दुनिया में जो अनेक धर्म और मतवाद प्रचलित हैं उनके विषय मे हम कैसे-क्या समझें ?

महावीर (दिव्य वाणी)—जावइया वयणपहा तावइया चेव हु ति णयवाया।

अवरोप्पर सावेक्खं णयविसय तह पमाण विसय वा। त सावेक्ख तत्तं णिव्वेक्ख ताण विवरीयं॥

गौतम (पुरुष-स्वर)—(व्याख्या) जितने तरह से बात कही जाए, उतने ही नयवाद हो सकते हैं। पर वे सब सापेक्ष सत्य ही हैं। सापेक्ष कथन ही तत्व है। वही सत्य है। निरपेक्ष कथन सत्य नही हो सकता। आयुष्मन् श्रेणिक, मैं जो कहता हूँ, केवल वही सत्य है, इस प्रकार का आग्रह ही मतभेदो का जनक है। मैं जो कहता हूँ वह भी सत्य है, ऐसा कहना मतभेदो मे सामजस्य लाता है। यही सापेक्षता है। यही अनेकान्त है।

वाचक—विपुलाचल पर आयोजित तीर्थंङ्कर वर्धमान महावीर की समवसरण सभा का समापन करते हुए इन्द्रभूति गौतम ने कहा—

गौतम (पुरुष-स्वर)—आयुष्मन् श्रेणिक और कल्याणेच्छु भव्य जीवो! वर्धमान महावीर ने अपनी दिव्य वाणी में जो उपदेश दिया, उसका संक्षेप में सार यही है कि जीव मात्र समान है। विचारो मे अनेकान्त, वाणी में सापेक्षता तथा व्यवहार मे अहिंसा और अपरिग्रह की भावना ही कल्याण का मार्ग है।

वाचक—वर्धमान महावीर ने काशी, कौशल, कलिंग कुरुजागल कम्बोज, बाल्हीक, सिन्धु, गान्धार, आदि जनपदों मे विहार कर जनता की भाषा मे जनता को सम्बोधित किया। जो भी उनके उपदेश सुनता उसे लगता महावीर उसी की बात कह रहे हैं।

और इस तरह महावीर लगभग तीस वर्ष तक अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का उपदेश देते रहे। बहत्तर वर्ष की आयु मे बिहार के पावापुर में उनका निर्वाण हुआ। अपार जन-समूह ने उपस्थित होकर तीर्थङ्कर महावीर को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और आकाश मंगल स्तुतियो से गूँज उठा।

(भक्ति सगीत के साथ—)

जयतु जय महावीर भगवान् !
जयतु जय महावीर भगवान् !
सिद्धारथ के राज दुलारे
त्रिशला की आँखो के तारे
कुण्डलपुर के हो उजयारे
पावापुर से मोक्ष पधारे
किया स्वपर कल्याण।
जयतु जय महावीर भगवान् !
जयतु जय महावीर भगवान् !

श्री पतितोद्धारक महावीर !

अनूपचन्द न्यायतीर्थ
साहित्यरत्न, जयपुर

(१)
श्री महावीर ! पतितोद्धारक।
श्री ज्ञानज्योति के महाधाम।
श्री शरणागत प्रतिपाल प्रभो !
शत बार नहीं शतशः प्रणाम ।।

(२)
तुमने जग को संदेश दिया
वह सत्य अहिंसा का महान।
जन-जन में तुमने फूंक दिया
उस महाशक्ति का एक प्राण ।।

(३)
नर मेघ यज्ञ पशुबलियाँ सब
हो गये बन्द सुन सदुपदेश।
छा गया शान्ति का साम्राज्य
ना रहा किसी में द्वेष लेश ।।

(४)
पर आज कहा छिप गया प्रभो
वह वाणी का अद्भुत प्रताप।
दिन दूना रात चौगुना सा
बढता जाता है महा पाप ।।

(५)
छल कपट फूट पाखण्ड दम्भ
चोरी अन्यायी अनाचार।
छा रहे सभी के मानस पर
ना दीख पा रहा सदाचार ।।

(६)
नि:स्वार्थ भावना तज मानव
है स्वार्थ लोलुपी बना आज।
निज स्वार्थ सिद्धि के वशीभूत
कर रहा सभी दूषित समाज ।।

(७)
हिंसा की प्रवृति बढ़ी हुई
मधु-मास-मद्य का अति प्रचार।
बूचडखानों से निकल रही
अति करुण क्रन्दना चीत्कार ।।

(८)
इच्छाएँ सबकी बढ़ी हुई
संग्रह की करने लगे होड़।
आचरण हो गये निन्दनीय
सब दौड़ रहे पाश्चात्य दौड ।।

(९)
संकुचित भावना से प्रेरित
मानव में आया अहंकार।
रक्षक ही भक्षक बना हुआ
हो पाये कैसे फिर सुधार ।।

(१०)
ना दृष्टि आ रहा पथ दर्शक
शोषण की करते सभी बात।
सिद्धान्त छोड़कर नेतागण
कर रहे आज विश्वासघात ।।

(११)
जोरो से पनपा जातिवाद
औ ऊँच नीच का भेदभाव।
बढ रही मलिनता मानस में
दृढ द्वेष ईर्षा का जमाव ।।

(१२)
धर्मांध हुए सब झगड़ रहे
भाई-भाई में नही प्रेम।
क्या शासक, नेता, व्यापारी
विद्वान कृषक के नही क्षेम ।।

(१३)
सिखला दो फिर से महावीर
वह स्याद्वाद सिद्धात आज'
सब छोड़ दुराग्रह दुष्प्रवृति
मिल जाय पुन: बिखरा समाज ।।

(१४)
सब तजें भावना संग्रह की
अधिकार सभी के हों समान।
"जीओ औ जीने दो" वाला
संदेश प्रसारित हो महान ।।

(१५)
शुचि सम्यवाद फैले जग में
आये विचार में अनेकांत।
उत्थान देश का हो जाये
हों उपद्रव दुख दर्द शांत ।।

भगवान महावीर के पूर्व भव और कुछ प्रमुख जीवन घटनाएँ

जैनों की दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर के पूर्व एवं वर्तमान भवों की घटनाओं को लेकर मतभेद हैं। कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन श्वेताम्बर परम्परा में मिलता है जो दिगम्बर परम्परा में वर्णित नहीं हैं। इन सबका पूर्णरूपेण तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। श्री शास्त्रीजी का यह लेख विद्वानों को इस दिशा में प्रेरित करेगा, पाठकों के ज्ञान में भी इस से वृद्धि होगी ऐसी आशा है।

—सम्पादक

श्री हीरालाल
सिद्धान्त शास्त्री, ऐलक पन्नालाल दि० जैन
सरस्वती भवन, ब्यावर

अनेक दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों ने भ० महावीर के चरित्र का चित्रण प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रंश भाषा में किया है। दोनो सम्प्रदायो के ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सभी ने भ० महावीर के पूर्वभवो का वर्णन भील के भव से प्रारम्भ किया है। दि० परम्परा के अनुसार भ० महावीर के ३३ भवो का वृत्तान्त मिलता है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में २७ ही भवो का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। दोनो परम्पराओ मे प्रारम्भ के २२ भव तथा अन्तिम ५ भव कुछ नाम-परिवर्तनादि के साथ एक से ही हैं, किन्तु मध्य के ६ भव श्वेताम्बर परम्परा मे नही बतलाये गये हैं। यहा पर स्पष्ट जानकारी के लिए दोनो परम्पराओ के अनुसार भ० महावीर के भव दिये जाते हैं—

दिगम्बर मान्यतानुसार	श्वेताम्बर मान्यतानुसार
१. पुरूर वा भील	१. नयसार भिल्लराज
२. सौधर्म देव	२. सौधर्म का देव
३. भरत चक्रि पुत्र मरीचि	३. भरत चक्रि पुत्र मरीचि
४. ब्रह्म स्वर्ग का देव	४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
५. जटिल ब्राह्मण	५. कौशिक ब्राह्मण

६. सौधर्म स्वर्ग का देव	६. ईशा स्वर्ग का देवन
७. पुष्यमित्र ब्राह्मण	७. पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. सौधर्म स्वर्ग का देव	८. सौधर्म स्वर्ग का देव
९. अग्निसह ब्राह्मण	९. अग्न्युद्योत ब्राह्मण
१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव	१०. ईशान स्वर्ग का देव
११ अग्नि मित्र ब्राह्मण	११. अग्निभूति ब्राह्मण
१२. महेन्द्र स्वर्ग का देव	१२. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
१३. भारद्वाज ब्राह्मण	१३ भारद्वाज ब्राह्मण
१४. महेन्द्र स्वर्ग का देव	१४. महेन्द्र स्वर्ग का देव
त्रसस्थावर योनि के असंख्य भव	अन्य अनेक भव
१५. स्थावर ब्राह्मण	१५. स्थावर ब्राह्मण
१६. महेन्द्र स्वर्ग का देव	१६. ब्रह्म स्वर्ग का देव
१७. विश्वनन्दी (मुनिपद मे निदान)	१७. विश्वभूति (मुनि पद मे निदान)
१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९. त्रिपृष्ठ नारायण	१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२०. सातवें नरक का नारकी	२०. सातवें नरक का नारकी
२१. सिंह	२१. सिंह
२२. प्रथम नरक का नारकी	२२. प्रथम नरक का नारकी
२३. सिंह (मृग-भक्षण के समय चारण मुनि-द्वारा सम्बोधन)	×
२४. प्रथम स्वर्ग का देव	×
२५. कनकोज्ज्वल राजा	×
२६. लान्तव स्वर्ग का देव	×
२७. हरिषेण राजा	×
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	×
२९. प्रिय मित्र चक्रवर्ती	२३. पोट्टिल या प्रिय मित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव	२४. महाशुक्र स्वर्ग का देव
३१. नन्द राजा (तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध)	२५. नन्दन राजा (तीर्थङ्कर गोत्र का बन्ध)
३२. अच्युत स्वर्ग का इन्द्र	२६. प्राणत स्वर्ग का इन्द्र
३३. भ० महावीर	२७. भ० महावीर

श्वेताम्बर परम्परा मे २३ वें भव से लेकर २८ वें भव तक के ६ भवो का कोई उल्लेख क्यों नही यह बात विचारणीय है।

दोनों परम्परा के आचार्यों ने २२ पूर्व भवो का वर्णन प्राय: समान ही किया है। हा, भ० महावीर के वर्तमान भव में कुछ बातो का अन्तर अवश्य पाया जाता है।

१. दि० परम्परा में भगवान् की माता १६ स्वप्न देखती है, जब कि श्वेताम्बर परम्परा मे वह १४ ही स्वप्न देखती है।

२. श्वे० परम्परानुसार भ० महावीर पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये। पीछे नैगम देव के द्वारा गर्भापहरण कर त्रिशला के गर्भ मे पहुंचे।

३. दि० परम्परानुसार तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानधारी होने से वे किसी विद्यालय मे नही पढने जाते। किन्तु श्वे० परम्परा मे उनके विद्यालय मे पढ़ने का वर्णन मिलता है।

४. दि० परम्परानुसार महावीर ने विवाह नही किया जब कि श्वे० परम्परा मे विवाह होने व एक पुत्री होने का भी उल्लेख है।

५. दि० परम्परानुसार भ० महावीर दीक्षित होने के बाद से ही नग्न रहे हैं, जब कि श्वे० परम्परा के अनुसार उन्होने एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र रखा।

उपर्युक्त प्रमुख अन्तरो के अतिरिक्त भगवान महावीर के ऊपर होने वाले उपसर्गों का वर्णन दि० परम्परा की अपेक्षा श्वे० परम्परा मे अधिकता से पाया जाता है।

दिगम्बर ग्रन्थो में भ० महावीर के द्वारा की गई विविध तपस्याओ का विगत वार वर्णन नही मिलता है, जब कि श्वे० ग्रन्थो में उनकी तपस्याओ का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है—

छह मासी अनशन तप	१
पाच दिन कम छह मासी तप	१
चातुर्मासिक	६
त्रैमासिक	२
अढ़ाई मासिक	२
द्विमासिक	६
डेढ़मासी	२
एक मासी	१२
पक्षोपवास	७२
भद्र प्रतिमा २ दिन	१
महाभद्र प्रतिमा ४ दिन	१
सर्वतोभद्र प्रतिमा १० दिन	१
षष्टोपवास (वेला तप)	२२६
अष्टमभक्त (तेला तप)	१२
पारणा के दिन	३४६
दीक्षा दिन	१

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि भ० महावीर ने अपने छद्मस्थ तपस्या काल के १२ वर्ष ६ मास और १५ दिन मे केवल ३४६ दिन ही भोजन किया है और शेष दिनो में उन्होने निर्जल उपवास ही किये हैं। इस समस्त छद्मस्थ काल में भ० महावीर ने केवल एक बार कुछ क्षणो के लिए निद्रा ली। शेष सर्वकाल उन्निद्र रह कर जागृत दशा मे ही आत्म-चिन्तन करते हुए व्यतीत की है।

भ० महावीर के ११ गणधरो का उल्लेख दोनो परम्पराओ मे एक सा ही है। हा, किस गणधर को भ० महावीर के समीप दीक्षित होने के पूर्व किस-किस विषय की कौन कौन सी शका थी और भगवान् के द्वारा उनका समुचित समाधान पाने पर वे दीक्षित हुए, इसका सविस्तार वर्णन श्वे० ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है।

मैं जैन नहीं हूँ

यों कहने को तो कहते हैं
पर मेरे मन को लगता है मैं जैन नहीं हूँ।
जैन शब्द का अर्थ कि जिसने जीता है मन,
इन्द्रिय तन-मन जनित क्षणिक सुख छोड़ दिया है।
हिंसा, चोरी, झूठ, परिग्रह, दुराचरण तज—
सत्य अहिंसा मय जीवन को मोड़ दिया है।
मैं सर्वथा दोषमय; इनमें इतना लिप्त
कि इनसे मुक्त स्वयं दिन रैन नहीं हूँ।
जैन नहीं हूँ।
यों कहने को तो कहते हे, पर मेरे मन को
लगता है मैं जैन नहीं हूँ।

हिंसा की परिभाषा गहरी जैन धर्म में,
क्षम्य तुम्हारी हिंसा जो हो नित्य कर्म में,
संकल्पी हिंसा का करना महा पाप है,
कड़वे-तीखे वचन बोलना महा पाप है।
जीव दया क्या कर पाऊँगा मै अपराधी
जग-जन को दे पाता मीठे बैन नही हूँ।
जैन नही हूँ।
यों कहने को तो कहते हे पर मेरे मन को
लगता है मैं जैन नही हूँ।

बात-बात में दिन भर झूठ कहा करता हूँ।
शांति सौख्य मय सत से दूर रहा करता हूँ।
जाने क्यो मम मति पर पर्दा पडा हुआ है।
मेरा मन चचल-सा चिकना घडा हुआ है।
झूठ त्याग कर अपना लेता सत्य वचन को
सयत कर पाया मै इतने बैन नही हूँ।
जैन नही हूँ।
यों कहने को तो कहते हैं पर मेरे मन को
लगता है मैं जैन नही हूँ।

परधन हर लेने को मेरा मन कहता है।
विषय वासनाओं में तन्मय मन रहता है।
दुनिया का धन मिले कि पूरी चाह नही है।
मैं मदान्ध हूँ दिखती शिव की राह नही है।
जैन ज्योति के महा प्रवर्तक महावीर को
श्रद्धा के दो सुमन चढा दूँ ऐसी पावन दैन नहीं हूँ।
जैन नही हूँ।
यों कहने को तो कहते हैं पर मेरे मन को
लगता है मैं जैन नहीं हूँ।

नेमीचंद जैन
गोद वाले, शिवपुरी

ध्यान योगी महावीर

रिषभदास रांका
उपाध्यक्ष, अ० भा० अणुव्रत समिति
संपादक, 'अणुव्रत' तथा 'जैन जगत'

"....जब आचार में आसक्ति का प्रवेश हो जाता है तब वह भी जड क्रिया बनकर साधन में बाधक बन जाती है। आज आचार पक्ष, क्रिया पक्ष पर इतना बल दिया जाने लगा है कि उसका हार्द जो मनः शुद्धि या जीवन शुद्धि था वह उसमें से निकल ही गया है। तभी हमारी मूर्तियां कषाय शमन में, चित्त-शुद्धि में सहायक न बनकर कषायवृद्धि करने वाली बन गई हैं। जिस अहं का नाश करने के लिए साधना की जाती है वही स्थान अहं भाव बढाने या अहकार प्रदर्शन के स्थान बन गए हैं। तपस्या दिखावा बन गई है। धर्माचरण भी प्रतिष्ठा के लिए किया जाने लगा है ......।"

लेखक के ये विचार साधकों के लिए कितने मननीय हैं कहने की आवश्यकता नहीं।

—सम्पादक

भगवान महावीर के जीवन के विषय मे जो सामग्री उपलब्ध है उसको हम अपने विकास की दृष्टि से देखना चाहे तो प्रथम उनके विषय मे जो अतिशयता की बातें कही गई है उन्हे छाटकर उनका क्या साध्य था और उसकी प्राप्ति के लिए उन्होने क्या साधना की थी, इस विषय मे गहराई म खोज करनी होगी। परम्परा से चली आई मान्यता छोड हमे उनके जीवन ध्येय तथा उसकी प्राप्ति के साधनो पर चिन्तन करना होगा।

यह कार्य आसान तो नही है। ढाई हजार वर्ष पहले जो ऐसा महान पुरुष हुआ जिसने आत्मविकास द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति की हो, जिसने लाखो नही करोडो के आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त किया हो और जो २५०० साल बीतने पर भी लाखो व्यक्तियो के जीवन विकास के मार्ग का मार्गद्रष्टा बना हुआ हो ऐसे महापुरुष के जीवन पर चमत्कारों का आवरण बने यह स्वाभाविक है। उसे मानव से भगवान मानकर हम उसमे चमत्कारो और शक्ति का आरोपण करें इसमे कोई अस्वाभाविकता नही है।

पर इस तरह की भक्ति न उनके प्रति न्याय करती है और न ही हमारा कल्याण ही कर सकती है। जिन्होने मनुष्य को कामनिक भक्ति से छुड़ाकर आत्मविकास के लिए अपने पुरुषार्थ और पराक्रम को बढाने का मार्ग

अपनाया हो और दीर्घ साधना के बाद यह सिद्ध किया हो कि अपने भाग्य का हे पुरुष, तू ही निर्माता है, अपना हित करने की शक्ति तुझ में ही है, तू ही अपना मित्र और तू ही अपना शत्रु है। उस स्वावलम्बन के पथ-प्रदर्शन के उपासक उसकी महान् देन को भूलकर कामनिक बनकर परावलबी बन जाय इससे बढ़कर आश्चर्य की और बात क्या हो सकती है ?

वे जिस समय भारत मे जनमे थे उस समय धर्म के नाम पर यहा कई ऐसी बातें चल रही थी जो अधर्म थी। उनसे मानव सुखी बनने का प्रयत्न कर रहा था पर वे बातें दुखो को बढ़ाने वाली ही थी। उस समय धर्म के नाम पर भगवान् को सतुष्ट कर उसकी कृपा प्राप्ति के लिए दूसरे जीवो की बलि यज्ञ रूप मे दी जाती थी। शूद्र और नारी का आत्मविकास के ऐवज मे बडो की सेवा ही धर्म माना जाता था। वर्णों मे ब्राह्मणों को ही ज्ञान पाने का अधिकार मान्य था। क्षत्रिय पर ही रक्षण का भार था। जाति सस्था का आधार लेकर उसे धर्म बताकर जो ज्ञानी थे, शक्तिशाली थे वे धर्म के नाम पर उन्हे अज्ञानी रखकर उनसे अपनी सेवा करवाते, पूजा करवाते। उन्हे परावलम्बी और दीन बनाने मे धर्म का उपयोग कर रहे थे। इस अज्ञान, विषमता और अन्याय का प्रतीकार करने के लिए, कल्याणकारी धर्म का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उन्होंने दीर्घ चिन्तन और साधना की थी। इतिहास मे कहा गया है कि यह साधना बारह साल से भी अधिक समय चली। इस बीच उन्हे न खाने की सुधि थी और न शरीर की चिन्ता। जिस साधना मे कठोर तप था और जिन्होंने उस साधना के बाह्य रूप को ही देखा वे उस दीर्घतप को ही साधना समझ बैठे। यह अस्वाभाविक नही था और न है।

भगवान महावीर के चरित्र मे स्थान स्थान पर ऐसा वर्णन मिलता है कि वे ध्यानलीन हो गए। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी साधना का हार्द ध्यान था और उस ध्यान ने दीर्घ तपस्या का प्रभाव शरीर पर न होने दिया हो यह सभव है।

भगवान महावीर ने अपने साधना काल मे जो तपस्या की वह बड़ी कठिन और दुष्कर थी। इतनी तपस्या के बावजूद उनमे ऐसी शारीरिक शक्ति थी जिससे उन्होने दुस्सह परिषह सहन किए। इसके लिए भक्तगण उनमे दैविक शक्ति का आरोपण करते हैं पर हमे इसका कारण उनका योग और ध्यान का होना अधिक युक्तिसगत लगता है और हमारे लिए यही बात अधिक उपयोगी लगती है। प्राण अन्नमय माना जाता है पर बिना अन्न के मनुष्य कुछ महिने तक जीवित रह सकता है लेकिन बिना वायु के तो चन्द मिनिट भी जीवित रहने के उदाहरण बिलकुल नही मिलेंगे, तथापि बिना वायु के योगियो के महिनो तक जीवित रहने के उदाहरण देखे जाते हैं अतः इस बात पर विश्वास न करने का कोई कारण नही कि भगवान महावीर ने भी महिनो तक बिना अन्न और जल के अपनी शारीरिक शक्ति बनाये रखी हो।

भक्त अपने भक्ति के आवेश मे अपने उपास्य देव मे अतिमानवी शक्ति का आरोपण कर अपने आपको उनकी जीवन साधना के अनुसरण के योग्य न रख कर उनसे मागने वाले दीन-भिखारी बना लेते है। यद्यपि भगवान महावीर के तत्व ज्ञान मे इस बात के लिए कही स्थान नही है तथापि पडौसी धर्मों के सस्कार जैना पर भी पडे और उन्होने भी महावीर के जीवन के अनुसरण से उन्हे दीनो का दयालु मानकर आत्मविकास के ऐवज मे उनकी कामनिक भक्ति कर याचना का मार्ग अपनाया और उन्हे मार्गद्रष्टा न मानकर भक्तो की कामना पूर्तिवाला, सबकी इच्छाओ को पूरी करने वाला उदारदाता बना लिया जिससे उनके साधना-पथ को समझकर उस पर चलने का पुरुषार्थ करने की अपेक्षा उनकी

दासता स्वीकार कर ली। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह आया कि भगवान महावीर की साधना अनुकरण की नही आश्चर्य की वस्तु बन गई। साधना पथ की खोज हमने नहीं की और हमारे बडे बड़े पडित भी उन्हे दीर्घ तपस्वी के रूप मे सम्बोधित करने लगे। भगवान महावीर की साधना का हार्द जहाँ ध्यान-योग था वहा उन्हे दीर्घ तपस्वी माना गया। इसमे हम विद्वानो का दोष नहीं मानते क्योकि वे तो भगवान महावीर के विषय मे जो उपलब्ध साहित्य आचार्यों द्वारा रचित पाया जाता है उसी के आधार पर वे भगवान महावीर के विषय मे कहते है और यह स्वाभाविक भी है। पर जब साधना की दृष्टि से कोई साधक भगवान महावीर के जीवन पर चिन्तन करता है तब उसका अधिक गहराई मे जाना आवश्यक हो जाता है। इस विषय मे साधको का ध्यान जाने लगा है और अब जैन दर्शन मे योग के महत्वपूर्ण स्थान की खोज भी होने लगी है।

प्रश्न उत्पन्न होता है आचार्यों ने योग की ओर दुर्लक्ष्य क्यो किया? बिना कारण इतनी बडी बात की ओर दुर्लक्ष्य करना उन महान् आचार्यों के लिए कि जिन्होने भगवान महावीर की विरासत पाई थी सम्भव नही माना जा सकता और जब हम गहरा चिन्तन करते हैं तो हमे वे कारण भी स्पष्ट होते हैं।

योग से सिद्धिया प्राप्त होती हैं और जैन आगमो मे ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त होने की चर्चा भी पाई जाती है। इन सिद्धियो की उपलब्धियो का उपयोग साधक आत्म-कल्याण के लिए न कर भौतिक और बाह्य सुख प्राप्ति के लिए करने लग जाय तो वह योग का दुरुपयोग है। इस-लिए चमत्कारपूर्ण सिद्धियो के दुरुपयोग को रोकने के लिए आचार्यों ने वैसा किया हो। (सिद्धियो के दुरुपयोग होने के उदाहरण भी प्राचीन साहित्य में मिलते हैं।) योग विद्या की अपेक्षा चारित्र्याचार पर अधिक बल दिया गया हो। जब तक योग का उपयोग चारित्र्य शुद्धि और जीवन शुद्धि के लिए किया जाता है तब तक वह साधना के लिए सहा-यक बनता है। वैसे ही जब आचार मे आसक्ति का प्रवेश हो जाता है तब वह भी जड क्रिया बनकर साधना में बाधक बन जाती है। आज आचार-पक्ष, क्रिया-पक्ष पर इतना अधिक बल दिया जाने लगा है कि उसका हार्द जो मनः शुद्धि या जीवनशुद्धि था वह उसमें से निकल ही गया है। तभी हमारी मूर्तिया कषाय शमन मे, चित्तशुद्धि मे सहायक न बनकर कषायवृद्धि करने वाली बन गई हैं। जिस ग्रह के नाश के लिए साधना की जाती है वही स्थान ग्रह भाव बढाने या अहकार प्रदर्शन के स्थान बन गये हैं। तपस्या दिखावा बन गई है। धर्माचरण भी प्रतिष्ठा के लिए किया जाने लगा है। जिससे मनुष्य धार्मिक बनने की अपेक्षा दिखने का दिखावा करने लगा है।

हमारी मूर्तियां हमे साधना के लिए प्रेरणा देने वाली थीं और वैसा ही उसका उपयोग भी था और है। हम मन्दिरो में जाकर निरूपाधिक उपासना करे उसका स्थान द्रव्य पूजा ने और उसके क्रिया काडो ने ले लिया है और मन्दिरो मे परिग्रह युक्त पूजा होने लगी है। पूजा के साधन भी निरूपाधिक नही रहे। इसलिए बीच बीच मे जब मन्दिरो की चोरियो के समाचार पढने मे आते हैं तब अपरिग्रही व निरूपाधिक भगवान से शिक्षा-ग्रहण कर अपरिग्रही होने के ऐवज मे हमने ही भगवान को भी परिग्रही बना दिया हो ऐसा दिखाई देता है, जो बडी दुःख की बात है।

हम जीवन साधना चाहते हो, उसके लिए यदि भगवान महावीर को मार्गदर्शक मानने हों तो उनकी मूर्तिया हमारी पथ-प्रदर्शक बन सकती हैं। ऐसे उपासक भगवान के आगी या मूल्यवान वस्तुओं के

प्रदर्शनों की अपेक्षा मूर्ति का आसन, मुद्रा और प्राणायाम की कौनसी अवस्था है इस बात को गहराई से खोजेगा।

चूंकि हम परम्परा से मन्दिरो मे जाते रहे और तीर्थयात्राएं भी करते रहे पर हमे भीड मे पूजा के समय मूर्ति के दर्शन करने की अपेक्षा जब मन्दिर मे भीड न हो तब शात समय मे जाकर ध्यान करने मे अधिक आनंद आता है। हमने देखा कि कई प्राचीन मूर्तिया इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। हमने देखा था कि इस दृष्टि से कुलपाक 'आंध्र' की मूर्ति विशेष आकर्षक तथा ध्यान के लिए उपयुक्त मालूम दी। अभी अभी वहा आचार्य तुलसी गए थे तब उनके विद्वान तथा साधना मे विशिष्ट योग्यता रखने वाले मुनि नथमलजी ने उस मूर्ति के विषय मे कहा कि-"इस मूर्ति की स्थिति आसन, मुद्रा और कुम्भक प्राणायाम युक्त दिखाई देती है।" इसलिए प्राचीन साहित्य को तरह ही हमारी प्राचीन मूर्तिया भी भगवान महावीर की योग साधना की खोज मे सहायक बन सकती हैं।

हमने इस विषय में समाज के विद्वानो का इस लेख द्वारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। वे भगवान महावीर के सम्बन्ध मे जो साहित्य उपलब्ध है उसमे अधिक खोजकर जिज्ञासुओं को उपलब्ध करावें। यह सामग्री आगम साहित्य, प्राचीन तथा मध्यकालीन आचार्यों के साहित्य मे, मूर्तियो तथा चित्रो मे मिल सकती है। लेकिन इस दिशा मे उन्ही साधको की खोज वि ष उपयोगी बन सकती है जो योग मे दिलचस्पी रखते हो तथा योग-साधना करते हो।

हमे आशा है कि समाज के चिन्तक, विद्वान् साधक तथा शोध कार्यकर्ता भगवान महावीर की साधना का हार्द योग के विषय मे अधिक खोजकर उसे जिज्ञासुओ के लिए उपलब्ध करने की दिशा मे प्रयत्नशील होगे और भगवान के इस महत्वपूर्ण किन्तु अपेक्षित क्षेत्र की ओर ध्यान देंगे।

"भिन्न धर्म तो एक ही तरह के बाड़े हैं। उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है उसे अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नहीं है।"

—रायचंद भाई

भगवान महावीर के साधक-जीवन के दो प्रेरक प्रसंग

भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित दो प्रेरक प्रसंग लेखिका ने अपनी सरस वाणी में यहां प्रस्तुत किये हैं। कहने की आवश्यकता नही कि सख्या दो के प्रसंग वाली घटना दिगम्बर साहित्य में अप्राप्य है लेकिन केवल इसी कारण उसका महत्व कम नही होता। यदि कोई वर्णन शिव और सुन्दर है तो शास्त्रकारों ने उसे काल्पनिक होते हुए भी सत्य की कोटि में गिना है। साम्प्रदायिक ग्रह को त्याग पाठक, आशा है इन प्रसंगों से प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

—सम्पादक

श्रीमती शान्ता भानावत
एम० ए०

: १ :

विष से अमृत की ओर

श्वेताम्बिका नगरी के उपवन मे एक भयानक सर्प रहता था। जनता उससे बडी आतंकित एव भय-त्रस्त थी। कोई भी दिन ऐसा न निकलता जिस दिन किसी न किसी प्राणी को उसका कोप-भाजन न बनना पडता।

उपवन के जिस मार्ग मे सर्पराज रहता था वही एक मुख्य मार्ग था जिससे होकर आसपास के गावो के लोग नगरी मे अपनी जीविकोपार्जन हेतु आते-जाते थे। जो भी उस मार्ग से निकलता वह फिर सक्षेम घर नही पहुँचता।

श्रमण भगवान महावीर विचरण करते हुए उधर आये। सर्पराज की भयकरता के समाचार सुनकर भी वे उसी मार्ग की ओर अग्रसर हो गये जिस मार्ग पर अनेको नरनारियो को चण्डकौशिक नाग का कोप-भाजन बनना पडा। भगवान महावीर को उसी रास्ते देख सभी नरनारियों ने अनुनय विनय की कि हे देव! आप इस रास्ते विचरण न करें पर उन्होने किसी की बात नही मानी और उसी रास्ते पर चल दिये। नागराज चण्डकौशिक ने जब उन्हे अपनी ओर

आते देखा तो उसके क्रोध की सीमा न रही। वह सोचने लगा—यह साधु कितना मन्द-बुद्धि है। चारो ओर पड़े नरमुन्डो पर गिद्ध और चीलो को मडराते देख कर भी अपने मन मे तनिक भी भयभीत नही हो रहा है। इसको मेरे पास आने दो। मै इसे एक क्षण में ही निगल जाऊँगा।

भगवान महावीर चारो ओर पड़े नरमुण्डो को देख ससार की नश्वरता सोचते-विचारते अपने ध्यान में लीन हो चले आ रहे थे। उनके मन में तनिक भी भय नही था। वे तो नया जीवन-बोध देकर उसके जीवन को दिशा बदलना चाहते थे।

ज्यो-ज्यो भगवान महावीर उसके निकट पहुँच रहे थे त्यो-त्यो उसका क्रोध बढ़ता जा रहा था। ज्योंही भगवान उसके पास पहुँचे वह जोरों से फुत्कार उठा। पर वे भला कब डरने वाले थे। चण्डकौशिक ने सोचा-अरे यह तो अपने आपको बडा बहादुर समझ रहा है। मेरी फुत्कार से जरा कापा भी नही। इसे अब अपना चमत्कार बताता हूँ। यह सोच उसने उनके अगूठे को जा डसा। पर महावीर तो किंचित भी विचलित नही हुए। उनके धैर्य को देख चण्डकौशिक के क्रोध को सीमा न रही। उसने पूरे जोर के साथ उनके शरीर को जगह-जगह से काट दिया। खून की धारायें बहने लगी। उन्होंने घबराने के बजाय निश्चल भाव मे कहा चण्डकौशिक शान्त हो, जरा अपने पूर्व जन्म को याद करो—तुम मुनि थे मुनि! शिष्य पर क्रोध करने से तुम्हारी यह गति हुई है। तुमने सर्प जैसी योनि प्राप्त की है। इस सर्प योनि मे भी तुम अपने अहकार को नही छोड रहे हो? अपने अह मे ही पागल हो रहे हो कितने निरपराध जीवो को तुमने काल के गाल उतार दिया।

भगवान महावीर का शात उपदेश सुनकर चण्डकौशिक को जाति-स्मरण हो गया। उसके उपलब्ध होते ही उसे अपने द्वारा किये गये कुकृत्यो पर अत्यधिक ग्लानि होने लगी। फलस्वरूप उसने अपना विषैला स्वभाव छोड़ भगवान के निकट ही कायोत्सर्ग कर लिया।

चण्डकौशिक के इस व्यवहार का लोगों को जब पता चला तो वे सर्पराज के खाने-पीने लिए दूध तथा अन्य पदार्थ ले गये। चण्डकौशिक ने तो भगवान का उपदेश सुन अपने क्रोध जनित दुष्कृत्यो पर पश्चात्ताप कर अनशन व्रत धारण कर लिया था। उसने गाव के लोगो द्वारा लाये गये किसी पदार्थ को छूना तो दूर रहा सू घा तक नही। दूध और चीनी के कारण हजारो चीटियाँ चण्डकौशिक के चारो ओर लिपट गई। उसने समभाव पूर्वक इस दारुण दुख को सहन करते हुए अपने प्राण त्याग दिए।

धन्य है उसका यह आत्मसयम और क्षमा भाव।

: २ :

न पीड़ा न प्रसन्नता

तपःपूत भगवान महावीर जगल मे आत्म-चिन्तन मे लीन खड़े थे। कायोत्सर्ग की इस मुद्रा मे वे अपने आपको भुला चुके थे। उन्हे न ससार का भान था न शरीर का ही, न उन्हे भूख सता रही थी और न प्यास ही, न सूर्य की तेज गर्मी उनके ध्यान मे बाधा पहुँचा रही थी और न लू के दग्ध थपेड़े ही उन्हे अपने मार्ग से विचलित कर रहे थे। वे तो एकान्त भाव मे खड़े-खड़े आत्मा-परमात्मा के मिलन का आनन्द ले रहे थे।

इतने मे एक ग्वाला अपने बैलो की जोडी चराता हुआ उधर से आ निकला। चिलचिलाती धूप में खड़े महावीर पर उसकी दृष्टि पडी। उसने सोचा-अरे यह साधु कितना बेसमझ है। इस तेज

धूप मे खड़ा-खड़ा व्यर्थ ही अपनी काया तपा रहा है। चारों ओर कितने सघन छायादार वृक्ष हैं; इनके नीचे आकर क्यो नहीं बैठ जाता? ग्वाले ने साधु को आवाज देकर छाया मे बैठने को कहा पर मुनि तो अपने ध्यान मे मग्न थे। उन्हे कुछ भी सुनाई नही दिया।

ग्वाला सोचता रहा यह साधु यही जंगल में ही तो खडा है। यह मेरे बैलो का ध्यान रख लेगा। क्यो न मैं अपने खेत पर जाकर थोडा काम कर आऊँ। इस विचार के साथ ही उसने साधु से कहा–तुम खडे-खड़े मेरे बैलो का भी ध्यान रखना। ये कही इधर-उधर न चले जायँ। मैं थोड़ी देर मे अपना काम पूरा कर आ ही रहा हूँ।

प्रभु मौन थे। ग्वाला उनकी मौन स्वीकृति समझ बैलो को वही छोड़कर चला गया। थोडी देर मे लौटा तो वहाँ अपने बैलो को न देख वह आग बबूला हो गया। उसने सोचा–यह साधु नही, कोई भेषधारी ठग मालूम पड़ता है। इसने मेरे बैलों को कहीं उडा दिया है। अब मैं क्या करूँ? मेरे जीवन का वही तो एक सहारा था।

ग्वाला मुनि को झंझोड-झंझोड कर बार-बार पूछने लगा–मेरे बैल बताओ, पर मुनि तो निर्द्वन्द्व भाव से अपने ध्यान में मग्न थे।

उनसे कोई उत्तर न पाकर ग्वाले ने पास में ही पड़े लोहे के कीले उठा लिये और ठोक दिये उनके कानों मे। महावीर इस कष्ट को कर्म-निर्जरा समझ कर सम भाव से सहन करते रहे। उफ तक नही किया। इधर कुछ देर बाद ही बैल सहज भाव से चरते-चरते वापस आ गये।

अब ग्वाले को वस्तुस्थिति समझने में कुछ भी विलम्ब न लगा। वह अपने किये पर पछताने लगा। पर महावीर तो निर्विकार भाव से ध्यानमग्न थे। न उन्हे ग्वाले की क्रोधाग्नि से पीड़ा हुई न आत्म-ग्लानि से प्रसन्नता।

❁

"अपनी बुराइयों और कमजोरियों को हम जितना जानते हैं उतना और कोई नहीं जानता; फिर भी दूसरे लोग हमें उतना महान् नहीं समझते जितना हम अपने आपको समझते हैं।

—फ्रेंक बी० शोएफन

वीर वन्दना

घासीराम जैन 'चंद्र' शिवपुरी

मरण हरण शिव वरण तरुण तन, यौवन की अरुणाई में,
त्याग धरनि धन-धाम चले तुम, धन्य-धन्य तरुणाई में।
धन्य धरा हो गई धर्म से. पावन तम त्रैलोक हुआ,
अन्तरतम का अन्धकार हर नवनूतन आलोक हुआ।

परम पुनीत पूज्य पद रज से जो पथ परम पुनीत हुआ,
पाकर पवन परस पथगामी पावन धन्य प्रतीत हुआ।
कोटि चरण चलते उस मग से जिधर चरण पड जाते थे,
कोटि नयन अड़ते उस मग में जिधर नयन गड़ जाते थे।

रति रम्भा के रूप अनूपम यौवन ममता भृकुटि विलास,
मोहन मन्त्र मनोभव के भव डाल न पाये थे भव-पाश।
करम-निकंदन जगवदन तुम प्रियकारिणि-नदन अभिराम,
कुण्डलपुर के कनक भवन को त्याग बनायो निर्जन धाम।

सेज शिला बन गई सहचरी समता से कर प्रीति पुनीत,
दशों दिशायें अम्बर पावन क्षमा शस्त्रबल हरण कुनीति।
मृगकुल मित्र मडली मजुल शशि किरनावलि दीपक माल,
दुर्धर तप द्वादश विधि भोजन भेद ज्ञानमय नीर रसाल।

तुम आये भू तल पर ज्योतित ज्ञानभानु अवतरित हुआ,
तुम आये तो जीव दया का उपवन पावन हरित हुआ।
हिंसक जन की लोलुपता से अगनित प्राण बचाये हैं,
पावनता मृदुता मानवता से नव हृदय सजाये है।

आवो 'चन्द्र' विश्व मानस के हिंसक बंधन को खोलो,
विश्व शांति के परम प्रणेता महावीर की जय बोलो।
ज्ञानामृत पूरित अमृत-घट पियो विश्व को पीने दो,
प्रेम प्रवाह बहाकर तुम खुद जियो विश्व को जीने दो।

महावीर की क्रान्ति और उसकी पृष्ठभूमि

> भगवान् महावीर ने बताया—
> "... ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। वह तो स्वयं में स्वतंत्रता, मुक्त, निर्लेप, निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी कषायों-क्रोध, मान माया और लोभ को त्याग दे। ...."

डॉ० नरेन्द्र भानावत
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग, राज० विश्वविद्यालय

वर्धमान महावीर क्रांतिकारी व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। उनमें स्वस्थ समाज निर्माण और आदर्श व्यक्ति-निर्माण की तड़प थी। यद्यपि स्वयं उनके लिये समस्त ऐश्वर्य और वैलासिक उपादान प्रस्तुत थे तथापि उनका मन उनमें नही लगा। वे जिस बिन्दु पर व्यक्ति और समाज को ले जाना चाहते थे, उसके अनुकूल परिस्थितिया उस समय न थी। धार्मिक जडता और अन्ध श्रद्धा ने सबको पुरुषार्थ रहित बना रखा था, आर्थिक विषमता अपने पूरे उभार पर थी। जाति-भेद और सामाजिक वैषम्य समाज-देह मे घाव बन चुके थे। गतानुगतिकता का छोर पकड कर ही सभी चले जा रहे थे। इस विषम और चेतना रहित परिवेश मे महावीर का दायित्व महान् था। राजघराने में जन्म लेकर भी उन्होने अपने समग्र दायित्व को समझा। दूसरो के प्रति सहानुभूति और सदाशयता के भाव उनमे जगे और एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व के रूप में वे सामने आये, जिसने सबको जागृत कर दिया, अपने-अपने कर्त्तव्यो का भान करा दिया और व्यक्ति तथा समाज को भूलभुलैया से बाहर निकाल कर सही दिशा-निर्देश ही नहीं किया वरन् उस रास्ते का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

परिवेश के विभिन्न सूत्रो को वही व्यक्ति पकड सकता है जो सूक्ष्म द्रष्टा हो; जिसकी वृत्ति निर्मल, स्वार्थ रहित और सम्पूर्ण मानवता के

हितों की संवाहिका हो। महावीर ने भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श किया था पर एक विचित्र प्रकार की रिक्तता का अनुभव वे बराबर करते रहे, जिसकी पूर्ति किसी बाह्य साधना से संभव न थी। वह आंतरिक चेतना और मानसिक तटस्थता से ही पाटी जा सकती थी। इसी रिक्तता को पाटने के लिए उन्होंने घर-बार छोड़ दिया, राज-वैभव को लात मार दी और बन गये अटल वैरागी, महान् त्यागी, एकदम अपरिग्रही निस्पृही।

उनके जीवन दर्शन की यही पृष्ठभूमि उन्हें क्रांति की ओर ले गई। उन्होंने जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों को जड, गतिहीन और निष्क्रिय देखा। वे सबमें चेतनता, गतिशीलता और पुरुषार्थ की भावना भरना चाहते थे। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र में उन्होंने जो क्रान्ति की, उसका यही दर्शन था।

धार्मिक क्रांति:—

महावीर ने देखा कि धर्म को लोग उपासना की नहीं प्रदर्शन की वस्तु समझने लगे हैं। उसके लिए मन के विकारों और विभावों का त्याग आवश्यक नहीं रहा, आवश्यक रहा यज्ञ में भौतिक सामग्री की आहुति देना, यहां तक कि पशुओं का बलिदान करना। धर्म अपने स्वभाव को भूल कर एकदम क्रिया काड बन गया था। उसका सामान्यीकृत रूप विकृत होकर विशेषाधिकार के कठघरे में बन्द हो गया था। ईश्वर की उपासना सभी मुक्त हृदय से नहीं कर सकते थे। उस पर एक वर्ग का एकाधिपत्य सा हो गया था। उसकी दृष्टि सूक्ष्म से स्थूल और अन्तर से बाह्य हो गई थी। इस विषम स्थिति को चुनौती दिये बिना आगे बढ़ना दुष्कर था। अतः भगवान महावीर ने प्रचलित धर्म और उपासना पद्धति का तीव्र शब्दों में खंडन किया और बताया कि ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। वह तो स्वयं में स्वतंत्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी कषायों-क्रोध, मान, माया, लोभ को त्याग दे।

धर्म के क्षेत्र मे उस समय उच्छृङ्खलता फैल गई थी। हर प्रमुख साधक अपने को तीर्थङ्कर मान कर चल रहा था। उपासक की स्वतत्र चेतना का कोई महत्व नही रह गया था। महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म-साधक ईश्वर को प्राप्त ही नही करे वरन् स्वय ही ईश्वर बन जाय। इस भावना ने असहाय निष्क्रिय जनता के हृदय मे शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-बल का तेज भरा। वह सारे आचरणों को भेद कर, एक बारगी उठ खडी हुई। अब उसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए परमुखापेक्षी बन कर नही रहना पडा। उसे लगा कि साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यो-ज्यो साधक तप, सयम अहिंसा को आत्मसात् करता जायगा त्यो-त्यो वह साध्य के रूप मे परिवर्तित होता जायगा। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र से दलालो और मध्यस्थो को बाहर निकाल कर, महावीर ने सही उपासनापद्धति का सूत्रपात किया।

सामाजिक क्रान्ति:—

महावीर यह अच्छी तरह जानते थे कि धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो नयी जीवन-दृष्टि मिलेगी उसका क्रियान्वयन करने के लिए समाज के प्रचलित रूढ़ मूल्यों को भी बदलना पड़ेगा। इसी सन्दर्भ मे महावीर ने सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। महावीर ने देखा कि समाज में दो वर्ग हैं। एक कुलीन वर्ग जो कि शोषक है, दूसरा निम्न वर्ग जिसका कि शोषण किया जा रहा है। इसे रोकना

होगा। इसके लिए उन्होंने अपरिग्रह-दर्शन की विचारधारा रखी जिसकी भित्ति पर आगे चल कर आर्थिक क्रांति हुई। उस समय समाज में वर्ण-भेद अपने उभार पर था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जो अवतारणा कभी कर्म के आधार पर सामाजिक सुधार के लिए, श्रम विभाजन को ध्यान मे रखकर की गई थी, वह आते-आते रूढ़िग्रस्त हो गई और उसका आधार अब जन्म रह गया। जन्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने लगा। फल यह हुआ कि शूद्रो की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। नारी जाति की की भी यही स्थिति थी। शूद्रो की और नारी जाति की इस दयनीय अवस्था के रहते हुए धार्मिक-क्षेत्र मे प्रवर्तित क्रांति का कोई महत्व नही था। अत. महावीर ने बडी दृढता और निश्चितता के साथ शूद्रो और नारी जाति को अपने धर्म मे दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नही होता, कर्म से ही सब होता है। हरिकेशी चाडाल के लिए, सद्दाल पुत्र कुम्भकार के लिये, चन्दनबाला (स्त्री) के लिए उन्होने अध्यात्म साधना का रास्ता खोल दिया।

आदर्श समाज कैसा हो ? इस पर भी महावीर की दृष्टि रही। इसीलिये उन्होंने व्यक्ति के जीवन मे व्रत-साधना की भूमिका प्रस्तुत की। श्रावक के बारह व्रतो मे समाजवादी समाज रचना के अनिवार्य तत्व किसी न किसी रूप मे समाविष्ट हैं। निरपराधी को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार सतोष के प्रकाश मे काम भावना पर नियंत्रण रखना, आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना, व्यय-प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन मे समता, संयम तप और त्याग वृत्ति को विकसित करना-इस व्रत-साधना का मूल भाव है। कहना न होगा कि इस साधना को अपने जीवन मे उतारने वाले व्यक्ति, जिस समाज के अंग होंगे, वह समाज कितना आदर्श, प्रगतिशील और चरित्रनिष्ठ होगा। शक्ति और शील का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह सुन्दर सामंजस्य ही समाजवादी समाज-रचना का मूलाधार होना चाहिये। महावीर की यह सामाजिक क्रांति हिंसक न होकर अहिंसक है, संघर्षमूलक न होकर समन्वय-मूलक है।

आर्थिक क्रांतिः—

महावीर स्वय राजपुत्र थे। धन-सम्पदा और भौतिक वैभव की रगीनियो से उनका प्रत्यक्ष संबध था। इसीलिये वे अर्थ की उपयोगिता को और उसकी महत्ता को ठीक-ठीक समझ सके थे। उनका निश्चित मत था कि सच्चे जीवनानद के लिये आवश्यकता से अधिक संग्रह उचित नहीं। आवश्यकता से अधिक सग्रह करने पर दो समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। पहली समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति से है, दूसरी का समाज से। अनावश्यक सग्रह करने पर व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अग उस वस्तु विशेष से वचित रहता है। फलस्वरूप समाज मे दो वर्ग हो जाते हैं—एक सम्पन्न, दूसरा विपन्न; और दोनो मे संघर्ष प्रारम्भ होता है। मार्क्स ने इसे वर्ग संघर्ष की सज्ञा दी है। और इसका हल हिंसक क्राति मे ढूंढा है। पर महावीर ने इस आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए अपरिग्रह की विचारधारा रखी है। इसका सीधा अर्थ है-ममत्व को कम करना, अनावश्यक संग्रह न करना। अपनी जितनी आवश्यकता हो, उसे पूरा करने की दृष्टि से प्रवृत्ति को मर्यादित और आत्मा को परिष्कृत करना जरूरी है। श्रावक के बारह व्रतों मे इन सबकी भूमिकाएं निहित है। मार्क्स की आर्थिक क्राति का मूल आधार भौतिक है, उसमे चेतना को नकारा गया है जबकि महावीर की यह आर्थिक क्रान्ति चेतनामूलक है। इसका केन्द्र-बिन्दु कोई जड़ पदार्थ नहीं वरन् व्यक्ति स्वयं है।

बौद्धिक क्रांति:—

महावीर ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन तत्व अपने में पूर्ण होते हुए भी वह कई अंशों की अखण्ड समष्टि है। इसीलिये अंशो को समझने के लिए अंश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अंश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अंशी को उसके सर्वाङ्ग सम्पूर्ण रूप मे नहीं समझ सकेंगे। सामान्यतः समाज में जो झगडा या वाद-विवाद होता है, वह दुराग्रह, हठ वादिता और एक पक्ष पर अड़े रहने के ही कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कही न कही सत्यांश निकल आयेगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरफ से न देख कर, उसे चारो ओर से देख लिया जाय फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस बौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने स्यादवाद या अने-कात दर्शन कहा। आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद इसी भूमिका पर खडा है। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद को ज्ञान, और भक्ति के झगडे को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा की और विचार में अनेकांत की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी क्रांति मूलक दृष्टि को व्यापकता दी।

इन विभिन्न क्रातियो के मूल में महावीर का वीर व्यक्तित्व ही सर्वत्र झाकता है। वे वीर ही नही, महावीर थे। इनकी महावीरता का स्वरूप आत्मगत अधिक था। उसमे दुष्टो से प्रतिकार या प्रतिशोध लेने की भावना नही वरन् दुष्ट के हृदय को परिवर्तित कर उसमे-मानवीय सद्गुणो-दया, प्रेम, ममता, करुणा आदि को प्रस्थापित करने की स्पृहा अधिक है। चण्डकौशिक के विष को अमृत बना देने मे यही मूल प्रवृत्ति रही है। महावीर ने ऐसा नही किया कि चण्डकौशिक को ही नष्ट कर दिया हो। उनकी वीरता मे शत्रु का दमन नही, शत्रु के दुर्भावो का दमन है। व बुराई का बदला बुराई से नहीं बल्कि भलाई से देकर बुरे व्यक्ति को ही भला मनुष्य बना देना चाहते हैं। यही अहिंसक दृष्टि महावीर की क्राति की पृष्ठभूमि रही है।

⊙

"मनुष्य को पाप का आकर्षण शहद की तरह होता है, पर वह शहद ऐसा है तो तीक्ष्ण तलवार की धार के लिपटा हो : किन्तु जो लोग पाप के परिणाम को देख लेने के बाद ही उसकी बुराई पर विश्वास करते हैं वे बहुत बड़े धोखे में हैं। पाप केवल इस लिये बुरा नहीं है कि उसका नतीजा बुरा है; वस्तुतः वह स्वतः ही बुरा है।"

— चैनसुखदास

भगवान महावीर और उनकी उपासना

"........लौकिक सुख की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति भगवान् महावीर का उपासक नही हो सकता। वह तो मात्र पंथ व्यामोह से ही महावीर की उपासना करता है, वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।...."

आज जब नये-नये चामत्कारिक तीर्थों का समाज में प्रादुर्भाव हो रहा है तथा वहा समाज का पैसा पानी की तरह बहाया जा रहा है, लेखक जो कि सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवच.कार एव विचारक हैं, की ये पंक्तियां अवश्य ही पाठकों को इस ओर सोचने, समझने और विचारने की ओर प्रेरित करेंगी ऐसी आशा है।

—सम्पादक

★

पं० हुकमचन्द शास्त्री
न्यायतीर्थ, एम० ए०,
टोडरमल स्मारक, जयपुर

जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ पद को प्राप्त करता है, वह भगवान (परमात्मा) कहलाता है। अरहत और सिद्ध ही ऐसे पद हैं अतः उक्त पदो को प्राप्त पुरुष ही परमात्मा (भगवान) शब्द से अभिहित किये जाते है। अरहंतो मे तीर्थंकर अरहत और सामान्य अरहन्त ऐसे दो प्रकार के होते हैं। वर्तमान काल में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकरो मे अन्तिम तीर्थंकर अरहंत भगवान् महावीर थे।

भगवान महावीर के अनुसार परमात्मा पर का कर्ताधर्ता न होकर मात्र ज्ञाता दृष्टा होता है तथा परमात्मा के उपासक (भक्त) की दृष्टि (मान्यता) में पर मे कर्तृत्व बुद्धि नहीं होती। जब तक पर मे फेरफार करने की बुद्धि (रुचि) रहेगी तब तक उसकी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि नही कहा जा सकता है। वीतरागी परमात्मा का उपासक (भक्त) भी वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकाक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी भगवान महावीर का उपासक नही हो सकता। वह तो मात्र पथ व्यामोह से ही महावीर की उपासना करता है, वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगो का उपासक है।

भगवान का सच्चा स्वरूप न समझ पाने के कारण आज की उपासना

में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं। अब हम मूर्तियो में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और चमत्कार को नमस्कार की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और जिस मन्दिर के साथ चामत्कारिक कथायें जुड़ी पाते हैं, उन मूर्तियो के समक्ष और उन मन्दिरों में भक्तो की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, सतानादि की प्राप्ति की कल्पनायें प्रसारित है वहा तो खड़े होने को स्थान तक नहीं मिलता। शेष मन्दिर खडहर होते जा रहे हैं और वहा की मूर्तियो की धूल साफ करने वाला भी दिखाई नही देता।

एक भगवान महावीर की हजारो मूर्तिया हैं और उन सब मूर्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक-पृथक मन्दिरो मे पृथक-पृथक मूर्तियो के माध्यम से पूजे जाने वाले महावीर पृथक-पृथक नही हैं वरन् एक हैं। भगवान महा-वीर अपनी वीतरागता एव सर्वज्ञता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारो और सतान धनादि देने के कारण नही। जो महान् आत्मा स्वय धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना रत हुआ हो, उससे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है। उनको भोगादि का देने वाला कहना उनको वीतरागता की मूर्ति को खडित करना है।

एक तो महावीर प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते नही है और न अप्रसन्न होकर किसी का बिगाड ही करते है, दूसरे यदि भोले जीवो की कल्पनानुसार उन्हे सुख दुख देने लेने वाला भी मान लिया जाय तो भी यह समझ मे नही आता कि अपनी अमुक मूर्ति की पूजा के माध्यम से ही वे कुछ देते हो, अन्य की पूजा के माध्यम से नहीं। यदि यह कहा जाय कि वे तो कुछ नहीं देते पर उनके उपासक को सहज ही पुण्य बध होता है तो क्या अमुक मूर्ति के सामने पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बधेगा, अन्य मन्दिरो मे या अन्य मूर्तियो के सामने नही।

उक्त प्रवृत्ति के कारण हमारी दृष्टि, मूर्ति के माध्यम से जिसकी पूजा की जाती है, उस महावीर से हटकर मूर्तिमात्र पर केन्द्रित हो गई है और हम यह भूलते जा रहे हैं कि वस्तुतः हम मूर्ति के नही, मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान (वीतरागी सर्वज्ञ भगवान) के पुजारी है। यह सब क्यो और कैसे हुआ ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जब ज्ञान की अपेक्षा क्रिया काड को मुख्यता दी जाने लगती है तब इस प्रकार की प्रक्रिया उत्पन्न होने लगती है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने चरित्र को सम्यक-ज्ञान पूर्वक ही कहा है। अज्ञान पूर्वक की गई कोई भी प्रक्रिया धर्म नही कहला सकती है। कहा भी है-

बहुविध क्रिया कलेश सों, शिव पद लहे न कोय।
ज्ञान कला परकाश तें, सहज मोक्ष पद होय।

× × ×

धने मुख जो दीजिये एक अक नहीं होय।
त्यो किरिया बिन ज्ञान के, थोथो जानो सोय॥

भगवान को सही रूप मे पहिचाने बिना उनकी उपासना सही अर्थों मे नही की जा सकती है। अत. सबसे पहिले उपासक को परमात्मा (भगवान) का स्वरूप अच्छी प्रकार समझना चाहिये। परमात्मा वीतरागी एव पूर्ण ज्ञानी होता है। अतः उसका उपासक भी पूर्ण ज्ञानी एव वीतरागता का उपासक होना चाहिये। विषय कषाय का अभिलाषी वीत-रागी का उपासक हो ही नही सकता। कहा तो हम बोलते हैं—

इन्द्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयो मे नाहि लुभाऊँ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निज पद दीजै॥

और कहाँ विषयादिक की कामना पूर्ति हेतु महा-वीर की उपासना करें-यह कहा तक तर्क संगत है। "गुणेषु अनुरागः भक्तिः" गुणो मे अनुराग को भक्ति कहते हैं। जब तक हम परमात्मा के गुणो को पहिचानेंगे नही, उनके अभिलाषी कैसे होंगे, उनके

प्रति हमारा अनुराग कैसे होगा। परमात्मा का सच्चा भक्त सिर्फ परमात्म पद चाहता है, अन्यत्र उसकी रुचि नहीं होती। अतः हमे भगवान के उपासक कहलाने के पूर्व एक बार अपनी उपासना प्रवृत्ति की स्थिति पर विचार करना होगा और कारणवश आई हुई इन कुप्रवृत्तियो को अपनी उपासना पद्धति से अलग करना होगा। यदि हम सामाजिक स्तर पर उन वीतरागता विरोधी प्रवृत्तियो को नही हटा सकते तो इनसे अपने आपको तो बचा ही सकते हैं।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान की भक्ति से क्या लौकिक सुख नही मिलता है? बात यह है कि वीतरागता के उपासक ज्ञानी भक्त की लौकिक सुख मे रुचि ही नही होती, पर शुभभाव होने से पुण्य बध अवश्य होता है और तदनुकूल सुख (भोग) सामग्री भी प्राप्त होती है पर भगवान महावीर के उपासक की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं तथा विषयाभिलाषा से की गई भगवान की भक्ति राग की तीव्रता और भोगो की अभिलाषा से युक्त होने से पुण्य बंध का कारण भी नहीं होती क्योकि भोगाभिलाषा एवं रागभाव तो पापभाव हैं।

उक्त सम्पूर्ण बात कहने से मेरा अभिप्राय यह नही है कि आप भगवान महावीर की उपासना करना ही छोड दें बल्कि मैं चाहता हूं कि आप भगवान महावीर के सच्चे अर्थों मे उपासक बनें, उनके स्वरूप को समझें व उनकी उपासना के हेतु को समझकर सही रूप दें, वीतरागता और आत्म-ज्ञान की पूर्णता ही हमारा प्राप्तव्य बने, तभी हम वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान महावीर के सच्चे उपासक कहलाने के अधिकारी होगे।

"जनता पर केवल चारित्र का ही प्रभाव पड़ सकता है। जनता तर्क नहीं करेगी। वह केवल यह जानने का प्रयत्न करेगी कि उनके पास जाने वाला व्यक्ति कौन है? यदि उनका कोई स्थान होगा तो जनता उनका आदर करेगी और यदि वे प्रभावहीन हुए तो जनता उनकी एक बात भी नहीं सुनेगी।"

—महात्मा गांधी

राग रामकली–ताल त्रिताल

चेतन तू तिहु काल अकेला ।

नदी नाव संजोग मिले ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ।।१।।

यह संसार असार रूप सब, ज्यों पट पेखन खेला ।

सुख सपति शरीर जल बुद-बुद, बिनसत नाहीं बेला ।।२।।

मोह मगन आतम गुन भूलत, परी तोहि गल जेला ।

मैं मैं करत चहूँ गति डोलत, बोलत जैसे छेला ।।३।।

कहत बनारसि मिथ्या मति तज, होइ सुगुरु का चेला ।

तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला ।।४।।

—महाकवि बनारसीदास

महावीर की भय-विषयक दृष्टि

जमनालाल जैन
सारनाथ, वाराणसी

"संसार इसलिये दुःखमय है कि हर मनुष्य अपने-अपने घेरे में आबद्ध है। घेरा तोड़कर व्यापक बनाया जाय तो दुःख काफूर हो जाय। घेरे वाला ही तो कहता है, 'मुझे किसी और से क्या मतलब ?' ऐसी स्वकेन्द्रित वृत्ति ही दुःख की जड है। जो व्यक्ति अपनी ही अपनी सोचता है उससे सभी लोग मुँह मोड लेते हैं। जिसे कोई नहीं चाहता उसके लिये यह ससार दुःखमय ही होगा। लोगों के काम आना, उन्हें अपना मानना, हर हाल में खुश रहना सीखिये और फिर देखिये यह ससार सुखमय कैसे बन जाता है।........"

१—किं भया पाणा समाउणो ?

-श्रमणो, प्राणियो को भय किस बात का है।

भय जन्म-जात नही होता। वह आस-पास के वातावरण और आकांक्षाओ मे ही पैदा होता है। बालक निर्भय होता है। वह आग और पानी, साप और रस्सी, जहर और अमृत को एक समझता है। उसका स्वभाव निश्छल और निर्द्वन्द्व होता है। उसके रोम-रोम से पवित्रता टपकती है। भय तो उसमे धीरे-धीरे पैदा होता रहता है।

बहादुर और शूरवीर भी भय के पुतले नजर आते हैं। बडे-से-बड़े योद्धा भी डरपोक ही होते हैं। हथियारो का सहारा अपने बचाव के लिए ही लिया जाता है। दूसरो को डराने का साधन जुटाकर भीतर-ही-भीतर भय और भारी होता रहता है। हथियारो के बल को आदमी अपना ही बल समझने लगता है। वह नहीं समझता कि वह ताकतवर नहीं, कमजोर ही बनता जाता है।

भय-वृक्ष के अनगिनत डाल-पात हैं। आसक्ति और अभिमान उसकी जडें हैं। दो-चार नहीं, अनगिनत आसक्तियो मे मनुष्य बंधा है। इसी तरह अनेक प्रकार के अभिमानो को आदमी पाल-पोस कर हरियाता रहता है। आसक्ति और अभिमान की सुरक्षा के लिए नाना उपाय किए जाते हैं।

जो डरता है, वह डरायेगा भी। डरने-डराने वाला हिंसा और झूठ से नहीं बच सकता। डरपोक ही अपनी हत्या (आत्महत्या) करने पर उतारू होता है।

आग-पानी, आंधी-तूफान या खतरनाक परिस्थितियों से घबराना भी है तो डर ही, फिर भी किसी हद तक यह डर सबमे होता है। यद्यपि इसमे भी आसक्ति और निर्बलता छिपी ही रहती है। लेकिन अनगिनत भय तो ऐसे हैं जिन्हे हम अपने आप पैदा करते हैं उनको लादे फिरते हैं। प्रतिष्ठा का डर, व्रत का डर, बात का डर और लोक-लाज का डर ऐसे ही हैं। और तो और मनुष्य ने ईश्वर का डर और कर्म-काण्डी धर्म का भी डर खड़ा कर लिया है। कहा जाता है कि घट-घट मे साईं रमता है, पर शायद वहां भय ही होता है। जैसे कानून और पुलिस का भय, वैसा ही है यह ईश्वर का भय। कानून और पुलिस के रहने हुए समाज की बुराइया नही मिटी और ईश्वर का नाम जपने हुए भी मन निर्भय नहो बना। भय के पेड से अभय और आनन्द के फल की आशा रखना कांटा बो कर आम पाने जैसी बात है।

भय पैदा होता है—"नहीं" को "है" मानने से। अपने और अपने परिवार के भविष्य की चिन्ताएँ करके, कल्पनाएँ करके मनुष्य कुछ ऐसे आयोजन करता है कि वह औरो से भिन्न या दूर पडता जाता है। उसके कुछ स्वप्न होते हैं, आकाक्षाएँ होती हैं। उनकी पूर्ति के लिए वह ऐसे कर्म करता है, जो उसे बराबर भयभीत बनाये रखते हैं। इस प्रकार के भयो मे मुक्त होने के लिए तरह-तरह के देवो-देवता, स्वर्ग-नर्क खडे किए गये। लेकिन इनसे भी भय को पानी मिलता गया।

बच्चे निर्भय होकर खेलने-कूदते है, शोर-गुल करते हैं तो हम समझते हैं कि वे हमारी शांति मे बाधा डालते है और उन्हे चुप करने के लिए उनके सामने भय का भूत खडा कर देते हैं। वे उसकी कल्पना मे रस लेने लगते हैं। फिर तो वे हवा की सरसराहट और पत्तो की खडखडाहट से भी कांप उठते हैं।

भय मे भारीपन है, बोझ है। अदृश्य मानसिक बोझ तो और भी भारी होता है। परिग्रह से परिग्रह की चिन्ता ही भारी होती है। सब प्रकार के भार से मुक्त होने में ही निर्भयता है। निर्भयता ही प्रसन्नता है। मजबूत शरीर ताकतवर हो सकता है, लेकिन निर्भयता तो मनसा स्वस्थ व्यक्ति मे ही होगी। निर्द्वन्द्व निर्लेप, निर्मल और निरपेक्ष व्यक्ति ही निर्भय या "श्रमण" कहलाते है। श्रमणो के जीवन मे श्रम, शम और सम की सगति होती है। सबके प्रति समता रखकर अपने विकारो का शमन करने हुए श्रम की साधना करने वाले श्रमण कहलाते हैं। श्रमणो के विकार पसीने की धार के साथ बह जाते हैं। विकारो की दुनिया मे विचरण करने या उनको सीचने का समय ही उनके पास नही होता। वे अपने श्रम से ससार को सजाते-सवारते और सुख बरसाते चलते हैं।

१–दुक्ख भया पाणा।
 –दुःख ही प्राणियो का भय है।
२–दुक्खे केण कडे ?
 –दुःख को कौन पैदा करता है ?
३–जीवेण कडे पमाएण।
 –प्रमत्तावस्था मे स्वय जीव ही दुःख पैदा करता है।
४–जम्म दुक्ख जरा दुक्ख
 रोगाणि मरणाणि य।
 अहो दुक्खो हु संसारो
 जत्थ किस्संति जतुणो ॥

–जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग और मृत्यु दुःख है। इस दुःखमय संसार मे समस्त प्राणी दुःखाक्रांत है।

समस्त प्राणियों की बात तो हम नहीं जानते, हाँ, मानव-प्राणी दुखों से परेशान है। कोई व्यक्ति नहीं दीखा, जो दुखी न हो। एक दुख मिटता है, दूसरा खड़ा हो जाता है। मनुष्य सुख पाने के प्रयत्न में निरन्तर लगा रहता है और चाहता है कि दुख सदा के लिए उससे दूर हो जाय। लेकिन अनादि-काल के प्रयत्न के बावजूद सुख का कोई कण उसके हाथ नहीं पड़ा है। पड़ता भी है तो उसकी अनुभूति का स्पर्श नहीं कर पाता।

सुख-दुःख ऐसे एकरस हैं कि दोनों के बीच भेद-रेखा या सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनो ऐसे घुले-मिले हैं, जैसे फूल में गन्ध, गन्ने में मिठास, दूध मे सफेदी, आग मे उष्णता।

वस्तुतः सुख-दुःख मन की अवस्था ही है। हम मन लगती बात को सुख और मन न लगती बात को दुख मानते हैं, लेकिन मनचाही बातें अक्सर होती नहीं। इसीलिए हम इस संसार को दुःख से भरा हुआ समझने लगते हैं। मन इतना चपल घोड़ा है कि बिजली से तेज गति से भागता है और निमिष मात्र मे ब्रह्माण्ड का चक्कर लगा लेता है। सुख तो हर कदम पर मौजूद है, पर यह मन कहीं रुके भी तो हम अपनी आकांक्षाओ, अभिलाषाओ के अधीन बनकर दुख के पहाड़ अपने सामने खड़े कर लेते हैं। प्राप्त परिस्थिति मे रस और आनन्द लूटने की क्षमता और सामर्थ्य पैदा करली जाय, तो सुख ढूँढ़ने कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है।

एक-दो मिनट के लिये भी अगर मानसिक अवस्था का, गति का निरीक्षण किया जाय, तो देख सकते हैं कि हम सुख के लिए दुःख को किस तरह निमन्त्रित करते रहते हैं। तोता नलिनि पर उलटा लटककर अपने आप ही यह समझ लेता है कि नलिनि ने उसे कस लिया है। वह सामर्थ्य ही नहीं पाता कि पैरो को थोड़ा सरकाये। सबकी यही स्थिति है। भीतर के सुख-सागर की अनुभूति से बेखबर होकर मृगमरीचिका मे भटकते रहते हैं।

दुःखानुभूति ही सुख का बीज है। सीमा से बाहर जाकर न सुख सुख रह जाता है और न दुःख दुःख। यों कहिये कि दुःख की अतिशयता ही सुख है और सुख की अतिशयता ही दुख है। हर प्राणी की प्रवृत्ति और रुचि, अभिलाषा और अभिव्यक्ति भिन्न होती है। एक की सुखानुभूति दूसरे के लिए दुखा-नुभूति बन जाती है। हलुवा मीठा होता है, पर ठूस-ठूंस कर खाने पर कड़ुवा हो ही जायगा। भूख की अनुभूति मे ही खाने का सुख है। प्रसूति की पीड़ा मे ही शिशु के जन्म का सुख।

दुख प्रमाद का पुत्र है। जीव प्रमाद से ही दुख पैदा करता है। प्रमाद यानि आलस। आलसी मन हार और भार का अनुभव करता है। आलसी मन होता ही मरा हुआ है। मरे मन से किये गये काम मे सुख कहा? गफलत, असावधानी भी प्रमाद ही है। श्रमी व्यक्ति सुस्त और असावधान होता ही नहीं। सुस्ती और असावधानी पूर्वक किया गया हर काम दुःखदायी होता है।

दैहिक दुःखों का भी बहुत कुछ कारण मान-सिक असंतुलन ही होता है। बीमारी-चोट-सर्दी-गर्मी का कष्ट, भूख-प्यास, घर-गृहस्थी की आव-श्यकताओ आदि की समस्या किसी न किसी रूप मे हल होती ही रहती है। शरीर के साथ रहकर इन कष्टों को, परेशानियो को नजर-अदाज नहीं किया जा सकता। वे तो आती हैं उठती हैं और मिटती रहती हैं। सास के अखण्ड प्रवाह की तरह ये परेशानियां सदा सग लगी रहती हैं। इनको असल मे सुख-दुःख नहीं कहा जा सकता। वाणी का दुःख कम बोलकर, मौन रखकर या मीठा बोलकर दूर किया जा सकता है। एक कवि ने कहा है कि भले ही किसी को मोटी रोटी की मार मारिये, पर मोटे बोल कदापि न मारिये। बचन का घाव तरकस के तीर से अधिक विषैला होता है। बचन का दर्द, तन के दर्द से हजारो गुना भारी होता है और पल

भर मे मित्रता शत्रुता हो रहती है। तन और वचन पर मन का काबू है। हमारी हर क्रिया मे मन का हाथ है। मन के मते चलकर ही जीभ हलचल करती रहती है। अगर मन को वश मे किया जा सके, तो दैहिक या वचनगत दुःखो को भुलाना या दूर करना कठिन नही होता। दु.खो की जड मे मन का हाथ होता है।

दुःख के लिये एक शब्द है—वेदना। दर्शन-शास्त्र का एक शब्द है वेदनीय। वेदना शब्द "विद" धातु मे बना है। इसका अर्थ है जानना। वेदना यानि जानकारी। यह जानकारी दो तरह की होती है। साता वेदना और असाता वेदना। साता यानि मन-लगती, सुखद, और असाता यानि मन न लगती, दु.खद। आकुलता ही दु.ख है। जिस बात से मन अप्रसन्न हो, अस्वस्थ हो, परेशान हो, वही दु.ख है। बडे-से-बड़े संकट मे भी हमारा मन प्रसन्न रह सकता है। इसका अनुभव अनेकबार होता भी है। दु.ख सकट मे विपत्ति मे नही हैं। जब हम समाज-सेवा कर रहे होते हैं, मेहनत कर रहे होते है, कल्याण-मार्ग पर चल रहे होते हैं, तब लोगो की दृष्टि मे हम पर जो दुःख छाया रहता है, वह हमे दु.ख प्रतीत ही नही होता।

जन्म, बुढापे और मृत्यु को दुःख इसीलिये कहा गया है कि हम तन-मन-वचन के वशीभूत हैं। किसी भी समय सुख नहीं मिलता। अगर मनुष्य मन और तन से ऊपर उठकर बिना प्रमाद के समाज की भलाई में जुट जाय तो न जन्म दु.खदाई होगा, न बुढापा और न मृत्यु।

जन्म और मृत्यु तो बडे अच्छे मित्र हैं। ससार मे शरीर सहित ही रहना है। आत्मानुभूति के क्षणो मे हम तन-मन की वेदना से ऊपर उठकर परम-सुख का रसास्वादन कर सकते है। ऐसी स्थिति कभी-कभी होती भी है। बालक इस स्थिति मे अनेकबार पहुंचते हैं। जन्म और मृत्यु को दु.ख मानकर वे ही जीते हैं, जिनका जीवन-रस सूख गया होता है।

कहा जाता है कि मौत को मत भूलो। वह सदा सिर पर मंडराती रहती है। मौत होगी ही, इसलिये सतत सतर्क रहना चाहिये, संग्रह नहीं करना चाहिये और जीवन ऐसा बिताना चाहिये, कि मानो हम ससार मे हैं ही नही। "एक दिन अवश्य मरना है, लेकिन उस दिन या उस क्षण की भविष्यवाणी कौन सुन पाता है? हम जीने के लिये ही पैदा हुए है और जिन्दगी तो बहुत लम्बी है। एक व्यक्ति की जिन्दगी जो कि सौ-पचास वर्ष की होती है, समाज से जुडी होती है और समाज की जिन्दगी हजारो-लाखो वर्षों की है, भूत और भविष्य से जुडी है हर क्षण उसका विकास हो रहा है, उसमे नई-नई कोपलें फूट रही है। ऐसी स्थिति मे चल रही जिन्दगी को सुखद और सुन्दर बनाना ही फर्ज हो जाता है। मौत की याद करके घबरा कर ही मृत्यु का दुःख है। वह जब आयेगी, आ जायेगी।

यही हाल बुढापे का है। बुढ़ापा भी एक स्थिति ही है। बुढापे का उम्र से कोई रिश्ता नही है। निराश और हारे लोग ही बूढे हैं। जो व्यक्ति नित नवीन प्रेरणा ग्रहण करता है और कर्मयोगी है, उसके दर्शन मात्र मे प्रसन्नता होती है। कर्मठ व्यक्ति के रोम-रोम मे भलाई की आभा चमकती है, उसे कौन बूढा कहेगा। गाधीजी को कौन बूढा कहेगा। पारसनाथ सौ वर्ष के थे, उन्हे कोई बूढा कह सकता है? महावीर बुद्ध, राम-कृष्ण को कहा बूढा चित्रित किया जाता है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की उम्र तो पुराणो के अनुसार बहुत-बहुत लबी थी, पर क्या वे बूढे थे? और आज रोज पद-यात्रा करने वाले विनोबा को भी कौन बूढा कहेगा? जो गुलाम है, वह बूढा है। जो रूढियों से चिपका है, वह बूढा है। इसी बुढापे को दु.खमय कहा गया है।

चिपकाव ही बुढ़ापा है। निराशा ही बुढ़ापा है। अतीत का चिन्तन ही बुढ़ापा है। निराशा ही बुढ़ापा है। भविष्य की चिन्ता ही बुढ़ापा है।

संसार इसलिये दुःखमय है कि हर मनुष्य अपने-अपने घेरे मे आबद्ध है। घेरा तोड़कर व्यापक बन जाय तो दुःख काफूर हो जाय। घेरे वाला ही तो कहता है, "मुझे किसी और से क्या मतलब है?" ऐसी स्वकेन्द्रित वृत्ति ही दुःख की जड है। जो व्यक्ति अपनी ही अपनी सोचता है, उससे सभी लोग मुह मोड लेते है। जिसे कोई नही चाहता, उसके लिए यह ससार दुःखमय ही होगा। लोगो के काम आना, उन्हे अपना मानना, हर हाल मे खुश रहना सीखिये और फिर देखिये यह संसार सुखमय कैसे बन जाता है।

जब तक सासा, तब तक आसा। यह शरीर एक चलती-फिरती, बोलती-चालती मशीन है। इसी के द्वारा आत्मा का भान होता है। इस नाते शरीर की रक्षा भी जरूरी है। आत्म-विश्लेषण मे निपुण लोग शरीर को गदगी और विकारो का आगार बतलाते हैं, इसकी उपेक्षा करते है। लेकिन यह बात एक सीमा तक ही उपयोगी है। शरीर-रचना है ही इस प्रकार की कि शरीर को हेय समझने की जरूरत नही है। शरीर रहित कोई रह ही नहीं सकता। आत्मा अगर आध्यात्मिक है तो शरीर भी अनाध्यात्मिक नहीं है। शरीर ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखा सकता है, जिससे आत्मा बेहद ऊंची उठ जाय। बस, बात इतनी ही है कि मन की लगाम हाथ में रहे। शरीर पर काबू आ जाय तो यह बेहद उपयोगी बन जाता है। शरीर पर काबू मन से ही आता है और मन के काबू मे आते ही मौत इतनी आसान और सुखद हो जाती है कि वह सताती नही। जो दुःख एक तक ही सीमित होता है वह बेहद शूलता है। जिसे अनेक बाट लेते है, वह सुख देने लगता है।

इस जीवन की दौड मे ही हमें स्वर्ग-नर्क और पशु गति का अनुभव होता रहता है। समाज का प्रमाण-पत्र हमारे साथ प्रतिपल रहता है। अन्तरात्मा भी हमे हर समय निरीक्षण का शीशा दिखाती रहती है, जिससे पता चल जाता है कि हम किसी समय किस योनि का काम कर रहे होते है। जीवन और जगत् को हम अपनी वृत्तियो तथा कृतियो से दुःखदायी या भाररूप बना लेते हैं। भार मुक्त होने के लिये फर्ज यही है कि हम जीवन को अमूल्य समझें और अपने को पहचानकर, सुख-दुःख ऊपर उठाकर ससार को अपने व्यवहार से, विचार से और कृति से "सत्य शिव सुन्दरं" बनाने का उपक्रम करें।

"पशु बल के सामने हरगिज़ नहीं झुकना चाहिये और मौत से डरना नहीं चाहिये, क्योंकि आत्मबल दुनिया की किसी भी ताकत से बहुत बड़ा है।"

—महात्मा गाँधी

हम
महावीर के अनुयायी

पदमचन्द साह
एम० ए०

हम,
महावीर के अनुयायी
अहिंसा के प्रबुद्ध साधक
कम के अस्तित्व को
स्वीकारने वाले—
जीवो और जीने दो
के पोस्टर लिए
आत्म कल्याण और
आत्मानुभूति का
श्रवण, वाचन व मनन
अपना कर्त्तव्य
समझते रहे—
स्वाध्याय, साधना के
अगाध सागर की
उत्ताल तरगों के
थपेड़ों में अपने
अस्तित्व का
निरूपण किया हमने—
लेकिन आज
महावीर का अनुयायी
खो बैठा है
अपने अस्तित्व को
कर्म और आत्मानुभूति
के चक्कर में न फँस
वह फँस गया है
भौतिकता के ऐसे
चक्रव्यूह में,
जिससे उसका
निकल पाना
या, फिर
अपनी मान्यताओं के
प्रति
आश्वस्त होना
मुश्किल नहीं
तो कठिन
अवश्य
प्रतीत होता है।

महावीर जयन्ती

१६६६

जयन्ती जुलूस मे झाकी प्रदर्शन

राज्य के सामान्य प्रशासक उप-मन्त्री,
श्री प्रद्युम्न सिंह ध्वजारोहण करते हुए

भगवान महावीर और उनकी दिव्य देशना

"......राज्य वैभव एवं लोकोत्तर सुविधाओं के बीच रहते हुए भी भगवान् महावीर ने जन्म से ही अन्तर में स्वानुभूति के मुकट से सुशोभित रहने के कारण मन की अन्त हीन गली में स्वयं को नहीं खोया। वे निरन्तर आत्महित में चिन्तनशील रहते थे। उन्हें न राज्य पद की लिप्सा थी और न राज्य वैभव की। लोकोत्तर सुविधाओं की ओर उनका जरा भी आकर्षण नहीं था।......"

भारत की पुण्य भूमि पर समय-समय पर ऐसी अलौकिक विभूतिया अवतीर्ण होती रहीं हैं जिनकी दिव्य देशना उनके निर्वाण के बाद आज भी अज्ञान-अंधकार में भटकती मानवात्माओ को प्रकाश दे रही हैं। ऐसी ही एक अनुपम विभूति आज से २५६८ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की पुण्य वेला मे विहार प्रात के कुण्ड ग्राम मे राजा सिद्धार्थ एव रानी त्रिशला को पुत्र-रत्न के रूप मे प्राप्त हुई थी। उस विभूति का नाम था भगवान महावीर, जिनकी जन्म कुण्डली मे जैनधर्म के अंतिम तीर्थकर होने का महान् योग था। कहते हैं—इनका जन्म महोत्सव मनाने के लिए स्वर्ग से उतर कर देवता भी कुण्डग्राम आए थे। सचमुच उस समय का आनंद वर्णनातीत था।

जन्म के बाद राज्य वैभव एवं लोकोत्तर सुविधाओ के बीच भगवान् महावीर का लालन पालन हुआ। बाल्यावस्था गई। यौवनावस्था आई। उसमे राज्य वैभव एवं लोकोत्तर सुविधाओ के बीच रहते हुए भी भगवान महावीर ने जन्म से ही अंतर में स्वानुभूति के मुकुट से सुशोभित रहने के कारण मन की अंतहीन गली मे स्वयं को नही खोया। वे निरतर आत्महित मे चितनशील रहते थे। उन्हे न राज्य पद की लिप्सा थी और न राज्य वैभव की भूख। लोकोत्तर सुविधाओ की ओर उनका जरा भी आकर्षण नहीं था।

मूलचन्द पाटनी
बम्बई

वास्तव में भगवान महावीर को परमात्म पद पा लेने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा नही थी। ऐसी स्थिति मे पिता की छत्र छाया और माता का असीम प्यार भी उन्हे नही भाता था।

भगवान महावीर ने अनुभव किया कि गृहस्थ जीवन में अपनी अंतर्अभिलाषा कभी पूर्ण नही हो सकती अत. वे श्रमण जीवन को अपनाने के हेतु कटिबद्ध हो गए। वे अपनी ३० वर्ष की आयु मे अपने माता और पिता को विरह की असीम पीडा मे छोडते हुए परिग्रह एवं वस्त्राभूषण त्याग कर निर्ग्रंथ—दिगबर बन गए।

भगवान महावीर ने एकात निर्जन वन मे १२ वर्ष तक अक्षुण्ण मौनावलबन के साथ दुर्धर तप किया जिससे उन्होने अपनी आत्मा की सपूर्ण कालिमाओ को धोकर केवल ज्ञान प्राप्त किया। उनसे धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन हुआ। फलतः वे तीर्थंकर एवं विश्ववंद्य बन गए।

तत्पश्चात् भगवान महावीर ने ३० वर्ष तक निरीह भाव से अज्ञान-अधकार पूर्ण मन की अंत हीन गदी गली मे भटक रही आत्माओ के हितार्थ दिव्य देशना दी जो प्रतिदिन ४ बार होती थी। अगणित श्रोता उससे लाभान्वित होते थे। देशना-स्थल (समव शरण) सबके लिए बिना भेद भाव खुला था। भगवान की देशना का संक्षेप शास्त्रो के आधार पर इस प्रकार हैः—

यह निश्चित तथ्य है कि अज्ञान-अंधकार मे मन आत्म भूमि पर नाना विकृतियो का सचय करता है जिससे आत्मा का परमात्म पद तिरोहित है। पद को पाने की दिशा मे मन पर विजय पाने का उपाय भगवान् बताते हैं—

जह जह विसयेसु रई,
पसमई पुरिसस्स णाणमासिज्ज।
तह तह मणस्स पसरो,
भज्जई आलेबणा रहिओ॥

मन का आधार विषयो मे रति है। जब तक मन विषयो मे रत रहता है तब तक उसे वश मे नही किया जा सकता। और तो क्या? वहा वह और भी अधिक चचल हो जाता है। किंतु अब सम्यक् ज्ञान का आलेबन हो जाता है, विषयो मे रति स्वतः हट जाती है। यही मन के प्रसार को नष्ट करने का अमोघ उपाय है।

भगवान् एक और उपाय बताते हैः—

यथोत्पाताक्षम. पक्षी लून पक्ष. प्रजायते।
राग द्वेष च्छदर् छेदे न्वातपत्र रयस्तथा॥

जिस प्रकार कटी हुई पाखो का पक्षी उडने मे असमर्थ होता है। उसी प्रकार मन रूपी पक्षी राग और द्वेष रूपी पाखो के कट जाने पर विकल्प रूप भटकन मे रहित हो जाता है।

विषयो से विरक्ति के बाद मन क्या करता है इसके संबध मे भगवान् कहते है —

विसयालेबण रहिओ णाण
सहावेण भाविओ मतो।
कीलई अप्प सहावे तक्काले
मोक्खसुक्खे सो॥

जिस समय मन विषयो के आलेबन से मुक्त हो जाता है और उसमे सम्यक् ज्ञान की भावना हो निकलती है उस समय वह आत्मस्वरूप मुक्ति सुख (अतीन्द्रिय सुख) मे क्रीडा करने लगता है।

मन विश्वसनीय नही अतः मन को एक विशाल वृक्ष की उपमा देते हुए उसे समूल काट डालने के लिए भगवान् शिक्षा देते है.—

णिल्लरह मणवच्छो,
खडह साहार राय दोषा जे।
अहलो करेई पच्छा
मा सिंचह मोह सलिलेण॥

इस मन रूपी विशाल वृक्ष को समूल काट डालो। राग और द्वेष रूपी दोनों शाखाओं को खण्ड २ कर डालो। फल रहित कर दो। फिर यह मेरा मैं इसका इस व्यामोह रूपी जल से सींचना बंद कर दो। ताकि वह पुनः कहीं से भी पल्लवित न हो सके।

क्योंकि—

एट्टे मण वावारे विसयेसु ण जंति इंदिया सव्वे।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति।

मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर कोई भी इंद्रिया विषयो मे प्रवृत्त नहीं होती। वृक्ष को मूलत. छिन्न-भिन्न कर देने पर पुनः उसमे पत्ते कहा से आ सकते है ?

मन द्वारा संचित आत्म तल की कालिमाओं से आत्मा को स्वच्छ कैसे किया जा सकता है ? उसके उपाय स्वरूप तप को भी महत्व पूर्ण स्थान देते हुए भगवान कहते है .—

जाव ण तवग्गितत्त सदेह मूसाई णाण पवणेण।
ताव ण चत्त कलक जीव सुवण्ण खु णिव्वडई॥

जब तक शरीर रूपी मूषा मे सम्यक् ज्ञान रूपी पवन के द्वारा यह जीव रूपी सुवर्ण तप रूपी अग्नि से नहीं तपाया जाता तब तक आत्मा रूपी कलको से रहित ज्वा जल्य मान नही होता।

आत्म साधक के लिए भगवान् एक सेवनीय अनुपम सिद्धात प्रतिपादन करते हैं :—

यः परात्मा स एवाह ? योऽहं स परमस्तत।
अहमेव मयो पास्यो नान्य कश्चिदिति स्थितिः॥

जो परमात्मा है वही मैं हूँ। जो मै हूँ वही परमात्मा है। अतः मैं ही (आत्मा) अपने द्वारा उपासनीय हूँ। अन्य कोई नही।

आत्म साधक के लिए भगवान् आत्म ज्ञान की महत्ता बताते हैं.—

जो ण वि बुज्झई अप्पा,
णेय पर णिच्छयं समासिज्ज।
तस्स ण वोही न भणिया,
सुसमाही राहणा णेय।

जो आत्मा स्वय को नही जानता और न आत्म ज्ञान पूर्वक पर को जानता है वह अज्ञानी है और अज्ञानी को न तो बोधि, न समाधि और न आराधना होती है।

इस प्रकार देशना देते हुए भगवान् ७२ वर्ष की आयु मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या को पावा से निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हो गए।

"स्वर्ग का सही महत्त्व तभी आंका जा सकता है जब पन्द्रह मिनट नरक में बिताये जायें।"

—बिल कार्लेटन

भजन

हे वीर ! तू संसार का अभिमान बन गया,
जिसने लिया उपदेश, वो इन्सान बन गया ।।

बहती थी नदी खून की मजहब के नाम पर,
उस वक्त तू दुनियाँ पर मिहरबान बन गया ।।

दुनियाँ को रिहा कर दिया हिंसा के पाप से,
सुख चैन का पथ लोगों को आसान बन गया ।।

बजने लगी सत्य और अहिंसा की दुन्दुभी,
सुन कर जिसे सारा जहां बलवान बन गया ।।

हर दिल में पनपने लगे जब प्रेम के पौधे,
तो उजड़ा हुआ चमन फिर गुलिस्तान बन गया ।

उपदेश तेरा आज भी दुनियाँ में समाया,
'भगवत' तू ज्ञानवानों का है प्रान बन गया ।।

> भगवान महावीर ने कभी भी जन्मजात श्रेष्ठता को महत्त्व नहीं दिया। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार श्रेष्ठत्व का मापदण्ड मानव का आचार है। जिसका आचार मानवोचित है, जिसकी आत्मा में धर्म उतरा है वह किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ हो मानवों से ही नहीं देवताओं तक से पूज्य है। विद्वान् लेखक ने पुष्ट प्रमाणों द्वारा इस तथ्य की असदिग्ध स्थापना की है। पुराण साहित्य में इसकी पुष्टि करने वाले सैंकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। खेद है कि महावीर की जय से दिगन्त को गुंजा देनेवाले हम जैनों ने ही इस ओर से अपनी आंखें बन्द करली हैं।
>
> —सम्पादक

भगवान महावीर के शासन में वर्ण-जाति नहीं, आचरण प्रधान है!

पं० परमेष्ठीदास जैन
न्यायतीर्थ,
सम्पादक 'वीर', ललितपुर

भगवान महावीर के शासन की अनगिनत विशेषताओं मे एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि जैन धर्म किसी भी वर्ण, जाति या कुल को इस लिये ऊंच-नीच नही मानता कि वह परम्परा से ऊंच-नीच कहा जाता है, प्रत्युत आचार-व्यवहार को ही ऊंचता-नीचता का मापक मानता है। मास-मज्जा युक्त और चर्मावृत शरीर तो स्वभावतः ही अशुचि है, इसलिये किसी तथा-कथित उच्च जाति मे उत्पन्न होने से वह उच्च या पवित्र नही हो सकता क्यो कि —

> चाण्डालोऽपि व्रतोपेतः पूजितः देवतादिभिः।
> तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते ॥

अर्थात्—व्रताचरणयुक्त होने से यमपाल चाण्डाल की पूजा देवों ने भी की थी, अतः किसी ब्राह्मण आदि को अपनी जाति के बड़प्पन का गर्व नहीं करना चाहिये।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुये अमितगति आचार्य ने कहा है—

> शीलवन्तो गताः स्वर्गे नीचजाति भवा अपि।
> कुलीनाः नरकं प्राप्ताः शीलसंयम नाशिनः ॥

अर्थात्—नीच कुल-जाति मे उत्पन्न होने पर भी शील-संयम पालन करने वाले स्वर्ग मे गये हैं, और उच्च कुल में पैदा होने से कुलीन कहलाने वाले शील-संयम का नाश करके दुराचरण करने वाले नरक मे गये है।

इससे सिद्ध है कि भगवान महावीर के शासन मे जन्मगत जाति को नही किन्तु आचरण की महिमा है। और इसीलिये किसी भी वर्ण-जाति का व्यक्ति जैनधर्म को धारण कर के श्रावक (श्रेष्ठ) हो सकता है। यथा—

एहु धम्मु जो आयरइ, बंभणु सुद्दवि कोइ।
सो सावहु, किं सावयह अण्णु कि सिरिमणि होइ
—श्री देवसेनाचार्य

अर्थात्—इस जैन धर्म का जो भी आचरण करता है चाहे ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र अथवा अन्य कोई हो,—वही श्रावक (श्रेष्ठ-जैन) है। क्यो कि श्रावक के सिर पर कोई मणि तो लगा नही होता जिससे जाना जा सके कि यह जैन है।

इसी बात को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने और भी स्पष्ट रूप मे घोषित किया है कि—

णवि देहो वंदिज्जइ णविय कुलो णविय जाइ संजुत्तो।
को वंदिम गुणहीणो, णहु सवणाणेव सावओ होई।
—दर्शन पाहुड

अर्थात—न तो देव की वदना होती है न कुल की और न ही ऊंचीजाति का कहलाने से कोई बडा हो जाता है। क्यो कि गुणहीन की कौन वंदना करेगा? बिना गुणो के कोई न तो श्रावक होता है और न मुनि हो सकता है।

इस प्रकार जैन धर्म मे वर्ण जातिगत जन्म की नही, अपितु आचरण, व्यवहार, सदाचार आदि की महिमा गाई गई है।

जैनाचार्यों ने स्पष्ट लिखा है कि चारवर्ण अथवा चाण्डालादि की कल्पना मात्र आचार के भेद से ही है। वर्ण या जाति नित्य या स्थायी नही है। यथा—

चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादि विशेषण।
सर्वमाचार भेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम्॥

अमितगति आचार्य ने इसी बात को यो कहा है कि—

आचारमात्र भेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्विकी॥

अर्थात्—शुभ और अशुभ आचारण के भेद से ही जाति-भेद की कल्पना हुई है। ब्राह्मणादि जाति कोई वास्तविक, निश्चित, अमिट या अनादि नही है। कारण कि गुणो के होने से ही उच्च जाति होती है और गुणो के नष्ट होने से ही जाति का नाश हो जाता है।

कहा तो जैनाचार्यों की यह उदारतापूर्ण मान्यता और कहाँ वर्तमान समाज की अज्ञानपूर्ण धारणा कि वह उपजातियों तक को अमिट, स्थायी और अपरिवर्तनीय मान बैठी है।

यदि जैन धर्म का मर्म भली भाति ज्ञात हो जाय तो मनुष्य ऐसी भूल कदापि नही करे। शास्त्रो को विवेक पूर्वक पढने से ज्ञात होगा कि समयानुसार जातीय नियम और सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित होती रही है। उसके परिवर्तन का अधिकार शासन, पंच या किसी भी महापुरुष को होता है। अवसर्पिणी काल के प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल मे भोग भूमि की रचना थी। उस समय न तो विवाह प्रथा थी और न वर्णव्यवस्था। तब एक ही मा-बाप से उत्पन्न भाई-बहिन आपस में ही पति-पत्नी बन जाते थे। इतना होने पर भी

वे आर्य कहे जाते थे, उच्च बने रहते थे और अन्त मे सद्गति को प्राप्त होते थे।

इसके बाद कर्म भूमि का प्रारम्भ हुआ। तमाम सामाजिक व्यवस्थायें की गयी। भगवान ऋषभनाथ ने जनता के जीवन-निर्वाहार्थ वर्ण व्यवस्था की उन्होंने धर्म के लिये नही, किन्तु प्रजा के जीवन के लिये व्यवहार चलाने के लिये या उसे अनुकूलता कर देने के लिये वर्ण व्यवस्था की थी। यथा—

पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।

साद्य प्रवर्तनीयाऽत्र ततो जीवन्त्यमू. प्रजा ॥१४३॥

षट् कर्माणि यथा तत्र
यथा वर्णाश्रम स्थितिः।
यथा ग्राम गृहादीनां
संस्त्याश्च पृथग्विधाः ॥ १४४॥
तथाऽत्राप्युचिता वृत्ति-
रुपायै. रेभिरंगिनां।
नोपायान्तरमस्त्येषां
प्राणिनां जीविकां प्रति । १४५॥

आदिपुराण पर्व १६

अर्थात्—भगवान आदिनाथ ने विचार किया कि पूर्व और पच्छिम विदेह मे जैसी व्यवस्था है वैसी ही यहा पर भी चलाना चाहिये। उसी व्यवस्था से प्रजा जीवित रह सकेगी। जिस प्रकार विदेह मे असि, मसि आदि षट्कर्म और वर्णाश्रम की व्यवस्था है तथा जैसी ग्राम गृहादि की रचना है उसी प्रकार और वैसी ही व्यवस्था यहाँ भारत क्षेत्र मे भी होनी चाहिये। इन्ही उपायो से मनुष्यो की आजीविका चल सकती है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णाश्रम की रचना प्रजा के जीवन के लिये थी, जनता की सुविधा के लिये बनी थी और सबको अपना व्यवहार चलाने के लिये की गयी थी। उसका धर्म के साथ गंठ जोडा करना ठीक नहीं है।

यदि यह वर्ण व्यवस्था धार्मिक दृष्टि से होती तो ऋषभनाथ स्वामी अपने राज्य काल मे इसकी रचना नहीं करते। कारण कि केवल ज्ञान होने के पूर्व उन्होने कोई भी धर्मोपदेश नही दिया था। इसी सिलसिले मे उन्होने वैवाहिक व्यवस्था भी की थी इसलिये विवाह भी सामाजिक है न कि धार्मिक।

"प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट्" इस कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिनाथ स्वामी ने राज्यारूढ़ होकर विवाहादि की तथा आजीविकादि की व्यवस्था प्रजा के पालन के हेतु की थी और उसमे सदा परिवर्तन भी होता आया है। यदि यह व्यवस्था धार्मिक होती तो इसमे परिवर्तन करके भरत महाराज ब्राह्मण वर्ण की स्थापना कैसे करते? उन्होने आदिनाथ स्वामी द्वारा स्थापित तीन वर्णों मे से छांटकर चौथा ब्राह्मण वर्ण भी बनाया था जिसमे शूद्र वर्ण तक के लोग शामिल थे। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था मे परिवर्तन होता रहा है, और सामाजिक व्यवस्था अनुकूलतानुसार बदलती रही है।

चारोवर्ण जन्म से या माता के पेट से बन कर मानव शरीर के साथ नहीं आते, किन्तु—

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वाणिज्योऽर्थार्जनान्न्यायात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥

आदिपुराण ३८-४६

क्षत्रिया क्षततस्त्राणात् वैश्या वाणिज्य योगतः।
शूद्राः शिल्पादि संबंधात् जाता वर्णास्त्रयोऽप्यतः ॥

हरिवंशपुराण ९-३९।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने स्पष्ट घोषित किया है कि वर्णों को रचना व्यापार-वृत्ति-प्रवृत्ति मूलक है, जन्मजात नहीं।

भगवान महावीर के शासन मे कोई भी उच्चजाति या बडे वर्ण में उत्पन्न होने से ही बडा नहीं माना जाता किन्तु—

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्विका यस्यां सा जातिर्महती मता॥

अर्थात जिस जाति में सयम, नियम, शील, तप, दान दम, दया आदि गुण यथार्थरूप में पाये जायें वही जाति बडी है।

हमारे देश मे आज जो धर्मनिरपेक्षता की ओर जाति को महत्व नही देने की हवा चल रही है वह भी पुरातन युग की ही भाति केवल रूढि बन कर रह गई है। यदि हम जैनलोग सच्चे मन से सुसंगठित होकर भगवान महावीर के उपरोक्त उदार सिद्धान्तो का प्रचार करें तो सचमुच ही वर्तमान युग जैन धर्म के विकास, प्रचार और प्रसार के लिये सर्वोत्तम सुअवसर है।

❁

"जो मनुष्य त्याग करके दुःखी होता है, उसने त्याग किया ही नही है। सच्चा त्याग सुखद होता है, मनुष्य को ऊँचा ले जाता है।"

—बापू

महावीर जयन्ती स्मारिका १९६९

महावीर जयन्ती स्मारिका के प्रधान सम्पादक, श्री भंवरलाल पोल्याका स्मारिका की प्रति श्री प्रद्युम्नसिंह को भेंट करते हुए

श्री प्रकाशचन्द पाटनी आम सभा को सम्बोधित कर रहे हैं।

सभा के उप-सभापति श्री हुकुमचन्द सेठी सार्वजनिक सभा के अध्यक्ष श्री भागचन्द सोनी का स्वागत करते हुए।

पंथ हैं अनेक लक्ष्य एक है

"भगवान महावीर ने कहा—

'मेरा धर्म तो जिन धर्म है, ऐसा धर्म जो मानव को उसकी कमजोरियों पर विजयी बनाता है। उसे प्रबुद्ध करता है।

स्पष्ट है यह धर्म मानव के प्राचीनतम धर्मों में से एक है जिसका संस्थापक कोई नही, जो आत्मा से उद्भूत है और आत्मा ही का उपकारक है, जो प्राचीनतम होते हुए भी आधुनिकतम है। यदि बंध की समस्या सार्वकालिक है तो मुक्ति के उपाय भी शाश्वत हैं।"

प्रवीणचन्द्र जैन
आचार्य
वनस्थली विद्यापीठ ज्ञान-विज्ञान महाविद्यालय
वनस्थली

भगवान महावीर की जयन्ती का पर्व हो, उस पर्व की स्मारिका निकाली जाय, उस स्मारिका के लिए लेख लिखना हो, लिखने वाला व्यक्ति ससारी हो, संसारी व्यक्ति मुक्त के विषय मे क्या लिखे, पर लिखना तो उसे है, क्योंकि वह वचन बद्ध हो चुका है, यह एक समस्या थी जो लगभग दो महीने से मेरे मन मे एक बडे प्रश्न के रूप में उपस्थित थी। आज के जीवन में महावीर स्वामी की या उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा धर्म के विचार की उपयोगिता भी है या नहीं इस बात से यह प्रश्न जुड गया तो वह और भी बडा हो गया। मैंने सोचा आज के असंतुष्ट, अर्थपरायण और अर्थ के लिए अन्धा होकर बेतहाशा दौड मे लगे हुए मानव के लिए यदि भगवान महावीर जैसे किसी महात्मा की आवश्यकता न हो तो क्या हिंसा और उससे पैदा हुई समस्त क्रूरता के प्रचारक किसी दुरात्मा की आवश्यकता होगी ? अहिंसा और प्रेम के सन्देश के स्थान पर क्या उसे हिंसा और द्वेष का आदेश ही मान्य होगा ? क्या वह साहस के साथ कह सकेगा कि मानव को आज हिंसा और आतङ्क की ही आवश्यकता है ? प्रश्न एक ही है, पर उसके पहलू अनेक हैं। इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने स्तर और क्षमता के अनुसार दे।

भगवान महावीर संसार के उन महापुरुषों में से एक हैं जिन्होंने कभी

यह नहीं कहा कि जो बात वे कह रहे हैं वह केवल उन्हीं की है, उन्होने तो उन शाश्वत जीवन-मूल्यों की देशना की जो मानव को महा मानव और परम मानव बनाते आये हैं, प्राज्ञ को सर्वज्ञ बनाते आए हैं आत्मा को परमात्मा बनाते आये हैं। जिस मानव धर्म पर उन्होने बल दिया वह उनसे पूर्व के उन महात्माओ, ऋषियो महर्षियों अथवा तीर्थकरो के द्वारा प्ररूपित है जो मानव को, अधिभूत मे परिस्थित आत्मा को, पतन के गड्ढे से बचाने या निकालने आये हैं। उन बातो की उन्होने चर्चा की जिनसे आध्यात्मिक समत्व की प्रतिष्ठा होती है, हीनता की भावना हटकर आत्म विश्वास बढता है। उन्होने कहा मेरा धर्म तो जिन-धर्म है, ऐसा धर्म जो मानव को उसकी कमजोरियो पर विजयी बनाता है, उसे प्रबुद्ध करता है। स्पष्ट है, यह धर्म मानव के प्राचीनतम धर्मो मे से एक है जिसका संस्थापक कोई नही, जो आत्मा मे उद्भूत है और आत्मा ही का उपकारक है, जो प्राचीनतम होते हुए भी आधुनिकतम है। यदि बन्ध की समस्या सार्वकालिक है तो मुक्ति के उपाय भी शाश्वत है।

जिस समय भगवान महावीर एक क्षत्रिय राजकुमार के रूप में पैदा हुए वह समय भारत मे ही नही, समस्त विश्व मे धार्मिक क्रान्ति का युग था। धर्म के सूर्य पर जो अधर्म का तामिस्र मेघपटल छाया हुआ था उसे दूर करने का युग था। विषमताओ के रहते हुए भी समता का अनुभव कैसे हो सकता है यह बताने का युग था। यह ध्यान देने की बात है कि जिन्होने यह काम किया वे भौतिक परिवेशो और उनके प्रभावो मे मुक्त ही महामानव थे। इन सभी लोगो ने देश, काल और पात्र के अनुसार अपना कार्य किया। भारत मे ही कई ऋषियां और आचार्यों ने ब्राह्मणो मे जहा कर्मकाण्ड और विधि-विधानो की आवश्यकता पर बल ही नही दिया, उनका विशाल रूप भी प्रस्तुत कर दिया, वहा आरण्यको और उपनिषदो में उन्होने शुद्ध आध्यात्मिकता की भी आवश्यकता बतायी, त्रिगुणातीत ब्रह्म की अनुभूति की साधना के मार्ग बताये। इसी समय भगवान बुद्ध ने भी मानवता को करुणा का सन्देश दिया। जन साधारण को आध्यात्मिकता की ओर लाने के लिए महाकाव्यो और पुराणो की रचना का महारम्भ हुआ। भारत के पडौसी देश पारस मे महात्मा जरथुस्थ ने मानव के मानस को आध्यात्मिकता की ओर मोडा तो दूसरे पडौसी देश जापान मे शिन्तोधर्म का नवीन सस्करण प्रकट हुआ। चीन मे राव धर्म का जो मध्यम मार्गी रूप व्याप्त हुआ उसे महात्मा कन्फ्यूशस ने क्रमबद्ध करके सर्व ग्राह्य बनाया। यूनान, मिस्र और इजराइल की भूमि मे हजरत मूसा ने जूडा धर्म का प्रचार किया। आत्मा को परमात्मा का दर्शन या बोध कराया। इसी धर्म से आगे चलकर दो बडे धर्म निकले जो आज विश्व भर मे फैले हुए है-एक ईसाइयत और दूसरा इसलाम। दोनो मे आत्मा और परमात्मा दोनो की प्रतिष्ठा है। इसी युग मे बौद्ध धर्म भारत के बाहर उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम मे फैला।

इस युग के क्रान्तिकारी महात्माओं ने, जैसा ऊपर कहा गया है, विश्व भर मे मानवीय णो के या जीवन-मूल्यो के प्रति आस्था उत्पन्न करने मे अपनी समस्त शक्ति लगायी, अज्ञान का अधकार हटा कर ज्ञान का प्रकाश फैलाया। यदि उन्नीसवी शती को औद्योगिक क्रान्ति का युग कह सकते हैं तो इस युग को आध्यात्मिक क्रान्ति का युग कह सकते है।

भगवान् महावीर भी इसी क्रान्तिकारी आध्यात्मिक युग के प्रमुख क्रान्तिकारियो मे से एक थे। आज मैं इन्हे दूसरे महामानवो से अलग करके नही देखना चाहता, दूसरो के साथ ही देखना पसन्द करूगा।

इन महा मानवो द्वारा प्रस्थापित या विस्तारित धर्मों के अध्ययन और चिन्तन तथा उसके बाद

आचरण से ही उस क्रान्ति का रहस्य समझ मे आ सकता है जो उनके द्वारा हुई । हम यहा उन विशिष्ट बातो का उल्लेख नही करेंगे जो एक धर्म को दूसरे से अलग करती है, बल्कि उन सामान्य बातो की चर्चा करेंगे जो एक को दूसरे से मिलाती हैं।

परिस्थितिया सब स्थानो पर अलग अलग थी, पर एक बात सब जगह थी, वह यह कि साधारण जन अपने आत्मभाव को भूले हुए था, कुछ डरा या सहमा सा हुआ था। जीवन के प्रति उपेक्षा या निराशा का भाव उसके मन पर छाया हुआ था, वह पतन के गहरे गर्त मे पडा हुआ था । वैसे आत्मा का पतन या नाश तो होता नही, फिर भी नाश और पतन की बात व्यवहार मे अवश्य आती है। किसी भी कारण से सही, आत्मा ज्ञान के प्रकाश से विमुख होकर जब अज्ञान के अधेरे मे फस जाती है तो उसे पतित या नष्ट कहा जाता है। इन महात्माओ ने सब से पहला और सब मे बड़ा काम यही किया कि मानवो को ज्ञान-मार्ग मे प्रवृत्त करके उन्हे निराश दशा से हटाकर आशावान् बनाया। किसी ने कहा, तुम कौन हो ? पहचानो तो। किसी ने कहा, मेरी ओर देखो तो मैं वही हूँ जो तुम हो। किसी ने कहा, हम मे बडा और छोटा कोई नही है, सब एक हैं। किसी ने कहा, देखो तुम वह नही हो जो समझते हो, तुम तो अजर, अमर और अविनाशी हो। किसी ने कहा तुम अपने आप से पूछो; 'मै कौन हूँ ?" इस प्रकार उन्होंने मानव के मन मे जानने की इच्छा (जिज्ञासा) उत्पन्न की। जब जिज्ञासा जाग्रत हो जाती है तो मार्ग दिखायी देता है, अवरोध क्षणिक या काल्पनिक प्रतीत होते हैं, तब उन्हे हटाना या उन पर विजय पाना सरल होता जाता है। भारतीय दर्शनों मे जिज्ञासा पर बड़ा बल दिया है, जैन दर्शन में सम्यक्त्व के लिए जिज्ञासा को प्रथम सोपान कहा है। विदेशी धर्मों ने भी इसे सत्य की शोध के लिए अलग अलग भाषा मे आधार भूत इच्छा कहा है। तो, एक काम जो उन्होंने किया वह है अपने आपको अशक्त समझने वाले मानव को अपनी सर्वथा शक्तता का बोध दिया।

'तुम कौन हो ?' इस सम्बोधक प्रश्न से 'मैं कौन हूँ ?' यह अनुभूति की ओर ले जाने वाला प्रश्न उदित हुआ। मन मे अपने आप ही यह विचार आया, मैं शरीर तो हो नही सकता। तब क्या हूँ, कुछ हू तो अवश्य। ऐसा कुछ जो अधिभूत नहीं है, भौतिकता पर आश्रित नही है। ज्ञानियो ने इसे आत्मा यह नाम दिया और इससे सबंधित सारे ज्ञान को अध्यात्म कहा। भूत का अर्थ है जो था (किसी रूप में) वह अब नही है (उस रूप मे); अर्थात भूत परिवर्तन शील तत्व है, इसके विपरीत आत्मा जो वर्तमान है, सदा है। भूत और वर्तमान का अन्तर समझ मे आ जाय तो अनादि, अनन्त, न भूत न भविष्यत् बल्कि वर्तमान तत्व का रहस्य भी समझ मे आ जाना चाहिये। किसी ने कहा ईश्वर है जो अनादि और अनन्त, उसकी ओर जाओ, उसे प्रसन्न करो, पुत्र बनकर, सेवक बनकर मित्र बनकर, पति अथवा पत्नी भी बनकर, सार यह किसी तरह भी उसका सान्निध्य प्राप्त करो, तुम उसमे मिल जाओगे, वही हो जाओगे। किसी ने कहा, ये सम्बन्ध किससे जोडते हो ? ईश्वर की तलाश मे कहाँ मारे मारे फिरते हो, ये सम्बन्ध तो अपने आप से ही जोडो, कहो मैं ही अपनी पिता, माता, भाई, बन्धु, पत्नी, मित्र सब कुछ हूँ । अनादि हू, अनन्त हूँ, आत्मा हूँ, परमात्मा हूं, सिद्ध हूं, अपना तीर्थ स्वय हूं, क्या है जो मैं नही हूं, और क्या है जो मुझ मे बचा है। यह वह शक्तिबोध या स्वरूप बोध है जो इन महामानवो ने मानव मात्र को अपनी अपनी पदावली में दिया। मानव उठ खडा हो गया, जागरूक हो गया, अपनी शक्ति को पहचानने के लिए मानो चल पड़ा उस शक्ति

को पाने के लिये जो अपने में है अपने से बाहर नहीं।

इस ओर कैसे प्रवृत्त हो सकता है मानव ? मार्ग क्या है ? उपाय क्या है ? क्या करे वह ? क्या न करे वह ? इसके उत्तर में सब धर्मों ने मानो एक स्वर से कहा, जगत् की जड वस्तुओं को देखो सभी तो बदलती रहती हैं, नाशशील हैं। तुम छोड़ो, त्याग करो उसे अपना रूप मानने का जो नश्वर है। यदि उसे ईश्वर ने बनाया है तो तुम्हारे लिए, यदि वह अनादि है अकंटक है तो भी वह तुम्हारे उपयोग के लिए। उसकी दासता छोडो। इसकी विधि है अपने स्वार्थों मे उदात्तता को लाओ। जो कुछ तुम्हारे पास है उसे ईश्वरार्पित करो या दूसरो को, समाज को अर्पित करो। दूसरे भी तुम्हारी तरह ही हैं। उन्हे पराया न समझो, उनके साथ प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करो। जैसा तुम करोगे वैसा ही तुम्हे मिलेगा। अप्रमत्त होकर दूसरो के शोषण से बचोगे तो कोई भी तुम्हारा शोषण नहीं कर सकेगा। प्रेम की हरियाली चारो तरफ लहलहाने लगेगी। दूसरो को शीतलता और शान्ति मिलेगी और तुम्हे भी। वह काम तुम जितनी आस्था के साथ करते जाओगे बन्धन कटते जायेंगे, सशय हटता जायगा। फिर क्रूरता के स्थान पर प्रसन्नता का, भय के स्थान पर उत्साह का, क्रोध के स्थान पर क्षमा का, अभिमान के स्थान पर विनय का, सग्रह के स्थान पर वितरण का, सारांश यह कि सकीर्णता के स्थान पर व्यापकता का विशालता का भाव सर्वत्र छा जायगा।

इस उदात्तता का एक निश्चित परिणाम सभी धर्मों ने यह बताया है कि इससे जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियो मे समता और एकता के दर्शन होंगे। जिसे सही अर्थ में स्वतन्त्रता या साम्यवाद कहते हैं उसकी उपलब्धि होगी। यहा यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि स्वतन्त्रता और साम्यवाद दोनो आध्यात्मिक धरातल पर ही गतिशील होने का विचार प्रस्तुत किया गया है। इस धरातल पर गतिशील मानव करोडो की सम्पदा बाट दे तब भी कम होगा और मुस्कराहट भी दे दे तो भी वह बडी से बडी सम्पत्ति के दान से कम न होगा। कौन कितना देता है इसका महत्व नही, महत्व इस बात का है कि उससे स्वतन्त्रता मिलती है या नही, समता फैलती है या नही। यदि ऐसा हुआ तो सब कुछ हो गया, और यदि ऐसा नही हुआ तो अहं का ही पोषण हुआ जिससे जहर फैला और मूर्छा व्याप्त हो गयी।

इसी प्रकार सब धर्मों ने जीवन के आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनो क्षेत्रों मे समन्वय की भावना पर बल दिया है। इस भावना से सम्कृति का और संस्कृति से समन्वय की भावना का पोषण होता है. दोनो परस्पर उपजीव्य और उपजीवक हैं। एक के बिना दूसरी की स्थिति नही। यो भी कह सकते हैं मानवीयता रूपी सिक्के के ये दो पहलू है। प्राणी मात्र के प्रति भ्रष्टता का भाव, प्रेम और सेवा का मार्ग, अहिंसा और क्षमा का भाव, दूसरे के गुणो को स्वीकार करने का भाव, इस प्रकार के समस्त भावो की प्रशसा सब धर्मों में की गयी है। ये समस्त गुण समन्वय की भावना से ही प्रकाश मे आते है। समन्वय के लिए यह अनिवार्य है कि दूसरो के प्रति आदर का भाव हो। समन्वय को विकास के लिए आवश्यक मानते हुए प्रायः सब धर्मों ने कहा है कि सत्य उतना ही नहीं जितना कहने या करने मे आता है। वह तो उससे कहीं अधिक व्यापक है, इसलिए मानव मात्र के वचन और कर्म के सत्य को समझने के लिए परस्पर समादर की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन धर्म मे अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या अपेक्षावाद को सत्य के अनन्त स्वरूपो को समझने के लिए स्वीकार किया गया है। वहा कहा गया है कि जिस अपेक्षा से कोई बात कही या की गयी है उस अपेक्षा को

समझो। यदि समझ मे न आये तो प्रयत्न करके समझो। जो ठीक लगे उसको स्वीकार करो, जो ठीक लगे उसे दूसरो को बताओ। आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया से समन्वय का भाव बढ़ता है। यो भी कह सकते हैं कि दूसरो की अच्छाई को अपना सकने की कला समन्वय है, इसी से अहिंसा फैलती है, प्रेम पनपता है। समन्वय की विरोधिनी शक्ति का नाम घृणा है। यह वृद्धि और बल के वैभव के अभिमान से पैदा होती है। जिससे घृणा की जाती है वह असामाजिक बन जाता है, यह पाप कर्म मे भी रक्त होता जाता है। इस देश मे और दूसरे देशों मे घृणा के भाव से क्या क्या न हुआ। मानव-जाति टुकडो टुकडो मे बट गयी काले-गोरे का भेद कितना तीव्र है। युद्धो के मूल मे भी यही घृणा का भाव है, इसलिए सभी धर्मों ने ईर्षा, द्वेष और घृणा की निन्दा की। अपनी शक्ति का घमड न करो, दूसरे को नीच मत समझो, घृणा पाप से करो पापी से नही, इस प्रकार की बातें धर्म ग्रन्थो मे भरी पडी है। इसी समन्वय को बात को लेकर एक आचार्य ने कहा—

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु
> युक्तिमद्वचन यस्य कार्यस्तस्य परिग्रहः ॥

कवि ने इसी भाव को अपनी भावना मे इस प्रकार प्रकट किया—

> जिसने राग द्वेष कामादिक
> जीते सब जग जान लिया
> सब जीवो को मोक्ष मार्ग का
> निस्पृह हो उपदेश दिया।
> बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर ब्रह्मा
> या उसको स्वाधीन कहो
> भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह
> चित्त उसी मे लीन रहो ॥

भाव यह है कि साधु कोई भी हो वह आदरणीय है। वह असाधु या छद्मवेषी नहीं हं यही बात देखने की है। जैनो के महामन्त्र मे भी यही समन्वय की भावना है—जो अर्हद् है, जो आचार्य है, जो उपाध्याय है, जो साधु है, वह नमस्करणीय है। यहां किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। साधुओं की ये श्रेणियां हैं, उनकी योग्यताएं निश्चित हैं। जिसमें जैसी योग्यता हो उसके अनुसार वह आदरणीय है। इसमे देश, काल, वर्ग, जाति आदि किसी प्रकार की संकीर्णता नही है। इनकी पूजनीयता वेष के कारण नहीं गुण और कर्म के कारण है।

ये हैं कुछ सामान्य बातें, और भी हैं जो भगवान् महावीर जैसे महामानवो ने संसार के कोने कोने मे फैलायी। गर्व है मानव जाति को इन पर। इनमे से किस के कथन मे या आचरण मे क्या कमी और क्या विशेषता है उसे बताना यहा अभीष्ट नही है। अभीष्ट केवल यही है कि उन्होने अपने अपने ढग से मानवो को अध्यात्म की ओर गतिशील होने की प्रेरणा दी। उन्होने जो कुछ कहा या किया है उसे आज अधिक सरलता से समझा जा सकता है। धर्म तो गति की प्रेरणा देने वाला तत्व है, उसकी यह शक्ति आज भी वैसी ही है जैसी पहले थी, आगे भी यह तो रहने वाली ही है। फिर आज तो वैज्ञानिक अनुसंधानो से प्राप्त आविष्कार भी इतने और ऐसे हो गये है कि देश और भाषा की दूरी प्रायः समाप्त हो गयी है। एक भाषा से दूसरी भाषाओ मे अनुवाद भी तेजी से हो रहे हैं। धर्म गुरुओ और राजा-महाराजाओ के आतङ्क भी समाप्त हो गये हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता भी इसमे सहायक हो गयी है। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से कोई भी आज ऐसी स्थिति मे हो सकता है कि वह बता सके कि आज लोक के सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए इन धर्मों की उपयोगिता है या नहीं।

आज जिस बात की आवश्यकता है वह सम्यक्त्व की। सम्यक्त्व का अर्थ है रूढ़ियो का और

परम्पराओं का सन्तुलित अथवा वैज्ञानिक परिवम। जीवन के मूल्यों में आस्था रखना मानव के सर्वतो मुखी विकास के लिए बहुत जरूरी है। आस्थावान् व्यक्ति इन मूल्यों का विश्लेषण करके तत्सबंधी ज्ञान प्राप्त करे और ज्ञान प्राप्त करके ही विरत न हो जाय, बल्कि उनका अपने जीवन मे आचरण भी करे। भगवान् महावीर ने बधन से, अज्ञान से मुक्ति का जो मार्ग बताया है वह यही है–सम्यक्त्वी बनो मिथ्यात्वी मत बनो। सम्यक् दर्शन (आस्था), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के सम्मिलित रूप से आस्थावान होकर ज्ञान के आचरण से मुक्ति प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः।

धर्मों में कोई विरोध नही हो सकता। धर्म और अधर्म में विरोध अवश्यंभावी है। धर्म ही की विजय होती है। धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। इसका भाव जगत् की सही स्थिति का आधार धर्म ही है। यतो धर्मस्ततो जय.। धर्म हो तो विजय निश्चित है।

जयन्ती के अवसर पर भगवान् महावीर के अनुसार हम सर्व धर्म समभावी हों।

—इस कामना के साथ यह लेख समाप्त होता है।

"निरर्थक शब्द भी सत्य भंग करता है अतः मौन से सत्य का पालन आसान हो सकता है।"

—गांधीजी

अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में

भगवान महावीर और महात्मा गाँधी

—भगवान् महावीर और महात्मा गाँधी के अहिंसा सम्बंधी विचारों और मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन इस लेख में प्रस्तुत किया गया है किन्तु लेखक ने केवल उसके साम्य पक्ष को ही स्पर्श किया है। गृहस्थ और साधु की अहिंसा के बीच जो एक सीमा रेखा भगवान् महावीर के दर्शन में मिलती है वह विश्व के दर्शन में कहीं भी नहीं मिलती। गांधी दर्शन में भी वह नही है। नोआखाली काण्ड के समय यह प्रश्न स्वयं गांधीजी के समक्ष उपस्थित हुआ था। आवश्यकता है इस दृष्टिकोण से भी दोनों की मान्यताओं और विचारों का अध्ययन किया जाय। —सम्पादक

प्रेमचन्द रांवका
एम० ए०, शिक्षा शास्त्री

'अहिंसा' की प्रतिष्ठा भारतीय दर्शन और आचार-शास्त्र मे प्राचीन-काल से होती आई है। गाधी जी ने अपनी अहिंसा में निश्चय ही भारतीय आर्ष ग्रन्थो की अहिंसा मान्यता का समावेश किया है। इस विषय में डा० नगेन्द्र ने 'आस्था के चरण' में लिखा है कि गाधी जी पर जैन एव बौद्ध ग्रन्थो के अतिरिक्त राम चरित मानस, मध्य युगीन सन्तो की वाणियों तथा बाइबिल का भी गहरा प्रभाव पडा। आरम्भ मे गाधीजी को अहिंसा का स्वरूप जैन साधुओ के सत्सग से प्राप्त हुआ।

'अहिंसा' जैन दर्शन की मूलभित्ति है। इसकी व्याख्या मे सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार व्रतो का भी समावेश हो जाता है। भगवान् महावीर की अहिंसा नीति से प्रभावित होकर महात्मा गाधी ने सर्व प्रथम जैनाचार के इन चार व्रतों को अपने ग्यारह सेवा व्रतो मे समाविष्ट किया।

अपनी अहिंसा की व्याख्या करते हुए महावीर ने 'आचाराग-सूत्र' मे कहा है कि संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नही चाहता। सबको अपना जीवन प्रिय है। मारना हिंसा है। यही नहीं, मारने के लिए किसी को प्रेरित या उसका अनुमोदन करना भी हिंसा ही है। महावीर ने अपने समय की जन भाषा में कहा—"अहिंसा निउणा दिट्ठा सब्ब भूएसु

संजमो"—अर्थात् प्राणी-मात्र के प्रति संयम, समता और मैत्री ही अहिंसा है । अहिंसा अपने कुटुम्ब, परिवार, समाज एवं राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है, इसकी परिधि विशाल है । इस प्रकार महावीर "सर्व जीव मैत्री" को अहिंसा मानते थे ।

'गांधी दर्शन' में भी अहिंसा और प्रेम वस्तुत: पर्यायवाची है 'गाधी विचार दोहन' मे गाधीजी लिखते हैं कि अनेक धर्मों मे जो ईश्वर को प्रेम रूप कहा है वह प्रेम और अहिंसा कोई भिन्न वस्तु नहीं । प्रेम का शुद्ध व्यापक रूप ही अहिंसा है । पर जिस प्रेम मे राग या मोह की गन्ध आती है वह अहिंसा नहीं हो सकती ।

महावीर की दृष्टि में अहिंसा की गोद मे प्राणि मात्र को सुख की सांस लेने का अधिकार है । दुःख किसी को प्रिय नहीं है । इसलिए महावीर ने कहा—किसी प्राणी की हत्या मत करो, किसी पर हुकुम मत लादो । किसी को अनुचर मानकर उसके साथ कठोर व्यवहार न करो और किसी पर बल प्रयोग भी मत करो । महावीर की अहिंसा का यह निषेधात्मक रूप है । उनकी अहिंसा के विधानात्मक रूप मे प्राणि मात्र से मैत्री, बन्धुत्व, भ्रातृभाव एवं समानता का व्यवहार आता है । जिसे वे "जीओ और जीने दो" की सज्ञा देते है । गांधी भी अहिंसा के साधको के लिए अपने से इतर प्राणियो को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न पहुँचाने की बात को ही पर्याप्त नही समझते थे । अपितु वे अन्याय, अत्याचार और शोषण का विरोध करना भी अपना कर्तव्य मानते थे । उनका यह विरोध भी अहिंसक था—जो विरोधी के प्रति भी प्रेम का ही परिचायक होता है । वे अपने शत्रु से भी प्रेम करते थे । घृणा या ईर्ष्या नही ।

महावीर और गाधी की अहिंसा नीति को समझना आजकल कुछ कठिन सा माना जाता है । महावीर के मत से अहिंसा के मार्ग पर चलने में विपत्तियों का सामना अनिवार्य होगा; पर यह अहिंसा का मार्ग रुकेगा नही । स्वयं महावीर को अपनी साधना, तपस्या एव दिनचर्या मे दुःसाध्य विपत्तिया आई; पर वे उनसे लेश मात्र भी विचलित नही हुए । गाधी ने भी सहन शक्ति को ही अहिंसा का इति रूप माना । उनका यह अहिंसा मूलक नीति कथन तो विश्व विख्यात है कि यदि कोई एक गाल पर तमाचा मारे तो उसके सामने अपना दूसरा गाल भी प्रस्तुत कर देना चाहिए । उनका यह कथन सहन शक्ति का प्रतीक है न कि कायरता का ।

कुछ लोग अहिंसा को कायरता समझते है; पर अहिंसा को कायरता कहना 'अहिंसा' से अनभिज्ञ होना है । कायरता और अहिंसा मे रात-दिन का अन्तर है । महावीर की अहिंसा कायरो की नही, अपितु वह वीरो की है । अहिंसा पर क्षमा जैसा अस्त्र वीरो को ही शोभा देता है । कायर व निर्बल मनुष्य क्या क्षमा करेगा ? समर्थवान की अहिंसा या क्षमा ही सच्ची है । क्षमा या अहिंसा तो, जिसमें वह शक्ति होगी वही कर सकेगा । शक्तिवान होते हुए भी विरोधी को छोड देना अहिंसा का अपना गुण है । "हरिजन एव यग इण्डिया" मे व्यक्त गाधी के विचारो से पता चलता है कि हिंसक मनुष्य भी वाल्मीकि की तरह किसी भी दिन अहिंसक अवश्य बन सकता है । पर कायर नही । गाधी मानते थे कि अहिंसा वीरो का धर्म है कायरो का नही । वे आत्म-रक्षा और स्त्रियो की सम्मान रक्षा के लिए आवश्यकतानुसार हिंसा के प्रयोग की भी अनुमति देते हैं ।

"न हिंसा अहिंसा"— अर्थात् हिंसक कार्यों मे प्रवृत्त न होना ही अहिंसा है । अपने भावात्मक रूप मे अहिंसा का अर्थ है प्राणि मात्र के प्रति प्रेम । स्थूल रूप मे अहिंसा से अभिप्राय है "दुष्प्रवृत्तियो से बचना और बचाना ।" इसके लिए बल-प्रयोग को

अपेक्षा हृदय शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह हृदय-शुद्धि गाधी के हृदय-परिवर्तन से साम्य रखती है। अहिंसा के इस अर्थ से वंचित लोग ही अहिंसा का प्रबल विरोध करते दिखाई देते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि अहिंसा एक व्यक्तिगत साधना मात्र है, जिसका सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपयोग नही किया जा सकता। किन्तु गाधी के शब्दो मे अहिंसा न केवल व्यक्तिगत गुण है, अपितु अन्य गुणो की तरह विकसित किया जाने वाला सामाजिक गुण भी है। स्वय गाधी ने अहिंसा को धर्म कूप से निकालकर उसका राजनीति एव आर्थिक क्षेत्र में सफल प्रयोग कर दिखाया और फिर सामाजिकी करण करके से जन जीवन के लिए अनिवार्य बना दिया।

महावीर की विविध कोटिक अहिंसा-साधना की भी कई स्थितिया हैं। नीति के रूप मे दुर्बल की अहिंसा, सिद्धात रूप मे बलवान की अहिंसा और आत्म-शुद्धि के रूप मे अपनाई गई अहिंसा-जिसमे मनुष्य भौतिक ससार से अपना कोई नाता नही रखता। तीसरा मार्ग आत्म-शुद्धि के लिए होता हुआ भी लोककल्याण की भावना से युक्त है। क्योंकि एक व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्कर्ष निश्चय ही सम्पूर्ण वातावरण को प्रभावित करता है। जो व्यक्ति स्वय आदर्शवान नही होगा, वह दूसरो के समक्ष क्या आदर्श प्रस्तुत करेगा। गाधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धात का मूल रहस्य यही है।

महावीर की तरह गाधी ने भी अपनी अहिंसा मे त्याग और तप को प्रमुखता दी और भोग का तिरस्कार किया। हिंसा पर विजय पाने के लिए आने वाले कष्टो को झेलना आवश्यक है—यही तपस्या है। इन्द्रिय और मन को जीते बिना जीवन में अहिंसा नही आ सकती। गांधी ने भी अहिंसा-भाव की प्राप्ति के लिए आत्म-शुद्धि पर बल दिया। आत्म-शुद्धि का उपाय है अहकार का पूर्ण उत्सर्ग।

'आचारांग सूत्र' के अनुसार क्रान्तिकारी तीर्थंकर महावीर ने अपने समय के सामाजिक सवर्णवाद के विरुद्ध अवर्णवाद की स्थापना की। वे समाजवादी जीवन-व्यवस्था के समर्थक थे। उनके अनुसार इसका कोई औचित्य नहीं कि एक तो क्षीणहीन जीवन बिताये और दूसरा उन पर धर्म-पुण्य कमाने के नाम पर दया दिखलावे। इसलिए महावीर ने मानव-मात्र के बीच हीनता और उच्चता की भावना के उन्मूलन का दिव्य सन्देश जनजन को दिया कि कोई व्यक्ति न सर्वथा उच्च है और न सर्वथा नीच ही हो सकता है। एक ही व्यक्ति अपने दुर्गुणो के कारण हीन और सदगुणों के कारण उच्च होता है। यही अनेकान्तता महावीर के अहिंसक दर्शन का सार है।

महावीर के समान गाँधी ने भी अपने वर्ण विभाजन मे किसी भी वर्ण विशेष को विशेषाधिकार नहीं दिया। उनकी वर्ण-व्यवस्था मे कोई भी वर्ण किसी भी रूप मे एक दूसरे से छोटा या बड़ा नही है। उन्होने अस्पृश्यता निवारण को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसे वे अहिंसा के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध मानते थे। इसीलिए उन्होंने महाजन और हरिजन को समान आदर देने का आग्रह किया।

वास्तव में महावीर और गांधी का यह अहिंसा दर्शन एकाकी विचारधारा मात्र न होकर वैचारिक एवं व्यावहारिक समन्वयवाद पर आधारित है। क्रान्तिकारी महावीर ने जिस प्रकार अपने अहिंसा मूलक दर्शन से तद्युगीन चिन्तनधारा को प्रभावित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य और कला को भी भूरिशः प्रभावित किया; उसी प्रकार कर्मयोगी गांधी ने अपनी अहिंसा भावना से युग धारा पर अमिट प्रभाव डालते हुए आज के जन-जीवन, समाज और साहित्य पर भी गहरा प्रभाव डाला है।

भगवान महावीर और महात्मा गाधी के रूप में भारतवर्ष को ऐसे दो जीवन व्याख्याता मिले,

जिन्होंने अपने समय एवं परिस्थिति के अनुसार अपने दृष्टिकोण से तत्कालीन रुग्ण एवं जीर्ण भारतीय जन-जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की और उसका यथोचित उपकार भी किया। परिणामतः भारतीय जन-जीवन को एक नवीन जीवन एवं नूतन स्वास्थ्य प्राप्त हुआ। ये दोनों ही "अहिंसा" के अलख जगाने का व्रत लेकर आये। जिसके माध्यम से इन दोनों ने विश्व के लिए अनिवार्य मानवतावादी दृष्टिकोण की अपनी शैली में व्याख्या की।

निस्सन्देह सुदीर्घकाल से चली आ रही अहिंसा की जिस परम्परा को भगवान महावीर ने विकसित किया उसका महात्मा गाधी ने पुनर्मूल्याकन प्रस्तुत किया।

"हिंसा हमारी शारीरिक और मानसिक सभी विपत्तियों का कारण है। मन को विकृत और शक्तिहीन बनाने का कारण भी हिंसा ही है। मन को पूरा शक्तिशाली बनाने के लिए मनसा वाचा कर्मणा अहिंसक होने की जरूरत है। अहिंसा से ही महान् मनस्त्व की प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा मनुष्य का वरदान है।"

—चैनसुखदास

आकाशवाणी नागपुर द्वारा प्रसारित

भगवान महावीर और बापू

राजनीति का क्षेत्र मायाचारी का क्षेत्र अति प्राचीन काल से ही समझा जाता रहा है। येन केन प्रकारेण अपने उद्देश्य की सिद्धि का प्रयत्न करना राजनीतिक का काम है। ऐसे क्षेत्र में अहिंसा और ईमानदारी को प्रवेश कराना महात्मा जी की बहुत बड़ी सफलता और देन थी। अहिंसा और सत्य के पालन के लिये महात्माजी ने दूसरों को उपदेश ही नही दिया अपितु वे जीवन भर इनको अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करते रहे और वे उसमें अधिकांशतः सफल भी हुए। अहिंसा पालन की यह प्रेरणा महात्मा जी को कहां से प्राप्त हुई, उसका मूल स्रोत कहा था यह जानकारी प्राप्त कीजिये विद्वान् लेखक के इस लेख से।

—संपादक

डॉ० भागचन्द्र भास्कर
एम० ए०, आचार्य, पी-एच० डी० (सीलोन)
अध्यक्ष, पाली प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

शतावधानी कवि रायचन्द और बापू अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने समयानुसार जन समाज में सामाजिक क्रान्ति का बीडा उठाया। उसका मूल आधार मानवता का अधिकाधिक संरक्षण करना था। लगभग २५०० वष पूर्व भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ था। समूचा भारतवर्ष उनके व्यक्तित्व और विचारों की छाया मे आ गया था। आज भी उनके अनुयायी जैन प्रत्येक प्रान्त मे फैले हुए हैं। विशेष रूप से गुजरात तो प्रारम्भ से ही जैन शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र रहा है। बापू को भी जन्म-भूमि होने का उसे सौभाग्य मिला। फलत. जैन सिद्धान्तो से बापू का प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं।

यद्यपि बापू का सारा परिवार वैष्णव सम्प्रदायी था परन्तु उस पर जैन सम्प्रदाय के आचार विचारों का भी प्रभाव कम नही था। आत्मकथा मे बापू ने स्वयं लिखा है, "गुजरात में जैन सम्प्रदाय का बडा जोर था। उसका प्रभाव हर जगह हर प्रवृत्ति में पाया जाता है इसलिए मांसाहार का जो विरोध जैसा तिरस्कार गुजरात मे जैनो तथा वैष्णवो मे दिखाई देता है वैसा भारत या अन्य देशों में और कहीं नहीं दिखाई देगा। मैं इन्ही संस्कारों मे पला था।"

बापू को धार्मिक सहिष्णु बनने का पाठ भी अपने पारिवारिक वाता-

वरण से मिला था। उनके माता-पिता अपने बच्चो के साथ वैष्णव मन्दिर जाते, शिवालय जाते, और राम मन्दिर भी जाते। इसके अतिरिक्त जैन धर्म के आचार्यो में से भी कोई न कोई आचार्य और विद्वान बापू के परिवार में आते रहते और उनमे धार्मिक तत्वचर्चा होती रहती। जैन भिक्षु भी जब आते थे तो उन्हें भिक्षा देकर सम्मानित किया जाता था। विदेश जाने के पूर्व बापू ने मासाहार, मद्यपान तथा स्त्रीगमन त्यागने की प्रतिज्ञा अपनी मां के समक्ष ली थी फिर भी मां ने स्वयं के सन्तोष के लिए जैन साधु बेचर स्वामि से सलाह ली। तब कहीं बापू को विदेश जाने की अनुमति मिल सकी। ऐसे धार्मिक वातावरण में बापू का शैशव बीता और उन्हे जैनधर्म को समीप से देखने का अवसर मिला।

स्पष्टतः बापू को जैन संस्कृति का परिवेश बाल्यावस्था से ही मिला अतः उनके प्रत्येक सिद्धांत मे जैन आचार-विचार का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। उन्होने स्वय कहा है मेरे जीवन पर तीन पुरुषो ने गहरी छापा डाली है टाल्सटाय, रस्किन और रायचन्द भाई। इन तीनो पुरुषो मे रायचन्द भाई का सर्व प्रथम स्थान देता हूं। उनसे मेरा गाढ परिचय था। उनका गंभीर शास्त्रज्ञान शुद्ध चारित्र और आत्मदर्शन की उत्कट लगन का प्रभाव मुझ पर पड़ा। उस समय यद्यपि मुझे धर्म चर्चा मे अधिक रस नही मिलता था पर रायचन्द भाई की धर्म चर्चा को पूर्ण मनोयोग से सुनता था समझता था और उसमे रुचि पूर्वक भाग लेता था। उसके बाद अनेक धर्माचार्यो के सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मुझे मिला। पर जो छापा मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई नहीं डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे और अन्तर मे उतर जाते। उनकी बुद्धि और सचाई के लिए मेरे मन मे आदर था। वे मेरे हित की ही बात कहेगे यह मैं जानता था। इसलिए अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयो मे उनका आश्रय लिया करता था।

बापू आत्मार्थी गुणग्राही और जिज्ञासु थे। वे जीवन मुक्त दशा प्राप्त करने के इच्छुक थे। दक्षिण अफ्रीका पहुचने पर उनकी यह इच्छा और बलवती हो गई। ईसाइयो के सम्पर्क से जब उन्हे हिन्दूधर्म मे शका पैदा हुई तो रायचन्द भाई से उन्होने लगभग २७ प्रश्न पूछे। उन प्रश्नो से बापू को अपार सन्तोष और शान्ति मिली। हिन्दूधर्म मे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा उनके मन को विश्वास हुआ। रायचन्द भाई के प्रति बापू की श्रद्धा भक्ति व सम्मान और भी बढ़ गया।

शतावधानी कवि रायचन्द भाई के सम्पर्क मे जैन सिद्धान्तो के विषय मे पर्याप्त जानकारी हो चुकी थी। फलतः उनका आध्यात्मिक मानस जैन सिद्धान्तो से प्रभावित हुए बिना नही रहा। जैनधर्म मे प्रतिपादित सार्वभौमिक अहिंसा की पृष्ठभूमि मे उनके प्राय. सभी आचार-विचार जागृत हुए!

जैनधर्म के अनुसार वीतरागी व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है यह बापू अच्छी तरह जानते थे। उन्होने इस सन्दर्भ मे लिखा है—बाह्याडम्बर से मनुष्य वीतरागी नही हो सकता। शुद्ध वीतरागता मे आत्मा की निर्मलता है जो अनेक जन्मो के प्रयत्न से मिल सकती है। रोगो के निकालने का प्रयत्न करने वाला जानता है कि रोग रहित होना कितना कठिन है। मोक्ष की प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जब तक जगत की एक भी वस्तु मे मन रमा है तब तक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है? अथवा लगती भी हो तो केवल कानो को ही। ठीक वैसे ही जैसे कि हमे अर्थ के समझे बिना किसी सगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। इस प्रकार की केवल कर्ण प्रिय क्रीडा मे व्यर्थ समय निकल जाता है और मोक्ष का अनुकूल आचरण पक्ष दूर होता जाता है। वस्तुतः आन्तरिक वैराग्य

के बिना मोक्ष की लगन नहीं होती। वैराग्य की इस अपूर्व दशा से मैं पूर्ण प्रभावित रहा हूं। बापू ने इसीलिए कहा था शंकर हो या विष्णु ब्रह्मा हो या इन्द्र, बुद्ध हो या सिद्ध, मेरा सिर तो उसी के आगे झुकेगा जो राग द्वेष रहित हो, जिसने काम को जीता हो और जो अहिंसा व प्रेम की प्रतिमा हो। बापू की यह धार्मिक सहिष्णुता जैन धर्म की देन थी। इस प्रसंग मे जैनाचार्य हेमचन्द्र का श्लोक स्मरण आता है जिसमे उन्होने समन्वयात्मक दृष्टि से मात्र वीतरागी और तर्क-सिद्ध भाषीको नमन करने की प्रतिज्ञा की है चाहे वह तीर्थंकर हो या अन्य कोई विचारक।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषो कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य : प्रतिग्रहः ॥

रायचन्द भाई ने बापू को धर्म की व्याख्या सकीर्णता की सीमा से हटकर सिखाई थी जिसका अनुकरण बापू ने अन्त तक किया। इस व्याख्या के अनुसार धर्म का अर्थ मतमतान्तर नहीं। वह तो आत्मा का गुण है जो मनुष्य जाति मे दृश्य अदृश्य रूप से विद्यमान है। धर्म ही स्व और पर के भेद का विभेदक है। जैन धर्म मे इसे ही भेद विज्ञान कहा है जो मुक्ति प्राप्ति का मूल कारण है।

१६ मार्च, १८६५ के एक अन्य पत्र के उत्तर मे रायचन्द भाई ने बापू को जैन धर्म के अनुसार आत्मा का स्वरूप समझाया और अन्त मे लिखा कि आत्म विचार करने की इच्छा तुमको रहा करती है यह जानकर सन्तोष हुआ। उस सन्तोष मे मेरा कुछ भी स्वार्थ नही। मात्र तुम समाधि के मार्ग पर आना चाहते हो, इस कारण संसार क्लेश से निवृत्त होने का तुमको प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार का संभावना देखकर स्वाभाविक सन्तोष होता है।

अन्य पत्रो में रायचन्द भाई ने बापू को आर्य आचार-विचार सुरक्षित रखने के सम्बन्ध मे लिखा था। आर्य आचार अर्थात् मुख्य रूप से दया, सत्य, क्षमा आदि गुणों का आचरण करना और आर्य विचार अर्था जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष के विषय में भलीभांति विचार करना। कवि ने बापू को यह भी सुझाव दिया था कि जीव दया पालने के लिए हिंसा के स्थानको में जाना-आना व अभक्ष्य भक्षण बन्द करना अत्यावश्यक है। सक्षेपतः जिस तरह सदाचार व सद्विचार का आराधन हो, वैसा आचरण करने योग्य है। यहा अभक्ष्य भक्षण न करने से तात्पर्य है मांस ग्रहण न करना। बापू ने इसका पालन दृढ़ता से अन्त तक किया। यहा तक कि कस्तूरबा की तीव्र रुग्णावस्था मे भी डाक्टर उन्हें मास नहीं दे सका। यह प्रभाव निश्चित ही जैनधर्मानुरक्त रायचन्द भाई के संसर्ग का परिणाम है।

इस प्रकार बापू को रायचन्द भाई समय-समय पर उद्बोधित करते रहते जिससे दक्षिण अफ्रीका मे अनेक अवसर आने पर भी वे अपने धर्म से विचलित नहीं होने पाये। दोनों महापुरुषों के बीच पत्राचार अन्त तक चलता रहा। रायचन्द भाई ने बापू को पुस्तकें भी भेजीं जिनका उन्होने मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। उन पुस्तकों मे पचीकरण, मणि रत्न माला, योगवासिष्ठिका, मुमुक्षु प्रकरण व हरिभद्र सूरि का षड् दर्शन समुच्चय मुख्य थी।

बापू का अध्ययन और मनन जैसे-जैसे बढ़ता गया वे अध्यात्मिक दृष्टि को राजनीति के साथ जोड़ते गये। स्वातन्त्र्य संग्राम के लिए जिस निष्काम कर्मठता की आवश्यकता थी वह निष्काम कर्मठता बापू को जैन धर्म से मिली। उनके विचार अहिंसा व अपरिग्रह से ओतप्रोत रहे। लोक कल्याण की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। सत्याग्रह के पीछे सत्य कार्य के लिए सदैव अहिंसात्मक आग्रह और असत्य कार्य के लिए निरन्तर

अहिंसात्मक असहयोग की मूल भावना थी। आत्म-नियन्त्रण, अहिंसा, दृढ़ निश्चय व अपरिग्रह ये चार सत्याग्रह के सूत्र हैं। जैन धर्म की पृष्ठभूमि में इनका उदय हुआ जान पड़ता है।

रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' के अनुवाद का नाम बापू ने सर्वोदय रखा था। इस सर्वोदय शब्द का उपयोग सर्व प्रथम जैनाचार्य समन्तभद्र ने अपने युक्त्यनुशासन में किया था—

सर्वान्तवत् तद्गुरण मुख्य कल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्त करं निरन्त,
सर्वोदयं तीर्थ मिदं तवैव ॥

यह शब्द और उसके पीछे निहित भावना बापू तक कवि रायचन्द के माध्यम से पहुँची होगी।

जैन धर्म मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच व्रत माने जाते हैं। बापू ने पाचों व्रतो का पालन अपने समूचे जीवन मे किया और उनके व्यावहारिक उपभोग की प्रक्रिया अपने निस्वार्थ कर्मठ कार्यों के माध्यम से प्रस्तुत की।

अहिंसा बापू का व्यक्तिगत आचरण था परन्तु सामाजिक समस्याओं को पूरा करने मे उसे उपकरण बनाना और राजनीतिक लक्ष्य प्राप्ति मे उसका सफल प्रयोग करना उनके ही साहस व व्यक्तित्व की विशेषता थी। वस्तु तत्त्व को समझने और विभिन्न मतो मे आदर पूर्वक समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से बापू ने जैन धर्म के महत्वपूर्ण सिद्धांत स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को आत्मकथा में समझाने का प्रयत्न किया है।

जीवन के विकास के लिए बापू ने ग्यारह नियम निर्धारित किये थे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शरीर श्रम, सर्व धर्म-समभाव और स्वदेशी। ये सभी नियम जैन सिद्धान्तो मे सरलता मे खोजे जा सकते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा बापू महामानव महावीर द्वारा प्रचारित जैन सिद्धान्तो से प्रेरित थे। यह रायचन्द भाई के ही सम्पर्क का परिणाम था। वैष्णवी होते हुए भी उनका समूचा जीवन आत्म मूलक जैन आदर्श का जीवन था। जैनधर्म किसी जाति या वर्ग विशेष का धर्म नहीं। वह तो प्राणि मात्र का धर्म है। इसी धर्म के माध्यम से बापू ने आत्मकल्याण करते हुए भारत मे स्वतन्त्रता का पुनीत दीपक जलाया और मातृभूमि के हाथो से परतन्त्रता की कठोर शृङ्खलायें भेद कर सारे विश्व मे अहिंसा की शक्ति को प्रतिष्ठित किया।

महावीर का अनेकान्त दर्शन

"केवलज्ञान सर्वतत्व प्रकाशक है और स्याद्वाद भी। दोनों में भेद केवल इतना है कि केवल ज्ञान साक्षात् रूप से सब तत्वों को जानता है और स्याद्वाद परोक्ष रूप से, स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पूर्ण दर्शी है अतः केवल ज्ञान के समान स्याद्वाद भी पूर्ण है।"

प्रो० उदयचन्द्र जैन
प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ईसा पूर्व छठी शताब्दी आध्यात्मिक अशांति का युग था। उस समय लोगो के मन मे तात्कालीन प्रचलित धर्मों और मान्यताओ के प्रति कई प्रकार की शंकाएं उठ रही थीं। वे जन्म, जरा, मरण आदि के दुःखो से छुटकारा पाने का साधन खोज रहे थे। वे एक ऐसे महा पुरुष की प्रतीक्षा मे थे जो उन्हे मोक्ष का मार्ग बतलाता, सासारिक दुःख से उन्हे बचाता और धर्म के उच्च आदर्श को उनके सामने रखकर उन्हे कल्याण का पथिक बना देता। ऐसे समय मे भगवान महावीर ने इस पवित्र भारत भूमि पर जन्म लिया था।

मानव जीवन मे आचार शुद्धि और विचार शुद्धि का सर्वाधिक महत्व है। यथार्थ में जीवन को निर्दोष और परमोच्च बनाने के लिए आचार की शुद्धि की और विचारो की शुद्धि की परम आवश्यकता है। आचार शुद्धि के लिए अहिंसा की और विचार शुद्धि के लिए अनेकान्त तथा स्याद्वाद की आवश्यकता है। भगवान महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर तीस वर्ष तक जो सहस्रो उपदेश दिये उनमें मुख्य बात अहिंसा और अनेकान्त की ही रहती थी। भगवान् महावीर के अनेकान्त दर्शन पर यहा संक्षेप मे विचार किया जायगा।

वर्तमान युग वैज्ञानिक और बौद्धिक युग है। इस युग मे प्रत्येक बात

विज्ञान और तर्क की कसौटीपर कसी जाती है और जो बात उक्त कसौटी पर खरी नहीं उतरती है उसे मानने के लिए कोई तैयार नहीं होता। सबके सामने एक ही दृष्टि है और वह है विज्ञान और तर्क की कसौटी। वर्तमान समय में प्रत्येक व्यक्ति हर एक बात को विज्ञान और तर्क की तुला पर तोलना चाहता है। इसलिए महावीर द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त दर्शन पर भी वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टिकोण से विचार करना ठीक होगा।

अनेकान्त क्या है? वह जैन दर्शन का सब से बडा सिद्धान्त है जिसकी भित्ति पर समस्त जैन तत्वज्ञान स्थित है। प्रत्येक मत के दो पहलू होते हैं—एक धर्म और दूसरा दर्शन। इनमे से धर्म का मूल आचार है और दर्शन का मूल विचार। आचार और विचार मे घनिष्ट सम्बन्ध है। विचार का प्रभाव आचार पर पडता है और आचार का प्रभाव विचार पर पडता है। आचार और विचार की तरह धर्म और दर्शन मे भी बडा गहरा सम्बन्ध है। धर्म मनुष्य को नैतिक बनाता है और दर्शन मनुष्य को विचार शील बनाता है। धर्म को दर्शन से और दर्शन को धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता है। दोनो का लक्ष्य एक है और वह है प्राणी को संसार के दुःखो से छुडाकर मुक्ति प्राप्त कराना। जैन दर्शन के जितने सिद्धान्त हैं उनमे अनेकान्त तथा अनेकान्त से सम्बन्धित स्याद्वाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

अनेकान्त दो शब्दो के मेल से बना है। ये दो शब्द हैं अनेक और अन्त। यहा अन्त शब्द का अर्थ है धर्म। प्रत्येक वस्तु मे अनेक या अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इतना कह देने से अनेकान्त दर्शन की कोई विशेषता प्रकट नहो होती है। किन्तु अनेकान्त की विशेषता इस बात मे है प्रत्येक वस्तु मे परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक धर्म युगल पाये जाते हैं। अनेकान्त का ठीक स्वरूप निम्न प्रकार है—

यदेव तत् तदेव अतत, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम्, प्रत्येक वस्तु वस्तुत्वनिष्पादक परस्पर विरुद्धशक्ति द्वयप्रकाशनमनेकान्त.। अर्थात् जो वस्तु तत् है वही अतत् भी है आदि। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु मे वस्तुतत्व के कारण भूत परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगलो को प्रकाशित करता है। अनेकान्त के स्वरूप को निम्न प्रकार से भी बतलाया गया है—

सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।

अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने का नाम अनेकान्त मे परस्पर विरोधी पतीत होने वाले दो धर्मों की मुख्यता रहती है। तथा वस्तु मे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मो के अनेक युगल पाये जाते हैं जैसे नित्य अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि। वस्तु केवल अनेक धर्मों का पिण्ड ही नही है किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक धर्म युगलो का पिण्ड है। वस्तु का वस्तुत्व विरोधी धर्मों के अस्तित्व मे है। यदि वस्तु मे विरोधी धर्म न रहे तो उसका वस्तुत्व ही समाप्त होजाय। यदि वस्तु सर्वथा एक रूप हो तो वह कुछ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकेगी और अर्थक्रिया के अभाव मे वह वस्तु रह ही कैसे सकती है।

एकान्त वादियो की समझ मे यह बात आती ही नही कि वस्तु मे अनेक विरोधी धर्म पाये जाते हैं। वे सोचते है कि वस्तु मे विरोधी धर्मों का होना तो नितान्त असंभव है। उनके ऐसा मानने का कारण उनका दुराग्रह ही है। वे एकान्त वाद के आवेश मे वस्तु को एकान्त रूप ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। इस विषय मे हरिभद्र सूरि ने ठीक ही कहा है—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र
तत्र मति रेति निवेशम् ॥

अर्थात् दुराग्रही व्यक्ति की जिस विषय मे मति होती है उसी विषय में वह युक्ति को लगाता है, किन्तु पक्षपात रहित व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है जो युक्ति सिद्ध होती है।

एकान्तवादी कहते हैं कि जो वस्तु सत् है वह असत् कैसे हो सकती है जो वस्तु नित्य है वह अनित्य कैसे हो सकती है। सत् वस्तु के असत् होने मे उन्हे विरोध आदि दोष प्रतीत होते हैं। ऐसा कहनेवालो को आप्तमीमासा के निम्न श्लोक पर ध्यान देना चाहिए—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

अर्थात् स्वरूप आदि चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा से सब वस्तुओ को सत् कौन नही मानेगा और पर रूप आदि चतुष्टय की अपेक्षा से उनको असत् कौन नही मानेगा। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव मे किसी भी तत्व की व्यवस्था नही हो सकती है।

अनेकान्त दर्शन की आवश्यकता।

वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए अनेकान्त दर्शन की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु या बात को ठीक ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठपूर्ण विचार या एकान्त अभिनिवेश लादने से बड़े-बड़े अनर्थों की सभावना रहती है। यथार्थ में अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। एकान्तवादी मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अश को ही पूर्ण मान बैठता है और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है, इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं और एक मत का दूसरे मत से विरोध उत्पन्न हो जाता है। किन्तु अनेकान्त उस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय करता है। ऐसे अनेकान्त को शतशः प्रणाम हो। कहा भी है—

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

अर्थात् परमागम के बीज स्वरूप, जन्मान्ध-पुरुषो का हाथी के विषय मे विधान (एकान्त दृष्टि) का निषेध करने वाले और एकान्तवादियो के विरोध को दूर करने वाले अनेकान्त को नमस्कार हो।

अनेकान्त दर्शन विचारो की शुद्धि करता है। वह मानवो के मस्तिष्क से दूषित विचारो को दूर कर शुद्ध एवं सत्य विचार के लिए प्रत्येक मनुष्य का आह्वान करता है। वह कहता है कि वस्तु विराट् है, अनन्तधर्मात्मक है। यदि संसार के राजनीतिज्ञ भी अनेकान्त दर्शन को ठीक तरह से समझ लें तो संभव है कि ससार मे सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाय। क्योकि अनेकान्त दर्शन द्वारा धर्म समता की तरह मानव समता का भी बोध हो सकता है और मानव समता का ज्ञान होने से सब झगडो का सदा के लिए अन्त हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही है। इसलिए वस्तु स्थिति का ठीक ठीक प्रतिपादन करने वाले अनेकान्त दर्शन की संसार को अत्यन्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। स्याद्वाद उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन करने का साधन या उपाय है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द पर्यायवाची नही हैं। स्याद्वाद यह संयुक्तपद है। स्यात् और वाद इन दो शब्दों के

मेल से स्याद्वाद पद बनता है। स्याद्वाद पद में जो स्यात् शब्द है उसका ठीक-ठीक अर्थ समझना आवश्यक है। कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं तो कोई संभावना। स्यात् का अर्थ शायद करके कोई स्याद्वाद को सन्देहवाद कहते हैं तो कोई उसको संभावनावाद कहते हैं। ऐसे लोगो को यह जान लेना आवश्यक है कि स्यात् शब्द तिङन्त नही है किन्तु एक निपात है। वह सन्देह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। स्यात् शब्द के अर्थ को विधिवत् समझने के लिए जैन शास्त्रो पर दृष्टि डालने का कष्ट अवश्य करना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा मे स्यात् शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से किया हैः—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्तव केवलिनामपि ॥

स्यात् शब्द के विषय में पहली बात यह है कि वह निपात है, दूसरी बात यह है कि वह एकान्त का निराकरण करके अनेकान्त का प्रतिपादन करता है। वह एक निश्चित अपेक्षा को बतलाता है। उसका अर्थ अनिश्चय या संशय नही है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। शब्द के द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन एक ही समय मे संभव नहीं है क्योकि शब्दो की शक्ति नियत है। वे एक समय मे एक ही धर्म को कह सकते हैं। अनेक धर्मात्मक वस्तु का शब्द के द्वारा प्रतिपादन क्रम से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त वस्तु के प्रतिपादन करने का और कोई उपाय नही है। स्याद्वाद के बिना वस्तु का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार दधि मन्थन करने वाली गोपी रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन कर इष्ट तत्त्व घृत की प्राप्त करती है। स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण के द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि करती है। कहा भी हैः—

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

समन्वय का मार्ग स्याद्वाद

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय हमारे सामने उपस्थित करता है। वह अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को मानकर परस्पर में विवाद करने वाले लोगो मे समझौता कराने मे समर्थ है। किसी भी वस्तु को यदि पूर्णरूप से समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से उसका निरीक्षण करना आवश्यक है। क्योकि ऐसा किये बिना वस्तु का पूर्णरूप समझ मे नही आ सकता। जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धांत भिन्न-भिन्न मतभेदो को दूर करने में सर्वथा समर्थ है। सब धर्मों के सिद्धांतो का समन्वय करने के लिए स्याद्वाद सिद्धांत अत्यन्त उपयोगी है। इस प्रकार स्याद्वाद हमारे सामने समन्वय का मार्ग उपस्थित करता है।

स्याद्वाद का सिद्धान्त सुव्यवस्थित, परिमार्जित एवं आवश्यक है। यह न अनिश्चित वाद है और न संदिग्धवाद। अनेक धर्मात्मक वस्तु की ठीक-ठीक व्यवस्था करने के कारण स्याद्वाद सुव्यवस्थित है। सुव्यवस्थित होने के साथ साथ वह व्यावहारिक भी है। इसके बिना लोक व्यवहार नही चल सकता। स्याद्वाद जैन दर्शन एवं जैन तत्त्व ज्ञान की नींव है। यह वैज्ञानिक और युक्तियुक्त है। भगवान् महावीर ने इसी स्याद्वाद का उपदेश दिया है। आचार्यों ने स्याद्वाद के मूल्य को समझा है और उसे केवल ज्ञान के समान बतलाया है।

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥

केवल ज्ञान सर्व तत्त्व प्रकाशक है और स्याद्वाद भी। दोनो मे भेद केवल इतना है कि केवल ज्ञान साक्षात् रूप से सब तत्त्वो को जानता है और स्याद्वाद परोक्ष रूप से। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण पूर्णदर्शी है। अतः केवलज्ञान के समान स्याद्वाद भी पूर्ण है।

महामानव महावीर

"......उस समय (आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व) मानव का अंकन जातीयता व अर्थ के आधार पर होता था। विवश मनुष्य का मूल्य एक पशु से अधिक नहीं था। वह पशुओं की भांति बाजार में बेचा जाता था। धन ही धर्म का हेतु हो रहा था.....महामानव महावीर ने ऐसे अवसर पर राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया और.......।"

मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'

महापुरुषों द्वारा नया विचार समाज को दिया जाता है। उससे रूढ़ विचारों का परिष्कार होता है और कुण्ठाओं का उन्मूलन होकर जीवन सतुलित होता है। किन्तु कुछ समय बाद वे ही विचार नये प्रवाह के अभाव में पुनः प्राचीनता की परत के नीचे दब जाते हैं। यह क्रम अनवरत चलता हुआ महामानव की अनिवार्यता को अनुभूत करा देता है। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भी समाज की ऐसी ही रूढ़ स्थिति थी। उस समय मानव का अकन जातीयता व अर्थ के आधार पर होता था। विवश मनुष्य का मूल्य एक पशु से अधिक नहीं था। वह पशुओं की भांति बाजार मे बेचा जाता था। 'धनमेव अशेष धर्म हेतु ?'-धन ही धर्म का हेतु हो रहा था, अतः दीन व्यक्ति के परित्राण का निमित्त नियति के हाथों में चला गया था। धर्म-स्थान साम्प्रदायिक अभिनिवेश के स्थल बन चुके थे। उनके बाहर सत्य की उपलब्धि आकाश-कुसुम थी। महामानव महावीर ने ऐसे अवसर पर ही राजा सिद्धार्थ के घर जन्म लिया। तीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने तथाकथित धर्माचार्यों द्वारा होने वाले धर्म के उपहास को देखा। मानव की विडम्बनाओं का लेखा-जोखा लिया। उनका मानस रूढ़ परम्पराओं एवं जीवन की कुण्ठाओं के प्रति सजग हुआ। वे किसी से कुछ कहें, समाज में आंदोलन करें, उससे पूर्व उन्होंने अपने को साधने की

अपेक्षा अनुभूत की। राजकीय वैभव का परित्याग कर वे अकिंचन भिक्षु बने और साढे बारह वर्ष तक कठोर साधना के माध्यम से उन्होंने स्वय को निखारा। अनुभूतियो की परिपक्वता एवं प्रभाव की पर्याप्त विस्तृति के अनन्तर उन्होंने मानवता की प्रतिष्ठापना के लिए ठोस उपक्रम आरम्भ किए।

सत्य पैतृक धरोहर नहीं

साम्प्रदायिक अभिनिवेश चरमसीमा पर था। सम्प्रदाय-विशेष की बिना दीक्षा के अध्यात्म के द्वार मे प्रवेश ही निषिद्ध था, अत. साधना का तो प्रश्न ही नही उठ सकता था। सत्य मुक्त न रहकर सम्प्रदाय-विशेष की धरोहर हो गया था। महामानव महावीर ने सबसे पहले इसी कडी पर प्रहार किया। उन्होंने सत्य की उपलब्धि तथा साधना मे मन की एकाग्रता को अनिवार्य माना, पर सम्प्रदाय-विशेष की दीक्षा को नहीं। यद्यपि उनके पास हजारों साधु और साध्वियो का वृहत् सघ था और एक व्यवस्थित क्रम से वहा साधना की जाती थी, पर उस सघ की सीमा से बाहर सत्य है ही नहीं, यह उनकी मान्यता नही थी। उनकी स्पष्ट घोषणा थी, सघीय वेश-भूषा से दूर रहने वाला व्यक्ति भी देह-मुक्त बन सकता है। अन्य सम्प्रदायो की वेश-भूषा को भी साधना की निर्मलता मे उन्होंने बाधक नही माना। उनका चिन्तन तो इससे भी आगे था। गृहस्थ वेष मे रहने वाला व्यक्ति भी जल मे कमल की भाति रहकर मुक्त हो सकता है। जिसने कभी धर्म को सुना भी नहीं, वह भी मानसिक एकाग्रता तथा तपस्या के माध्यम से वीतरागता तक पहुच सकता है। किसी घटना विशेष से प्रतिबुद्ध होकर बिना किसी गुरु-परम्परा में दीक्षित हुए भी साधना के अन्तिम छोर को पाया जा सकता है। महामानव महावीर की यह उद्घोषणा सत्य को पैतृक धरोहर से मुक्त करने मे सफल हुई। श्रमण व वैदिक सम्प्रदायों के तात्कालीन धर्माचार्यों के समक्ष यह एक महान् चुनौती थी।

सापेक्ष दृष्टि

सत्य शब्दातीत होता है। वह अनुभूति का ही विषय है। वाच्यता मे उसका एक अश ही ग्राह्य होता है। बहुधा व्यक्ति उस एक अश को ही पूर्ण मानकर आग्रहशील हो जाता है। सत्य पर उस समय अभिनिवेश का मुखौटा लग जाता है और विवादों का जन्म यही से हो जाता है। महामानव महावीर ने इसके लिए सापेक्ष दृष्टि दी। उन्होंने श्रोता और वक्ता, दोनो को बाह्य अश को अन्य अशो से निरपेक्ष न करने का चिन्तन दिया। इसका फलितार्थ हुआ, जो मेरा है, केवल वही सत्य नही है, अपितु दूसरो के पास जो है, वह भी सत्य हो सकता है। पूर्ण सत्य अनुभूति का ही विषय है, शब्द-गोचर नहीं। व्यक्ति शब्दों से ऊपर उठकर अन्तस्थ का पर्यवेक्षण करे। सौहार्द, सौजन्य तथा विचार-सहिष्णुता का मार्ग स्वय प्रशस्त होता है और इसमे सबके प्रति सहज समता का उदय होता है। मतभेदो के निरसन का तथा मैत्री की वृद्धि का इससे सुन्दर कोई प्रकार नहीं हो सकता था।

समता का व्यवहार

धर्म-स्थानो पर सत्ता व सम्पत्ति का प्रभुत्व छा चुका था। गरीब साधनो के अभाव मे इस जीवन मे भी दुःख का अनुभव कर रहे थे और उन्हे धर्म का अधिकार न मिलने से पर-जीवन का सम्बल भी उनसे दूर हो रहा था। महामानव महावीर ने इसके प्रतिकार मे सक्रिय कदम उठाया। उन्होंने अपने उपदेशों के साथ-साथ व्यावहारिक प्रयोग भी किए। एक बार मगध-सम्राट श्रेणिक ने अपने नरक-गमन की अनिवार्यता को दूर करने का महावीर से उपाय पूछा। महावीर ने कहा—"पौनी कातकर आजीविका चलाने वाला श्रावक पूणिया अपनी एक सामायक यदि तुझे मोल दे दे तो नरक-गमन टल सकता है।" श्रेणिक पूणिया के घर गया, पर वह पूणिया श्रावक से एक सामायक भी

खरीद न सका। सत्ता व सम्पत्ति का एकछत्र सम्राट गरीब श्रावक के घर से खाली हाथ लौटा। साधना के क्षेत्र मे यह प्रयोग देखकर सत्ता व सम्पत्ति का सिंहासन तब से हिल उठा। 'समया सव्व भूयेसु'— सब प्राणियो मे समता के व्यवहार का यह मूर्त उदाहरण था।

दास-प्रथा

उन दिनो दास-प्रथा ने भी मानवता का गला घोंट रखा था। अभावग्रस्त तथा परिस्थितियो से विवश मनुष्य को यातनामय जीवन जीना होता था। एक बार जो दास बन गया, जीवन-भर उसकी मुक्ति का कोई मार्ग नही था। महामानव महावीर ने इस प्रथा के विरुद्ध भी आवाज उठाई। उस आवाज मे साधना का ओज था, अतः सफलता भी सुगमता से मिली। विचार-क्रान्ति के साथ-साथ उन्होने उसे व्यावहारिक रूप भी दिया। कोशाम्बी के सघन बाजार मे कुछ ही दिनो मे दो-दो बार बिकने वाली दासी चन्दनबाला को उन्होने अपने सघ की छत्तीस हजार साध्वियों मे सर्वोच्च स्थान [प्रवर्तिनी पद] प्रदान कर दासो को गौरवान्वित किया और सदा के लिए समाज से उस प्रथा को हटाने मे सफल हुए।

अछूत-समस्या

दलित, परिगणित व अनुसूचित जातियो की भी दयनीय स्थिति थी। व्यक्ति की उच्चता व अवनतता का आधार कर्म न होकर कुल था। वश-परम्परा ही व्यक्ति का मानदण्ड थी। जातीयता मानवीय उच्चताओ को निगल रही थी। उस समय महामानव महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे उद्घोषणा की:—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइकम्मुणा॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने कर्म से होते हैं, जन्म से नहीं। तात्कालीन परिस्थितियो में एक विद्रोही भावना जगी। महावीर का खुला विरोध किया गया। उन्हें नास्तिक कह कर अवमानित करने का असफल प्रयत्न किया गया। किन्तु आश्चर्य था, विरोध स्वयं हतप्रभ हुआ और जातीयता को प्रधानता देने वाले हजारो ब्राह्मण-पुत्र तथा शौच धर्म को सर्वोच्च मानने वाले हजारो सन्यासियों ने उनके धर्म-सघ में दीक्षित होकर अग्रणी स्थान प्राप्त किया। महावीर ने अपने सघ मे राजकुमारो, श्रेष्ठि-पुत्रों और ब्राह्मण-पुत्रो को दीक्षित कर सम-भूमिका प्रदान की तो हरिकेशी जैसे चाण्डाल-पुत्र को भी साधना का समान अवसर प्रदान कर जातीयता के गौरव को निरस्त किया। महावीर के आदर्श केवल वाणी तक ही सीमित नही थे, अपितु व्यवहार-क्षेत्र मे भी उतरे हुए थे।

महावीर ने मानवीय समस्याओ का अकन किया और उन्हे अध्यात्म के सहारे समाहित करने का उपक्रम किया। सामाजिक विषमताओ के उन्मूलन को उन्होंने अपनी साधना का ही अंग माना। इसीलिए करोड़ो आत्माओ के वे भगवान बने। उनकी भगवत्ता मे उनकी महामानवता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब था, अतः जनमानस पच्चीस शताब्दियो से उनकी स्मृति मे अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ा रहा है तथा भविष्य मे अनगिन शताब्दियों तक वह चढ़ाता भी रहेगा।

भजन

(तर्ज—मन साफ तेरा है या नही पूछ ले जी से)

महावीर का कर ध्यान ओ नादान खुशी से ।
हो जायगा कल्याण सुना दे यह सभी से ।।

उपदेश जो श्री वीर ने दुनियाँ को दिया था,
गाफिल जनों को नींद से हुशियार किया था ।

फिर होम से पशुओं को बचाया था बली से ।। महावीर ।।

समता, सरल स्वभाव का सन्देश सुनाया ।
घर घर पर अहिंसा धर्म का था मर्म बताया ।

उनको लगाया राह जो भूले थे कभी से ।। महावीर. ।।

क्यों मुफ्त में रोता है तू नादान हुआ है,
उनकी सी राह देख क्यों हैरान हुआ है ।

अब भी समय को देख हो होशियार अभी से ।। महावीर ।।

दिल से जो कोई उसको सदा याद करेगा,
निश्चय है कष्ट से नहीं वो नेक डरेगा ।

"पङ्कज" की आरजू है फकत एक उसी से ।। महावीर. ।।

> '......धर्म उसे कहना चाहिये जिसमें अधर्म का तनिक भी संसर्ग न हो, सुख उसे समझना चाहिये जिसमें दुख की संभावना तक न हो, ज्ञान उसे जानना चाहिये जो अज्ञान से सम्प्रक्त न हो और गति वह है जहा से फिर आने का चक्कर न हो।......"

अप्रतिहत शक्ति भगवान् महावीर

प्रो० अमृतलाल शास्त्री
साहित्य आचार्य, जैन दर्शनाचार्य
प्राध्यापक संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी

इस युग के प्रारम्भ मे प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव ने अपने जन्म से अयोध्यापुरी को पवित्र किया था। इनका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत (स्क० ५, अ० २-६) में भी समुपलब्ध है। इन्ही के पौत्र मरीचि, जो धर्म-प्राण भारतवर्ष के प्रथम सम्राट भरत के ज्येष्ठ पुत्र रहे, अनेक जन्म लेने के उपरान्त चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हुए। जैन वाङ्मय मे इनके चार अन्य नाम भी व्यवहृत हैं—वर्धमान, सन्मति, वीर और अतिवीर, पर इतिहास लेखकों ने अपने ग्रन्थों मे प्रायः महावीर नाम का उल्लेख किया है, जो सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित है।

गर्भावस्था से जीवन के अन्त तक देहधारियो के सामने न जाने कितनी भीषण बाधाएं आया करती हैं, जो उनकी शक्ति को प्रतिहत करके उन्हें सन्मार्ग से विचलित होने को बाध्य कर देती हैं, पर भ० महावीर के बहत्तर वर्ष के जीवन काल में आदि से अन्त तक ऐसी एक भी बाधा उनके सामने नहीं आयी, जो उनकी शक्ति को कुण्ठित करके उनके दृढ़ निश्चय पर तनिक भी प्रभाव डाल सकी हो।

—भ० महावीर स्वयम्बुद्ध थे। उनके विशिष्ट ज्ञान को देखकर उस समय के विशिष्ट विद्वान भी आश्चर्य की अनुभूति करते रहे। विजय और

संजय नाम के दो चारणधारी मुनियो के मन मे एक शास्त्रीय शङ्का थी। उसका सटीक समाधान उन्हे भ० महावीर के अवलोकन मात्र से प्राप्त हुआ था, फलतः उन्होंने इनका सन्मति नाम रख दिया। विषधर सर्प से भी भयभीत न होने के कारण लोग उन्हें वीर कहने लगे।

भ० महावीर जन्म से ही अनुपम सुन्दर थे। यौवन के आते ही उनमे और भी निखार आ गया। उनके दिव्यदेह की ऊचाई सात हाथ थी। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक एव प्रभावशाली था।

उनके माता-पिता उनके विवाह हेतु कन्या की तलाश करने लगे। अनेक राजे-महाराजे इसी विषय को लेकर राजा सिद्धार्थ के पास आये। माता-पिता परिणयन के पश्चात् भ० महावीर को राज्य सौंपना चाहते थे, पर वे इन दोनो कार्यों के लिए तैयार नहीं हुए। मा के अत्यधिक आग्रह को भी उन्होने स्वीकार नही किया। अतः विवाह का बन्धन उन्हे बाध न सका। यौवन मे काम पर विजय पाना टेढी खीर है। युवक अन्य प्रतिद्वन्द्वियो को जीत सकता है पर वह स्वय काम के द्वारा जीत लिया जाता है। भ० महावीर इसके अपवाद रहे अतः प्रजा के व्यक्ति इन्हे अतिवीर कहने लगे।

तीस वर्ष की भरी जवानी मे भ० महावीर ने घर छोड दिया और निर्जन वन मे जाकर ईसा से ५६६ वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन दीक्षा ले ली।

दीक्षा के उपरान्त लगातार बारह वर्षों तक भ० महावीर ने घोर तपश्चरण किया। कडाके की सर्दी, गर्मी और बरसात मे भी वे तपश्चरण के मार्ग से विचलित नही हुए।

जब शीतलहरी की मात्रा प्रबल हो जाती है तब रात भर के बिछुड़े चकवा-चकवी शरीर के अकड जाने से प्रभात की मिलन वेला मे इच्छा रहते हुए भी अपने-अपने स्नेह को व्यक्त नही कर पाते। भूखे हस शैवाल को चोंचो मे दबाते ही छोड देते है। बर्फ जैसी शीतलता के कारण वह उनके गले के अन्दर नही पहुँच पाती। हाथी धूलि को उठा कर भी अपने शरीर पर नही डाल पाते। सिंह पजों की अकडन के कारण सामने आये हुए हाथी पर भी आक्रमण नही कर पाता। हिरण भूख से व्याकुल होकर भी हरी घास खाने मे असमर्थ हो जाते हैं।

भीष्म ग्रीष्म के समय प्रचण्ड मार्तण्ड अपनी प्रखर किरणों से सारी पृथिवी को चूल्हे पर चढे हुए तवा की भाति गरम कर देता है। आकाश से आग बरसने लगती है। अनिल और अनल एक जैसे प्रतीत होने लगते हैं। जलाशयो का जल काढे की तरह खौलने लगता है।

पावस के मौसम मे मेघ अपनी इच्छानुसार कभी फूल बरसाते है तो कभी पत्थर और अग्नि भी। उपलवृष्टि कभी इतनी जोर की होती है कि भीम काय हाथियों की भी हड्डिया चटक जाती है। नदियो मे इतनी बाढ़ आ जाती है कि मछलिया भी उन्नत वृक्षों की शाखाओं तक पहुँच जाती है। झझावात बडे बडे पहाडो के शिखरों को भी हिला देता है और वृक्षो को अपने साथ उड़ा ले जाता है। रात्रि के समय अन्धकार इतना गाढ हो जाता है कि उसमे सुई की नोक भी नही कोची जा सकती। मूसलाधार वर्षा सारी पृथिवी को जल-मयी बना डालती है।

इस तरह के तीनो मौसम भ० महावीर के तपश्चरणकाल मे बारह बार आये पर उनके ऊपर तनिक भी विपरीत प्रभाव नही डाल सके। वे ऐसे मौसमो मे भी अप्रतिहत शक्ति बने रहे।

इस तरह के घोर तपश्चरण की अग्नि मे पड़ कर भ० महावीर का आत्मा कचन की भाति निर्मल एवं पवित्र हो गया। फलत. ई० से ५५७

वर्ष पूर्व वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भ० महावीर को केवल ज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति हुई। ग्राभ्यन्तर शत्रु-चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त करने पर उन्हे यह सफलता मिली, ग्रतः ग्रब उनका महावीर नाम पड गया।

पूर्णज्ञान की प्राप्ति होने पर तीर्थङ्करों की देशना प्रारम्भ हो जाती है, पर योग्य शिष्य के ग्रभाव मे भ० महावीर की देशना प्रारम्भ नही हुई, ग्रौर ६६ दिनों तक वे मौन पूर्वक विहार करते रहे।

विहार करते-करते वे मगध की राजधानी राजगृही मे पहुँचे ग्रौर वहां उन्होने विपुलाचल की ग्रधित्यका को ग्रलङ्कृत किया। इस शुभ समाचार को सुनते ही राजा श्रेणिक (बिम्बसार) ग्रौर उनके प्रजाजनों ने उनके दर्शनो के लिए ग्रपने ग्रपने स्थान से प्रस्थान कर दिया। भ० महावीर की सर्वज्ञता की बात को सुनकर वहा के प्रतिभाशाली महान् विद्वान् इन्द्रभूति गौतम को, जो ब्राह्मण थे, विश्वास नही हुग्रा, फलत. वे भी उनकी सर्वज्ञता को परखने के लिए जीवतत्व विषयक जटिल शङ्काग्रो को लेकर ग्रपने पाच सौ शिष्यो के साथ विपुलाचल पर गये। उन्हे ग्राते देख कर भ० महावीर ने दूर से ही कहा-ग्राग्रो गौतम, ग्राग्रो ! गौतम सोचने लगे कि ग्रास पास मे बैठे हुए किसी स्थानीय व्यक्ति से उन्हे मेरा सगोत्र नाम ज्ञात हुग्रा होगा। पास मे जाकर ज्यों ही वे बैठे त्यो ही भ० महावीर ने बिना पूछे ही उनकी शङ्काग्रो को बतलाकर उनका विस्तृत सटीक समाधान दे दिया। इससे गौतम इतने ग्रधिक प्रभावित हुए कि तत्काल ही उनके शिष्य बन कर दीक्षित हो गये। इनके पश्चात् वायुभूति, ग्रग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, ग्रकम्पन, ग्रन्धवेला ग्रौर प्रभास भी शिष्य बन गये ग्रौर दीक्षा ग्रहण कर ली। इन ग्यारह शिष्यों-गणधरों मे प्राधान्य गौतम को प्राप्त हुग्रा। इसीलिए प्रवचन के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण मे भ० महावीर के बाद उन्हीं को मङ्गल रूप में स्मरण किया जाता है, जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोक से स्पष्ट है—

'मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

इसके उपरान्त श्रावण कृष्णा प्रतिपद् के पूर्वाह्न की मङ्गलवेला मे ग्रभिजित नक्षत्र मे भ० महावीर की प्रथम देशना वही पर हुई। लोकहिताय भ० महावीर की यह देशना उनकी बयालीस वर्ष की ग्रायु से बहत्तर वर्ष की ग्रायु पर्यन्त यत्र-तत्र लगातार तीस वर्षो तक चालू रही।

इस देशना का संकलन भ० महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने किया, जो ग्राज द्वादशाङ्गवाणी या विपुल जैन वाङ्मय के रूप में समुपलब्ध है।

भ० महावीर ने ग्रपनी देशना मे बतलाया कि सभी प्राणी सुख के ग्रभिलापी होते हैं ग्रौर उसी के लिए वे सतत प्रयत्नशील भी रहते हैं। दुःख किसी को भी इष्ट नही होता। ग्रतः मानव को ऐसा कोई काम नही करना चाहिए जिससे किसी को दुःख हो। सर्वाधिक दुःख का कारण हिंसा है, ग्रतः हिंसा सभी पापो से बढ़कर है। जो ग्राज दूसरे प्राणी की हत्या करता है, वही ग्रागे जाकर उसके द्वारा मारा जाता है। पाप का फल इस जन्म के साथ ग्रगले जन्मो मे भी भोगना पडता है। ग्रतः हिंस्य के साथ हिंसक भी दुःख का पात्र बनता है। केवल हिंसा का परित्याग करने से झूठ, चोरी, व्यभिचार एवं ग्रतिसंचय जैसे पापो से भी छुटकारा मिल जाता है; क्योंकि जिसके बारे में ग्रसत्य बात कही जायगी, जिसका धन—बाह्यप्राण चुराया जायगा ग्रौर जिसकी बहू-बेटी के साथ व्यभिचार किया जायगा, उसे घोर कष्ट होगा, जो हिंसा ही तो है। पूर्व संचय के बावजूद

भी जो धनिक लोभवश, बाजार में आये हुए माल को अत्यधिक मात्रा में खरीद कर रख लेगा वह अवश्य ही उस माल की मंहगाई का कारण बनेगा, इससे निर्धन व्यक्तियों को कष्ट हुए बिना नही रहेगा। अतः मानव जाति को सुखी बनाने के लिए हिंसा का मनसा वाचा कर्मणा परित्याग किया जाना चाहिए।

जिन वस्तुओं के खान-पान से हिंसा हो वे भी सर्वथा त्याज्य हैं। मास बिना हत्या किये प्राप्त नहीं हो सकता। मांस कच्चा हो या अग्नि पर पकाया गया हो, पर उसमे प्रतिपल असख्य सूक्ष्म जीव उत्पन्न हुआ करते है, अतः मास की जरा भी डली के भक्षण करने से एक ही साथ अगणित प्राणियो का घात हो जाता है। मद्य का निर्माण अनेक मादक वस्तुओ को सडा कर किया जाता है, अतः इसमे अगणित जीवो की राशिया उत्पन्न हो जाती हैं, फलत. एक बिन्दु मद्य के पान करने से भो असीम जीवों का विनाश हो जाता है। हिंसा के अतिरिक्त भी मद्य-मास के सेवन से दोष होते हैं, जो शराबियो और कवाबियो को पतन के गर्त में गिरा देते हैं। शहद मधुमक्खियों का वमन है। यह जिस छाते को निचोडकर निकाली जाती है, उसमें मधुमक्खियो के करोडो अण्डे भी होते है, निचोड़ने से उन सब का संहार हो जाता है। बड पीपल, पाकर; कठूमद और अजीर आदि क्षीरं वृक्षो के फलो मे असख्य जीव रहते है, जो प्रत्यक्षगोचर होते हैं, अतः इनके सेवन करने वाले हिंसा से लिप्त हो जाते हैं। अनगालित जल के पीने से उसमे रहने वाले जीवो को हिंसा हो जाती है। रात्रि में सावधानी बरतने पर भी न जाने कितने जीव भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं। इससे उनकी हिंसा हो जाती है और भोजन करने वाले अनेक रोगो के शिकार भी बन जाते है। मांस आदि उक्त वस्तुओं के परित्याग को मूल गुण कहते हैं। जैसे जड के बिना वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार इन मूल गुणो के बिना मानव में सच्चा मानव नही हो पाता।

हिंसात्मक धार्मिक अनुष्ठान अपनी पवित्रता से वञ्चित हो जाते हैं और उनका फल भी जैसा सोचा जाता है उसमे सर्वथा विपरीत ही होता है।

'ज्ञान के बाब से घिरे हुए, ब्रह्मचर्य और दया के जल से भरे हुए, पाप के मैल को हटाने वाले अत्यन्त निर्मल आत्म-तीर्थ मे स्नान करके इन्द्रिय-दमन की वायु से प्रज्वलित जीवकुण्डस्थ ध्यानाग्नि मे असत्कर्मों की आहुति देकर उत्तम कोटि का अग्नि होत्र किया जाना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों को नष्ट करने वाले दुष्ट कषाय रूपी पशुओं मे शम-मन्त्रो के उच्चारण के साथ यज्ञ होना चाहिए, जो कि विद्वानो द्वारा विहित है।'—यह उचित है; क्योकि जो धार्मिक अनुष्ठानो मे हिंसा मे धर्म की कामना किया करते हैं वे जहरीले काले नाग के मुख के ऊपरी भाग मे स्थित विष की पोटली से सुधावृष्टि की इच्छा करते हैं।

धर्म उसे कहना चाहिए, जिसमे अधर्म का तनिक भी ससर्ग न हो, सुख उसे समझना चाहिए, जिसमे दु.ख की सभावना तक न हो, ज्ञान उसे जानना चाहिए, जो अज्ञान से सयुक्त न हो और गति वह है जहां फिर आने का चक्कर न हो।

यों सारे आकाश मे जीव राशि व्याप्त है, इसलिए उठते-बैठते, चलते-फिरते हिंसा हो जाया करती है फिर भी यत्न पूर्वक ऐसे ढग से चले-फिरे उठे-बैठे जिससे हिंसा से बचाव हो सके। हिंसा भावना नही होती, वह हिंसा के दोष से बच जाता है।

वैचारिक हिंसा भी हिंसा है। उससे बचने का उपाय स्याद्वाद है। जगत् की छोटी या बड़ी चेतन या अचेतन सभी वस्तुए नानाधर्मात्मक है, इसीलिए उनकी सार्थक संज्ञा अनेकान्त है। अन्त शब्द का

अर्थ धर्म भी होता है। किसी एक धर्म की विवक्षा से उसका कथन करना, एवं अन्य धर्मों का निषेध न करना स्याद्वाद है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' नहीं है। एक व्यक्ति अपने पिता का पुत्र है, पर अपने पुत्र का पिता भी तो है। पिता के सामने वह पुत्र ही है और पुत्र के सामने पिता ही। अतएव उसे शायद पिता हैं या शायद पुत्र है-यह कहना सही नहीं है, क्योंकि वह अपने पिता का पुत्र ही है और पुत्र का पिता ही है। यह पिता ही है, पुत्र नहीं है किसी भी दृष्टि से-ऐसा नहीं कहा जा सकता अन्यथा लोक व्यवहार भी नहीं चल सकेगा जैसा कि सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है।

भारत वर्ष मे शास्त्रार्थ का बडा प्रचार रहा है। इसमे हिंसा भी खूब हुआ करती थी। भ० महावीर ने शास्त्रार्थियो को समन्वय की नयी दृष्टि प्रदान की। सांख्यदर्शन वस्तु को सर्वथा नित्य मानता है और बौद्ध दर्शन सर्वथा अनित्य। पर जैन दर्शन की दृष्टि से वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य भी है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य भी। प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, अतः उसकी अवस्थाए बदलती रहती हैं, उसका समूल नाश कभी नही होता। गेहूँ इन्द्रिय ग्राह्य हैं या यो कहिये उनमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारो गुण विद्यमान हैं, अतः वे पुद्‌गल हैं। गेहू पिस कर आटा बन जाते है, अत· उनकी अवस्था, जिसका दूसरा नाम पर्याय है, बदल जाती है पर पुद्‌गलत्व तो बना ही रहता है। उस दृष्टि से गेहूं नित्य भी है और अनित्य भी। इसी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के विषय मे शास्त्रीय विचार करें और ही के स्थान मे भी का प्रयोग करते चलें तो वस्तु की सही जानकारी प्राप्त होगी और कलह का विराम भी।

प्रयत्न करने पर भी जब इष्ट फल की प्राप्ति नही होती तो असफल व्यक्ति दूसरे के मत्थे दोष मढ कर उससे झगडने लगता है, और इसमे हिंसा तक की नौबत आ जाती है। पर असफल व्यक्ति यदि यह सोच ले कि जैसा कर्मोदय रहा वैसा ही फल मिला है तो झगड़े की नौबत नहीं आ सकती और न हिंसा ही हो सकती है। नींव खोदने वाला नीचे की ओर ही बढ़ता जायगा और दीवार बनाने वाला ऊपर की ओर ही। इसी तरह जिसका जैसा कर्म होता है वैसा ही उसे फल मिलता है।

सभी प्राणियो के व्यक्तित्व को अपने ही समान महत्व दिया जाना चाहिए यही वास्तविक साम्यवाद है। जगत के सभी प्राणी एक दूसरे का उपकार करते हैं, अतः अपने-अपने स्थान मे सभी का महत्व है। मानव समाज का जीवन पशुसमाज पर और पशुसमाज का जीवन मानव समाज पर आश्रित है। जन्म जात शिशु को पहले गाय का दूध दिया जाता है, मा का दूध तो उसे चार-पाच दिनो के बाद मिल पाता है। बैलो से खेती मे मदद मिलती है। घोड़े आदि मानव की यात्रा मे सहायक होते हैं। अतः मानव समाज का जीवन पशु समाज पर आश्रित है। मानव भी उन्हें खिला-पिला कर जिलाता है, अतः उनका जीवन मानव समाज पर आश्रित है। मानव का जीवन गर्भावस्था से लेकर श्मशान पहुचने तक पराश्रित ही रहता है। जिनका आश्रय लेना पडता है उनमे सभी वर्ग के लोग शामिल हैं। एकेन्द्रिय जीवो को छोटा समझा जाता है, पर वे तो पञ्चेन्द्रिय जीवो से भी अधिक उपकार करते हैं। वनस्पति न हो तो दाल, चावल, गेहूँ, लकडी और ईंधन आदि कहा से प्राप्त होंगे ? जल और वायु न हो तो जीवधारी कैसे जीवित रहेगे ? पृथ्वी न हो तो रहने के लिए किसे आधार बनाया जायगा ? इस दृष्टि से सभी प्राणियों के व्यक्तित्व का समादर होना चाहिए।

भ० महावीर के इस उपदेश मे सभी का हित निहित है। इसके परिपालन से सभी अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं।

'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'—इस उक्ति के अनुसार भ० महावीर के समय में कतिपय ऐसे भी

व्यक्ति रहे जो अपने को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं तीर्थ प्रवर्तक मानते थे, यद्यपि उनमें वे विशेषताए नही रहीं जो भ० महावीर में विद्यमान थीं। ऐसे व्यक्तियों में पूरण आदि थे, जिनका नामोल्लेख आचार्य विद्यानन्द ने आप्तमीमांसा की दूसरी कारिका का व्याख्यान करते हुए अष्टसहस्री (पृ ४) मे किया है।

पूरण के आगे 'आदि' पद जुड़ा हुआ है जिसमे ज्ञात होता है कि आचार्य विद्यानन्द को मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्र और गौतम बुद्ध-ये पांच और विवक्षित हैं। इनकी मान्यताएं न केवल भ० महावीर से, बल्कि आपस मे भी एक-दूसरे से भिन्न थी। पूरण या पूर्ण काश्यप अक्रियवाद के, मक्खलि गोशाल नियतवाद के, अजित केशकम्बल उच्छेदवाद के, प्रकुधकात्यायन अन्योन्यवाद के, सजय वेलट्ठि पुत्र विक्षेपवाद के और गौतम बुद्ध क्षणभङ्गवाद के समर्थक थे।उवासगदसाओ (उपासक दशाङ्गसूत्र) के प्रथम और द्वितीय अध्ययन के पढने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि मक्खलि गोशाल भ० महावीर का अधिक विरोध करता था—यत्र-तत्र जा-जा कर उनके विरोध में उनके भक्तो को भड़काया करता था। पर इन सभी की मान्यताए इन्हीं के साथ समाप्त हो गयी। गौतम बुद्ध को छोड कर इनमें से किसी का भी कोई साहित्य आज उपलब्ध नही है। इन सबके रहते हुए भी भ० महावीर की प्रभावशक्ति तनिक भी प्रतिहत नहीं हुई।

भ० महावीर की तपस्या और देशना पूर्णतः सफल रही। इनकी अहिंसा आदि के कुछ सिद्धान्त भ० बुद्ध को भी मान्य रहे, पर भ० महावीर और उनके अनुयायियो ने अहिंसा के जिस रूप को अपनाया उसे भ० बुद्ध या उनके अनुयायी नहीं अपना सके।

भ० महावीर की अहिंसा ने महात्मा गाधी को भी प्रभावित किया। इसी अहिंसा को शस्त्र बना कर इस देश को दासता की शृङ्खलाओ से छुडवाने मे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

कुछ लोगो का ख्याल है कि जैनो की अहिंसा देश की परतन्त्रता का कारण हुई थी। किन्तु यह अवर्णवाद मात्र है। देश की परतन्त्रता का कारण शासको की विलासिता तथा उनका आपसी विरोध रहा है। देश पर आक्रमण करने वालो के साथ युद्ध करने पर यदि आक्रमणकारियो की हिंसा हो जाये तो वह पाप नही है, क्योकि हिंसा भावना पर आश्रित होती है। ऐसे अवसरो पर देश रक्षा की भावना रहती है, न कि अकारण दूसरो को मारने की। गृहस्थ के लिए चार प्रकार की हिंसाओ मे केवल सकल्पी हिंसा ही त्याज्य होती है।

कम्बोज, कलिङ्ग, काशी, कुरुजागल, कोशल, गान्धार, पञ्चाल, वाल्हीक और सिन्धु आदि अनेक भारतीय देशो मे लगातार तीस वर्षों तक धर्मामृत की वर्षा करने के उपरान्त भ० महावीर बिहार प्रान्त की पावा नगरी मे पहुँचे और वहा से वे बहत्तर वर्ष की आयु मे ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व कार्तिक की अमावस्या की अरुणोदय वेला मे मोक्ष गये।

भगवान महावीर के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि

"........भगवान महावीर ने विचारों में अनेकान्त, जीवन में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद व समाज में अपरिग्रह व पांच अणुव्रतों जैसे अनुपम सिद्धान्तों द्वारा अज्ञानी प्राणियों का दिशा बोध किया जो आज भी आकाश दीप की भांति प्रकाश स्तम्भ बन मानव का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं।........"

सुश्री सुशीला कुमारी जैन
एम० ए० पूर्वार्द्ध, धर्मालंकार

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के प्रातः माता त्रिशला के गर्भ से कुण्डलपुर नामक ग्राम मे भगवान महावीर का जन्म हुआ।

जिस समय भगवान् महावीर ने जन्म लिया, समाज मे हिंसा का बोलबाला था। तत्कालीन धर्माचार्य धर्म की ओट मे अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे, अज्ञान रूपी बादल समाज के चारो ओर मंडरा रहे थे, शासकों का अगर कोई सिद्धान्त शेष था तो वह था 'जीवो जीवस्य भोजनम्', अर्थात एक जीव ही दूसरे जीव का भोजन है। इस प्रकार जो धर्म प्राणीमात्र के सुख और शांति तथा कल्याण के लिये था वही हिंसा, विषमता और प्रताडन का अस्त्र बना हुआ था।

ऐसे समय में समाज रूपी रात्रि का अज्ञान रूपी अंधकार दूर करने के लिए भगवान महावीर रूपी सूर्य का भारत वसुंधरा पर उदय हुआ।

जन्म से ही भगवान् का हृदय दयार्द्र था। दीन दुखियों को देखकर उनका हृदय आकुल-व्याकुल हो जाता था। इतना ही नहीं जब तक वे उन दुखियो के दुखो को दूर नहीं कर देते उन्हें शांति न मिलती। वे समदर्शी थे। इस प्रकार भगवान् महावीर की कीर्तिगाथा पवन की भांति सम्पूर्ण भारत में

व्याप्त हो गयी।

वे द्वितीया के इन्दु के समान दिन प्रतिदिन बढ़कर कुमार-अवस्था मे प्रविष्ठ हुये। एक समय की घटना। भगवान् महावीर अपने इष्ट मित्रों के साथ एक वृक्ष पर चढ़ने उतरने का खेल खेल रहे थे। संगम नामक एक देव भयंकर सर्प का रूप धारण कर फुंकार करता हुआ वृक्ष की जड से लेकर स्कंध तक लिपट गया। सर्प की भयंकरता को देख कुमार के सब साथी वृक्ष से कूद-कूद कर घर भाग गये। पर उन्होंने अपना धैर्य नहीं छोडा। वे उसके विशाल फण पर पांव देकर खड़े हो गये और आनन्द से उछलने लगे। उसके साहस से प्रसन्न हो कर देव, सर्प का रूप छोड कर अपने असली रूप मे प्रकट हुआ तभी से आपको महावीर नाम से जाना जाता है।

धीरे-धीरे भगवान जवान हो गये। एक दिन महाराज सिद्धार्थ ने भगवान महावीर से कहा, पुत्र ! अब तुम पूर्ण युवा हो गये हो, मै तुम्हारा विवाह कर तुम्हें राज्यभार सोंप दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। पिता श्री के वचन सुन भगवान ने कहा—पिताजी, भला जिस संसार से आप बचना चाहते है उसमे मुझे आप क्यो कर फसाना चाहते हैं। आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये जिससे मैं जगल के प्रशान्त वातु मण्डल मे रह कर आत्म ज्योति को प्राप्त कर जगत का कल्याण करूं।

पित्रा-पुत्र का यह सवाद सुन माता त्रिशला व्याकुल हो उठी। उसकी आंखो के सामने अंधेरा छा गया और वह बेहोश हो गई। होश आने पर भगवान महावीर ने उन्हें ससार की असारता के बारे मे समझाया, तब माता त्रिशला ने उन्हे खुशी से दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।

भगवान् महावीर के दीक्षा ग्रहण के समय देवगण जय-जय घोष करते हुये आकाश मार्ग से कुण्डलपुर आये। वहा उन्होंने भगवान का दीक्षा-भिषेक किया। सुन्दर आभूषण धारण करने के पश्चात् देव निर्मित चन्द्र प्रभा पालकी पर सवार होकर वन मे आये और वहा अगहन बुदी दशमी के दिन 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कह कर वस्त्रादि त्याग दिये और आत्म ध्यान मे तल्लीन हो गये।

एक दिन भगवान् महावीर उज्जयिनी के अति-मुक्तक नामक श्मशान में गये और प्रतिमा योग धारण कर वहीं विराजमान हो गये। उन्हें देख महादेव रुद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा लेनी चाही। उसने वेताल विद्या के प्रभाव मे रात्रि के अन्धकार को अत्यधिक सघन बना दिया। तदनन्तर सर्प, सिंह, हाथी और अग्नि आदि के साथ लम्बी सेना बना कर आया और कठोर उपसर्ग किये। पर भगवान महावीर आत्म ध्यान से तनिक भी विच-लित न हुए। भगवान् महावीर के इस अनुपम धैर्य को देखकर महादेव रुद्र अपने असली रूप मे आया और भगवान से क्षमा याचना की।

जृम्भिका गाव के समीप ऋजुकूला नदी पर मनोहर नाम के वन मे सागोन वृक्ष के नीचे भगवान महावीर ध्यानस्थ थे। वही पर उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। देवो ने आकर ज्ञान कल्याण का उत्सव मनाया और समवशरण की रचना की।

तभी भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी और इन्द्रभूति जिसका अमर नाम गौतम था, उनका पहला गणधर बना।

इसके पश्चात् इनके वायुभूति, अग्नि, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धेवल और प्रभास आदि दस गणधर और बने।

इनके अतिरिक्त इनके समवशरण में तीन सौ ग्यारह द्वादशांग के वेत्ता थे, ९ हजार ९ सौ शिक्षक थे, तेरह सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवल ज्ञानी थे तीन लाख श्राविकाये थी, असख्यात देव-देवियां और

संख्यात तिर्यञ्च थे। इन सबको उन्होंने नय प्रमाण और निक्षेपो से वस्तु का स्वरूप बताया।

इसके पश्चात् सम्पूर्ण भारत में विहार कर धर्म प्रचार किया। सर्वप्रथम भगवान महावीर ने धार्मिक जडता और आर्थिक अपव्यय को रोकने के लिये यज्ञो का विरोध किया जिससे जनमानस में यज्ञ विरोध इतना विकसित हुआ कि पशु यज्ञों का नाम ही शेष रह गया।

भगवान महावीर ने विचारो में अनेकान्त, जीवन मे अहिंसा, वाणी मे स्याद्वाद व समाज में अपरिग्रह व पाच अणुव्रतो जैसे अनुपम सिद्धातो के द्वारा अज्ञानी प्राणियो का दिशाबोध किया, जो आज भी आकाश दीप की भांति प्रकाश स्तम्भ बन मानव का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

जीवन के अन्तिम वर्षों मे भगवान महावीर पावापुरी आये और वहां ध्यान में लीन हो गये। वहीं पर उन्होने सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान द्वारा अघातिया कर्मों का नाश कर कार्तिक वदी अमावस्या के दिन प्रातःकाल ७० वर्ष की अवस्था में मोक्ष लाभ किया। देवों ने आकर निर्वाण क्षेत्र की पूजा की और उनके गुणो की स्तुति की।

"भगवान महावीर का जयन्तीं समारोह एक ऐसा अवसर है जब कुछ क्षणों के लिये हमें अपने हृदय को टटोलना चाहिए और अहिंसा के महान् आदर्श के महत्व को समझने का यत्न करना चाहिए। दैनिक जीवन में अहिसा को एक सहज सिद्धान्त के रूप में सबसे पहले लागू करने का श्रेय भगवान महावीर को ही है। इसीलिए हम उन्हें अहिंसा के प्रवर्तक कहते हैं। सभी भारतवासियों को चाहे वे भगवान महावीर के अनुयायी हों अथवा नहीं इस महान देन पर गर्व है।"

—स्व० डा० राजेन्द्र प्रसाद

भजन

रे मन ! महावीर जय बोल !

यह दुनिया है एक तमाशा,
इसकी क्या करता है आशा !
अगर चाहता है सुख मग तो,
अपनी गांठ टटोल !

रे मन ! महावीर जय बोल !

दुर्लभ ये मनुष्य की काया,
लुटा रहा क्यों अनुपम माया।
बदले में क्यो हस हस लेता,
कुटिल वासना मोल !

रे मन ! महावीर जय बोल !

करना है जो उसको करले,
है अवसर भव-सागर तरले।
ज्ञान मयी अपने अन्तर में,
प्रेम भावना घोल !

रे मन ! महावीर जय बोल !

विश्व गुलामी, है नादानी,
आई यह स्वतन्त्रता रानी।
स्वागत कर 'भगवत' अब उसका,
अपने घट पट खोल !

रे मन ! महावीर जय बोल !

महावीर जयन्ती

१९६९

सार्वजनिक सभा में
सर सेठ श्री भागचंद सोनी (अजमेर)
अध्यक्षीय भाषण करते हुए ।

संस्कृतिक कार्यक्रम को एक झांकी

सर्वोदयी नेता श्री गोकुल भाई भट्ट
सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए

जैनधर्म और विश्व शांति

"जैन धर्म ही वह विधा है जिस की आधार शिला प्रेम और शांति रही है, जिसकी वृद्धि के युग में मानव का चरित्र स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक रहा है। इतिहास से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य सदृश जैन नरेशों के शासन काल में प्रजा का जीवन सुखी एवं आचरण पवित्र था। वह समृद्धि के शिखरों पर समासीन थी। आज भी इस वैज्ञानिक धर्म के प्रकाश में जो लोग अपनी चर्या व्यतीत करते हैं वे अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक सुखी समृद्धि और समुन्नत हैं।"

卐

सुश्री राजकुमारी जैन
M. A. धर्मालङ्कार

आज विश्व युद्ध की विभीषिका से त्रस्त एक ऐसी कगार पर खड़ा है जहाँ से वह कभी भी विध्वंश के गर्त मे गिर सकता है। आज मानव मानव के खून का प्यासा हो उठा है। भौतिक रूप से मानव जितना समृद्ध हो रहा है आध्यात्मिक रूप से वह उतना ही दीन हीन हो रहा है कि चिर सुख और शान्ति के मार्ग को क्षणिक सुख के लिये भुला बैठा है। सर्व भक्षी भौतिक वाद का प्रचुर विकास होने से पहले तो संसार की आंखे विज्ञान के चमत्कार के आगे चकाचौध युक्त सी हो गयी थीं। किन्तु एक नही दो दो महायुद्धो ने विज्ञान की चमक दमक को समाप्त कर दिया। अणु बम इस तथा कथित प्रगति शील विज्ञान का ही अभिशाप है जिसने अल्पकाल में ही सैकडो जापानियो को स्वाहा कर दिया। कुछ जन नायकों की महत्वा-काक्षाओ की पुष्टि की लालसा के निमित हजारों व्यक्ति क्षण भर मे भून दिये गये।

२. अभी हम गत युद्धों के कुपरिणामों से पूर्णतया संभल भी नहीं पाये थे कि फिर से तृतीय महायुद्ध के बादल हमारे सर पर मडराने लगे हैं। भारत व पाकिस्तान की समस्या विश्व के सामने है, चीन जो कभी हमारी दोस्ती का हामी था आज हमारी ही जमीन हड़प कर हमे युद्ध की धमकियां

दे रहा है । कुछ लोग अपने राजनैतिक स्वार्थ के खातिर सदियों की भ्रातृत्व भावना को भूल कर सारी मानव जाति जो शांति से जीने की इच्छुक है, को युद्ध की ज्वाला में धकेल देना चाहते हैं। ईरान इजराइल को युद्ध की धमकी देता है, पाकिस्तान भारत को बार बार ललकारता है, चीन का भारत के प्रति रवैया हम देख ही रहे हैं। ये सब सम्पूर्ण विश्व को कभी भी मौत के मुह में धकेल सकती है।

३. प्रश्न है क्या हमे इन्हीं भय ग्रस्त परिस्थितियों में जीना होगा? यदि जीवन की गाड़ी इसी ढर्रे पर चलती रही तो यह जीवन-जीवन नहीं मौत से भी बढ़कर है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। युद्ध का भयानक ताण्डव देख मानव ने शान्ति की आवश्यकता अनुभव की और उसका पथ प्रदर्शन किया धर्म ने। विश्व में उत्पन्न हुयी विचित्र परिस्थितियो एवं अनगिनत समस्याओ से व्यथित अन्तः करण विश्व शान्ति निमित्त धर्म का द्वार खटखटाता है और कहता है कि हमे उच्च तत्व-ज्ञान और गंभीर चिंतनाओ वाले धर्म की उतनी जरूरत नहीं है जितनी कि उस की जो कलह, विद्वेष, अशान्ति उत्पीडन आदि विपत्तियो से बचाकर शान्ति और कल्याण का मार्ग बनावे। जैन धर्म ही वह विद्या है जिसकी आधार शिला प्रेम और शान्ति रही है। जिसकी वृद्धि के युग मे मानव का चरित्र स्वर्णाक्षरों मे लिखने लायक रहा है। इतिहास से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य सदृश जैन नरेशो के शासन काल मे प्रजा का जीवन सुखी एवं आचारण पवित्र था। वह समृद्धि के शिखर पर समासीन थी। आज भी इस वैज्ञानिक धर्म के प्रकाश मे जो लोग अपनी जीवन चर्या व्यतीत करते है वे अन्य समाजो की अपेक्षा अधिक सुखी समृद्ध और समुन्नत हैं।

४. आज लोगो तथा राष्ट्रो का झुकाव स्वार्थ पोषण, शोषण, बल-प्रभुत्व तथा सत्ता एकत्रित करने की ओर है 'survival is the fittest' समर्थ को ही जीने का अधिकार है, दुर्बल को सदैव के लिये मृत्यु की गोद मे सो जाना चाहिये' यह है आज के युग की बुलन्द आवाज। आज के सत्ताधीश दूसरों की दुर्बलता से लाभ उठाकर प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, साम्राज्यवाद, साम्यवाद आदि मोहक सिद्धान्तो के नाम पर बड़े २ देशो को हजम कर लेते हैं जैसे व्याघ्र गाय को स्वाहा कर लेता है। ऐसी व्याघ्र वृत्ति वाले राष्ट्रों के सम्मुख League of Nations (राष्ट्र संघ) प्राय. विनोद जनक रही और U N. O (संयुक्त राष्ट्र संघ) भी महत्व पूर्ण प्रभाव नहीं दिखा पा रहा है। शान्ति के उपासको का प्रभाव इतना अल्प है कि वे कूटनीतिज्ञो के छल प्रपच के विरुद्ध कुछ नहीं कर पा रहे हैं। धन और सत्ता के बल पर सत्य का द्वार बन्द है।

५ जैन धर्म सबको पुरुषार्थ और आत्म निर्भरता की शिक्षा देता हुआ समझता है कि यदि तुमने दूसरो के साथ न्यायोचित व्यवहार किया तो तुम्हे विशेष शान्ति और आनन्द प्राप्त होगा। यदि प्रभुता के मद मे दूसरो के अधिकारो का अपहरण किया तो तुम्हारा जीवन विपत्ति की घटाओ से घिरा होगा। प्रकृति का यह अबाधित नियम 'As you sow so you leap' 'जैसा बोओ वैसा काटो' किसी के साथ तनिक भी रियायत नहीं करेगा।

६. यन्त्रवाद के विशेष प्रचार के कारण अपेक्षा कृत वस्तुओ की उत्पत्ति अवश्य विपुल परिणाम मे हो गयी है किन्तु फिर भी इस समृद्धि के मध्य गरीबी (Poverty amid prosperity) का कष्ट बढता ही जा रहा है। आज की राजनीति की चालें ही विचित्र हैं चाहे मानव को खान को दाना न हो किन्तु लाखो टन गेहू तथा अन्य खाद्यान्न विदेशो मे इसलिये जला दिये जाते हैं या नष्ट किये जाते हैं कि बाजार का निर्धारित

भाव घटने न पावे। आज पूंजीपति यूरोप व अमेरिका का प्रमुख ध्येय धन सचय करना ही है। धन ही उनका ईश्वर हैं, भगवान है, परमात्मा है। महात्मागांधी के शब्दो में—लोग चाहे जो कहे धन आखिर किसी का सगा न रहा वह हमेशा बेवफा दोस्त साबित हुआ है। इसीलिये कहते हैं कि अमेरिका का भविष्य उजला था। लेकिन यदि वह इसी तरह धन की पूजा करता रहा तो उसका भविष्य काला है। आज जो पश्चिम मे धन की पूजा हो रही है इसके स्थान पर वहां करुणा, सत्य, परिमित परिग्रह वृत्ति अचौर्य ब्रह्मचर्यादि की आराधना होनी चाहिए। करुणा की छाया मे सभी जीव आनन्दित होते हैं। सुख का सिन्धु वहीं दिखाई देता है जहा करुणा की मन्दाकिनी बहा करती है। पूंजीवाद की समस्या भी सुलझ सकती है यदि पूंजीपतियो के हृदय मे यह बात जम जाय कि—"बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुष." अर्थात बहुत आरभ और परिग्रह नरकायु के कारण हैं। थोडा आरंभ और थोडा परिग्रह मनुष्य आयु के कारण है। माया तैर्यक्यो-नस्य" माया पशुगति का कारण है। पवित्र आचरण, जितेन्द्रियता और संयम के द्वारा सुरत्व की उपलब्धि हो सकती है।

७. आज शोषण का बोलबाला है 'Might is right' 'बल ही सच्चा है' की नीति सर्वत्र अपनायी जाती है। आज शासक शासितो का, धनी निर्धनो का, मिल मालिक मजदूरो को शोषण करने में मग्न है। उन्हे यह ध्यान नही कि शासक का कार्य जोक की तरह शोषण नही वरन् मेघमाला के समान अमृत वर्षा कर इस भूतल को सर्व सम्पन्न और समृद्ध करना है। सत्ता धारियो को 'जीवो और जीने दो' (Live and let live) के सिद्धात का पालन करना चाहिये। उनके हृदय में यदि प्राणी मात्र के प्रति 'समता सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बक' की भावना प्रतिष्ठित हो जाय तो वह दिन दूर नही जब विश्व मे शान्ति का झण्डा लहराने लगेगा।

८. बढती हुयी जन संख्या के समाधान के भले ही वैज्ञानिको ने कृत्रिम उपाय निकाले लेकिन कुछ लाभ न हो सका। माल्थस के सिद्धातानुसार यदि उत्पादन की वृद्धि ३+३ के अनुपात मे होती है तो जन संख्या की वृद्धि ३×३ के अनुपात में हो रही है। जैन धर्म मे तो प्राचीन काल से ही इस समस्या को हल करने के लिये विषय भोगो पर अनासक्ति, आत्म संयम (Self control) एव ब्रह्मचर्यादि का उल्लेख मिलता है। यदि अधिकाश व्यक्ति इस पर अमल करे तो यह समस्या सहज ही दूर हो सकती है।

९. जैन दर्शन का अध्ययन करने से ज्ञान होता है कि पचशील के सभी सिद्धात जो विश्व शाति के लिये आवश्यक है दार्शनिक भूमिका पर प्रस्तुत किया है। जैन धर्म में प्रत्येक आत्मा को समान स्वभाव व धर्म वाला माना गया है। यदि विश्व मे शान्ति व पर सम्मान की भावना को जाग्रत करना होगा। दूसरे के स्वार्थ को स्वय का स्वार्थ मानना होगा। समझौते की ओर झुकना होगा, अधिकारो के साथ कर्तव्यो का ज्ञान कराना होगा, व्यक्ति स्वातत्र्य को प्रधानता देनी होगी जो विचार मे अनेकान्त, सहिष्णुता, समानाधिकार अहस्तक्षेप की भावना को जन्म देगी। आज मानव विश्व शांति की माँग कर रहा है जिसकी पूर्ति आचार मे अहिंसा विचार मे अनेकान्त और वाणी में स्याद्वाद से ही सभव है जो कि जैन धर्म के मूल स्तभ है। भारत की तटस्थ नीति जो समझौते के आधार पर बनी हुयी है आज विश्व को युद्ध के भयंकर दावानल से बचाये हुये हैं और सह अस्तित्व, भ्रातृत्व और समझौते की भावना की ओर मार्ग प्रशस्त कर रही है।

भजन

सन्मति ज्ञान भरू मेरे मन में।
क्रोध मोह ममता को तोड़ूं,
लोभ मान माया को छोड़ूं,
तीन गुप्ति को धारण करके, ध्याऊं चेतन मन में ।।
अपने सम समझूं, मैं सब को,
प्रेम-भाव सिखलाऊं जग को,
जग के दुख से मुक्ति पाने जाकर बैठूं वन में ।।
अति क्रूर कर्म-रिपु को मारूं,
आशा निराशा को संहारूं,
ममता ही बंधन का कारण, भाव भरूं यह मन मे ।।
दर्शन, ज्ञान, चरित्र सिखाऊं,
आत्म तत्व ही सार बताऊं,
सुन्दर मुक्ति मिलाप होय तब व्यापे सिद्ध भुवन में ।।
सब—धर्म--समभाव सुनाऊं,
मोक्षमार्ग हितकर समझाऊं,
सत्य अहिंसा-मार्ग दिवाकर चमके आत्म गगन में ।।

भगवान् महावीर की सत्य-संधित्सा

"·····जब तक उन्हें (भगवान महावीर) को। सत्य प्राप्ति नहीं हुई, उन्होंने सत्य का उपदेश भी नहीं किया। सत्योपलब्धि के बाद भी उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि मैं जो बताता हूँ उसी का अनुसरण करो किन्तु उनका स्पष्ट और प्रबल उद्घोष था स्वय सत्य की शोध करो।········"

साध्वी मंजुला

एक व्यक्ति प्यास से आकुल हो रहा था। उसे पानी की चाह थी, पर वह उसके लिए श्रम करना नहीं चाहता था। जब बिना श्रम किये उसकी प्यास नहीं बुझी तो उसने परिश्रम करना शुरू किया पर वह नहीं जानता था कि श्रम कहां करना चाहिए ? इस ज्ञान के अभाव मे उसने निर्जल भूमि को खोदा, पानी नहीं मिला। ज्ञान और क्रिया का योग हुआ। भूमि सजल थी और खोदने का श्रम भी किया गया था पर निष्ठा का अभाव था। पांच, सात हाथ भूमि खोदी, जल नहीं निकला तो व्यक्ति अधीर होकर दूसरे स्थान को खोदने लगा। वहां भी जल नहीं मिला। इस प्रकार चार-पाच स्थानों से भूमि को खोदा गया पर सफलता नहीं मिली। और व्यक्ति प्यास से तड़पता रहा।

एक दूसरा व्यक्ति जिसमें ज्ञान, क्रिया और निष्ठा का योग था, उसने अपने ज्ञान से भूमि का परीक्षण किया; परिश्रम पूर्वक उसका खनन किया और तब तक उसका धैर्य विचलित नहीं हुआ जब तक उसे भूमि पर तैरता हुआ जल दिखाई नहीं दिया। श्रम सफल हुवा। पानी पीकर वह स्वयं तो तृप्त हुआ ही लाखों-लाखों प्राणियों का सहयोगी बन कर कृतकृत्य भी हो गया।

भगवान् महावीर ने जीवन की सफलता के लिए ज्ञान, क्रिया और निष्ठा का होना आवश्यक माना है। सत्यशोध जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की सिद्धि में अज्ञान और अकर्मण्यता की भांति ही आतुरता भी बाधक है। सत्य पाने के लिए आतुर होने वाले व्यक्तियों का पथ-दर्शन करते हुए भगवान महावीर ने कहा.......'सच्चसि धिइं कुव्वहा' सत्य में धैर्य रखो। धैर्य के अभाव मे व्यक्ति सत्य के समीप पहुंच कर भी उसे प्राप्त नही कर सकता।

वैज्ञानिक लोगों की आस्था कितनी विचित्र है? वे एक भौतिक अभिसिद्धि के लिए सैकड़ो वर्षों तक धैर्य से कार्यरत रह सकते हैं पर एक अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति आन्तरिक उपलब्धि के अन्तिम छोर पर आकर अपना धैर्य खो बैठता है। यह अधीरता ही अध्यात्म का प्रकाश फैलाने मे बाधा बन रही है।

भगवान् महावीर को 'सत्य' की तीव्र जिज्ञासा थी। वे जनसग्रह को महत्व न देकर जन-जन को सत्य की एषणा मे लगाने को महत्व देते थे। जब तक उन्हे सत्य की प्राप्ति नही हुई, उन्होने सत्य का उपदेश भी नही किया। सत्योपलब्धि के बाद भी उन्होंने यह कभी नही कहा कि मैं जो बताता हू उसी का अनुसरण करो, किन्तु उनका स्पष्ट और प्रबल उद्घोष था।

"अप्पणा सच्च मेसेज्जा"

स्वय सत्य की शोध करो। अन्य द्वारा शोधित सत्य से भी व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है पर उसी मे तृप्ति का अनुभव करना 'सत्य' पर आवरण डालना है।

भगवान् महावीर एक परम्पराबद्ध धर्मसंघ के अनुशास्ता थे फिर भी वे वैचारिक अभिनिवेश से सर्वथा मुक्त थे। उनके विचारो की उदात्तता ने कभी यह आग्रह नही किया कि धर्म की आराधना या सत्य की आराधना किसी अमुक वेशभूषा या सम्प्रदाय मे ही हो सकती है।

वेष-भूषा के साथ धर्म का अनुबन्ध हो ही नही सकता। धर्म आत्मगत नही होता तो मुनि का वेश स्वीकार करने पर भी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने सघबद्ध साधना की बात बताई थी, किन्तु इसके साथ यह भी कहा था कि एक-एक व्यक्ति धर्मसंघ को छोड देने पर भी धर्म से रिक्त नहीं होते और कुछ व्यक्ति धर्म-सम्प्रदाय की सीमाओ मे रहकर भी धर्म को आत्मसात् नही कर सकते।

भगवान महावीर का यह दृष्टिकोण उनके अनाग्रहभाव, उदारता और सत्यमधित्सा का प्रतीक है। वे सम्प्रदाय के ममत्व, विधि-विधानो के घेरे और जन सग्रह की तृष्णा मे कभी नही उलझे। उनके अभिमत से सम्प्रदाय, विधि-विधान आदि सत्य-शोध मे सहायक बन सकते हैं। वे मुक्तभाव से सत्य के निकट पहुचे और ससार को सत्य-शोध की प्रेरणा दी।

भगवान् महावीर के हर अनुयायी का यह पहला कर्त्तव्य है कि वह वैचारिक आग्रह को छोड़ कर सत्य को अनावृत करने का प्रयास करे।

महावीर का जीवन दर्शन

"………अहिंसा जगत की माता है क्योंकि वह समस्त जीवों की प्रतिपालना करने वाली है। अहिंसा ही आनन्द देने वाली है। यही उत्तम गति और शाश्वत लाभी है। जगत् में जितने भी उत्तमोत्तम गुण है वे सब अहिंसा में ही निहित हैं। अहिंसा मुक्ति प्रदातृ है। उसी से आत्महित संभव है।…"

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल
एम० ए० पी-एच० डी०, शास्त्री
साहित्य शोध विभाग, दि० जैन अ०
क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर

महाश्रमण महावीर लोकोत्तर मानव थे। उनका जन्म धर्म की पुनः स्थापना के लिये हुआ था। उनके जन्म के समय सारे देश मे यज्ञों के नाम पर हिंसा का नग्न ताण्डव हो रहा था। यज्ञों क्रियाकान्डों एवं पोपडम का सीमातीत प्रचार बढ़ने से अधिकांश जनता का जीवन अशान्त एवं भयातुर बन चुका था। पशुओं की बलि तो सामान्य बात हो गई थी। उन्हे गाजर मूली की तरह काट पीट दिया जाता अथवा यज्ञो में होम दिया जाता था। कहीं कहीं तो गरीब अनाथ एव उत्पीडित मानव भी बलि चढ़ा दिये जाते। यज्ञो की धुंआ के कारण आकाश स्वच्छ ही नहीं होने पाता और इस वातावरण मे अहिंसक एव शान्त लोगो का दम घुटने लगा था। ऊच नीच का भेद भाव अपनी चरम सीमा पर था और इस कारण एक वर्ग के व्यक्तियों को सामान्य मानव के अधिकार भी सुलभ नहीं थे तथा उनके विकास के सभी मार्ग बन्द कर दिये गये थे। शासन एवं समाज संचालन की कमान एक वर्ग विशेष के कुछ व्यक्तियों ने संभाल ली थी और वे अपने स्वार्थ साधन मे ही लगे रहते थे। बड़े बड़े राजा महाराजा भी उनसे डरते और उन्हें प्रसन्न करने का ही प्रयत्न करते। समाजवाद के स्थान पर व्यक्तिवाद का बोल बाला था। न किसी को कुछ कहने का अधिकार था और वह केवल एक वर्ग के हाथ में रह गया था

इसलिये अधिकांश जनता अशिक्षा एवं अज्ञान की चक्की में पिसा करती थी। धर्म के नाम पर बड़े बड़े अत्याचार होते और जनता उनका शिकार बनती थी। पददलित एवं उत्पीडित समाज राजनीति का मुख्य आधार धर्म बन चुका था और उसकी आड में स्वार्थी व्यक्तियो ने बहुसंख्यक प्रजा को पीस डाला था।

महावीर के पूर्व तेईस तीर्थंकर और हो चुके थे। उनसे पूर्व राम और कृष्ण ने अपने चरण कमलों से भारत भूमि को पावन किया था। इन सभी महापुरुषो ने जनता में बडी भारी क्रान्ति फैलायी थी। अन्याय का घोर विरोध करके न्याय की स्थापना की थी। कर्मण्येवाधिकारस्तु का पाठ पढाने वाले योगीराज कृष्ण ने मानव मात्र को कर्त्तव्य पथ पर बढ़ते जाने का अमोध मंत्र दिया था। उन्ही के समकालोन तीर्थंकर नेमिनाथ ने गिरिनार से अहिंसा एव सत्य का सन्देश प्रसारित किया था। उनके पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ ने वाराणसी में जन्म लेकर उत्तर भारत को अपने चरण रज से पवित्र किया था तथा धर्म पर चलने वाले पाखन्डवाद के विरूद्ध जिहाद बोला था। वे स्वय राजकुमार थे लेकिन जनता के हित उन्होने राजपाट छोडकर गाव गाव एव नगर नगर मे विहार किया था। उन्होने मानव को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित कराया तथा चारो ओर जगत मे शान्ति की स्थापना की थी। उनके निर्वाण को २५० वर्ष हो चुके थे। इस अवधि मे स्वार्थी एव धर्मान्ध व्यक्तियो को फिर अपना सिर उठाने का अवसर मिल गया और वे समझने लगे कि अब उन्ही का साम्राज्य है तथा किसी मे उनके विरुद्ध आवाज उठाने का साहस नहीं है।

महावीर का जन्म

ऐसे युग में महावीर का जन्म हुआ। उनके जन्म के दिन चैत्र शुक्ला त्रयोदशी थी और वह ईसा के ५९९ वर्ष पूर्व का समय था। तारीख के अनुसार उस दिन ३० मार्च थी। उनके जन्म के साथ ही चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भी सदा सदा के लिये पवित्र हो गई। महावीर क्षत्रिय कुल में पैदा हुये थे। उनके पिता महाराजा सिद्धार्थ थे जो ज्ञातृक वंशी काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। महाराजा सिद्धार्थ कुण्ड ग्राम अथवा कुण्डल नगर के राजा थे। यह कुण्डल नगर वज्जी संघ की प्रधान राजधानी वैशाली के निकट था। कुण्डलपुर का एक छोटा राज्य अवश्य था लेकिन उसमें अन्य राज्यों की अपेक्षा शान्ति थी। महावीर को माता का नाम त्रिशला था जो प्रियकारिणी एव विदेहदत्ता भी कहलाती थो। वह वैशालो के अधिपति चेटक की बहिन थी।

महाराजा सिद्धार्थ का राज्य गणतन्त्र राज्य था। प्रजा के द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि राज्य कार्य मे सलाह देते थे। प्रजा सिद्धार्थ के शासन से अत्यधिक सन्तुष्ट थो। इसलिये जब राजघराने मे कुमार महावीर का जन्म हुआ तो सारे राज्य मे राजकुमार के जन्म पर अपूर्व खुशियाँ मनाई गई। प्रजा आनन्द विभोर हो उठी और अपने विकास एवं उत्थान का स्वप्न देखने लगी। महावीर जैसे युवराज को पाकर वह प्रसन्नता से भर गई। बालक महावीर लोकोत्तर गुणो के धारी थे। इसलिये उन्हे पाकर माता पिता की खुशी का ठिकाना नही रहा। वैसे उनके जन्म से पहिले से ही उन्हे आनन्दानुभव होने लगा था। अकाल महामारी आदि भयंकर रोगो से मुक्ति मिल चुकी थी। बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया।

वर्द्धमान बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि एवं अतिशय तेजोमय थे। जो भी एक बार उनका दर्शन कर लेता वही कृतकृत्य हो जाता और बार बार उनके दर्शन करने का प्रयास करता। माता पिता एव परिजनो के आनन्द का तो ठिकाना ही

क्या था। वे अपनी बाल सुलभ क्रीडाओं से सबको आनन्दित करते रहते। इस तरह महावीर बचपन से ही जनता के अत्यधिक प्रिय बन गये। एक बार दो चारण ऋद्धिधारी संजय विजय मुनियों को तत्व व्यवस्था में कुछ शंका हो गई। इसके निवारणार्थ वे दोनो बालक वर्द्धमान के सामने पहुँचे तो उनके दर्शन मात्र से ही उनकी शंकाओ का समाधान हो गया। इसी चमत्कार से उन्हें सन्मति नाम से पुकारा जाने लगा। उनके महान् व्यक्तित्व की बात चारो ओर फैल गई और उनकी लोक प्रियता दिन प्रतिदिन बढने लगी।

राजकुमार वर्द्धमान मे बचपन से ही आत्म-विश्वास भरा पडा था। विपत्ति को देखकर घबराना तो वे जानते ही नहीं थे। उनका सफलता पूर्वक सामना करते थे। कहा जाता है कि एक बार वे उद्यान मे अपने साथियो के साथ खेल रहे थे। खेल मे सभी बालक इतने खोये हुये थे कि किसी को कुछ भी पता न था कि बाहर क्या हो रहा है। कभी वे पेड पर चढ़ते और कभी उतरते। इतने मे ही एक भयकर सर्प भी उनकी क्रीडा मे आनन्द लेने के लिये इधर से निकल आया और वह उनमे शामिल हो गया। जब राजकुमारो की दृष्टि उस नाग पर पडी तो वे चीत्कार करके भाग खड़े हुये लेकिन महावीर जरा भी नही डरे और उसे हाथ से उठा कर उसी से खेलने लगे। वास्तव मे वह सर्प एक देव था जो स्वर्ग से महावीर के निर्भीकता की परीक्षा लेने के लिये ही वहा आया था। इस घटना के पश्चात तो उनकी वीरता एवं साहस ग्राम चर्चा का विषय बन गया। उन्हे "वीर" नाम से पुकारा जाने लगा।

बाल्यकाल मे वे राजकुमारों के साथ क्रीडा अवश्य करते लेकिन जब वे गरीबो, असहायों तथा उत्पीडित मानवों को देखते तो वे चिन्तित हो उठते और घन्टों एकान्त में मानव तथा प्राणी मात्र की निराकुलता एवं समाज शान्ति की समस्या पर विचार करते। जब वे बाजार में निकलते अथवा अन्य समारोहों मे शामिल होते तो उन पर सामाजिक भेद भाव, धर्म के नाम होने वाले अत्याचारो तथा लोगो की ऊंच नीच की भावनाओ का बड़ा प्रभाव पडता। उनका हृदय पिघल जाता और सभी को साथ लेकर चलने को बात सोचा करते। कभी कभी तो उनके इस तरह के चिन्तन पर माता पिता घबरा उठते और उन्हे सदा ही उल्लास एव प्रसन्नता के वातावरण में रखने का प्रयत्न करते और उन्हें समारोहों एव प्रजा के साथ घुल मिलने के कार्यक्रमो से दूर रखते।

जब उन्होने यौवन मे प्रवेश किया तो उनकी सुन्दरता, शरीर का गठन देखते ही बनता था। वे साक्षात कामदेव लगते और उनसे अधिक सुन्दर एव सुडौल कुमार की जब तलाश की जाती तो नकारात्मक उत्तर ही मिलता। माता पिता उनका विवाह करने की तैयारी में थे लेकिन महावीर तो महावीर थे। माता पिता का जब भी विवाह का प्रस्ताव सामने आता वे उठ कर चल देते। माता त्रिशला ने राजकुमार के मन की बात जानने के लिये कितने ही सेवको तथा परिजनो को नियुक्त किया। महावीर के बाल साथियो से विवाह के प्रस्ताव पर विचार करने का अनुरोध किया। लेकिन किसी की सिफारिश पार न पड़ी। सभी ने सुन्दर से सुन्दर राजकुमारियो के नाम गिनाये। गृहस्थावस्था का गुणानुवाद किया। पहिले के तीर्थकरो के उदाहरण दिये। यहो नही राज सत्ता मिट जाने की आशका प्रकट की तथा अपनी वृद्धावस्था की दुहाई दी। प्रजा के प्यार एव जगत का परम्परा को पालने का नाम लिया। लेकिन महावीर ने स्वय का और जगत के उद्धार का जो निश्चय कर लिया था उस निश्चय से वे कैसे मुकरते। जो पाव क्रान्ति की ओर बढ चुके थे, वे कैसे पीछे हटते। उनके हृदय मे तो सामाजिक एव धार्मिक क्रान्ति करने को जो लगन थी। वे जगत मे सुन्दरियों

से सेवा कराने नहीं आये थे और न राज्य करने अथवा अनेक राज्यों को जीत कर सम्राट बनने। ऐसे सुख तो उन्होंने पहिले कितने ही भवो में भोग लिये थे लेकिन फिर भी उनसे तृप्ति नही मिली थी। इसलिये जिससे सदा ही अतृप्ति मिले तो फिर उसी ओर जाने का क्या प्रयोजन।

एक एक वर्ष व्यतीत होते होते महावीर तीस वर्ष के हो गये। उन्होने माता पिता को अपने गृह त्याग के निश्चय की सूचना दे दी। माता पिता ने भी अपना कठोर हृदय करके उनकी बात मान ली इनके गृह त्याग के पूर्व विशाल राज दरबार लगाया गया। प्रजाजनो की भारी भीड अपने प्रिय राजकुमार को देखने के लिये उमड पडी। राज-कुमार का यह अन्तिम दरबार था। इसलिये वे भी राजसी ठाट बाट में आये थे। उनके स्वागत के लिये कितने ही तोरण द्वार बनाये गय। मार्ग के दोनो ओर दर्शको की अपार भीड थी। महावीर इस मार्ग से निकले और राजदरबार मे जा पहुँचे राजकुमार महावीर की जय के नारो से दरबार गूंज उठा। महावीर ने भी सबका अभिवादन हाथ जोडकर स्वीकार किया। जय जयकार समाप्त होने के पश्चात् उन्होने प्रजा को अपने निश्चय से अवगत कराया और कहा कि कल से राजकुमार महावीर नही किन्तु भिक्षु महावीर कहलायेगे। उसका न कोई राज पाट होगा न बन्धुजन और न परिवार के लोग। वे दिगम्बरी दीक्षा लेकर अपने आत्मविकास के पथ पर चलते रहेगे और तब तक चलते रहेगे जब तक उन्हे पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जावे। राजकुमार के इन वचनो को सुनकर उप-स्थित जन समूह के नेत्रो से अश्रुधारा वह चली और वे फफक फफक कर रोने लगे। प्रजा के प्रतिनिधियो ने उन्हे एक बार फिर समझने का प्रयास किया लेकिन किसी के समझाने का कुछ असर नही हुआ। आखिर महावीर के प्रस्ताव को सभी ने स्वीकार कर लिया। और उन्हे अपने हृदय से शुभाशीर्वाद देकर उनकी सफलता की कामना की गई।

उस दिन मंगसिर शुक्ला दशमी थी। उनकी प्रव्रज्या को देखने के लिये जन मेदिनी उमड पडी और लाखो नर नारियो ने अपने अश्रुपूरित नेत्रों से विदाई दी। जिस परिग्रह परिकर को मरते समय तक स्वेच्छा से छोड़ने मे बड़े बड़े पुरुषो का साहस नही होता महावीर ने उन्हे एक क्षण मे त्याग दिया। उन्होने अपने वस्त्र उतारे आभूषण फेंके तथा केशलौंचकर परम निर्ग्रन्थ बन गये। उनके इस अपूर्व त्याग से सारा आकाश जय जयकार से गूंज उठा। देवो ने स्वर्ग से फूल बरसाये। अब सारा समार उनका अपना हो गया और वे जगत के हो गये। वे विश्व बन्धुत्व की ओर चल पड़े। वैराग्य की ओर उनका यह प्रथम कदम था।

तपस्वी जीवन

निर्ग्रन्थ बनने के पश्चात सर्व प्रथम उन्हे प्रकृति प्रकोपो से लडना पड़ा। सर्दी, गर्मी एंव वर्षा की भीषणता का सामना करना पडा। वे कभी पहाडो की गुफाओ मे, कभी नदी के किनारे और कभी वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते एव आत्म दर्शन की सर्वोच्च भूमि को प्राप्त करने के लिये तपस्या मे लीन रहते। कहा उनका सुकुमार बदन और कहा उग्र तपस्वी जीवन। दोनो मे भीषण विषमता। गृहस्थ अवस्था मे जिनके चारो ओर परिचारको की पंक्ति खडी रहती थी और उनके संकेतो पर नाचती रहती थी वही महावीर आज एकाकी विहार करते और प्रकृति प्रकोपो की किंचित भी परवाह नही करते। वे तपस्या एवं आत्म ध्यान मे घन्टो लीन रहते। कभी कभी तो उन्हे एक ही आसन पर बैठे कई दिन निकल जाते कभी वे जगत के स्वभाव पर विचार करते तो कभी शरीर और आत्मा के भेदाभेद का चिंतन करते। वे मौन रहते। न किसी से वाद विवाद करते

और न किसी को धर्मोपदेश देते। लेकिन जिधर भी उनके चरण पड़ते वहीं की भूमि शस्य श्यामला हो जाती। प्रकृति प्रकोप दूर हो जाते और प्रजा-जनों मे एक आनन्द छा जाता। वे एक समय एक स्थान पर चातुर्मास के अतिरिक्त नहीं ठहरते। उनकी तपस्या बड़ी ही सधी हुई थी। तपस्या मे वे अभी युवा थे लेकिन वर्षो से तपस्या करने वाले भी उनके सामने नतमस्तक हो जाते। सच है महा-कवि कालिदास की उक्ति अनुसार "तपसि वयः न समीक्षते"। नगर अथवा ग्राम मे वे आहार के लिये जाते। लेकिन उनके दर्शनो के लिये भीड़ लग जाती और उनकी आहार प्रणाली को देखकर दग रह जाती। आहार के लिये उनके कभी कभी कठिन नियम होते और इस तरह निराहार ही उन्हे कितने दिनो तक रहना पडा था। लेकिन जिस किसी के यहा आहार हो जाता वही पतित पावन बन जाता। कैवल्य प्राप्ति के पहले उन्होने बारह चातुर्मास किये तथा नालंदा, चम्पापुरी, राजगृह, श्रावस्ती, उज्जैन आदि नगरो को अपने चरण रज से पवित्र किया। जब योगिराज महावीर चम्पापुर पधारे तो उन्होने सती चन्दनवाला का उद्धार किया। चन्दनबाला वैशाली के राजा चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी लेकिन भाग्य के थपेडे खाती हुई जब वह वृषभसेन द्वारा खरीद ली गई तो उसे बन्धन ही मिला। एक दिन महावीर गोचरी के लिये निकले तो कारागृह मे पडी हुई चन्दनबाला ने उन्हें पड़िगाह लिया। भगवान महावीर का निरन्तराय आहार हुआ। उन्होंने एक बन्दिनी का उद्धार किया। कुछ समय पश्चात वही चन्दनबाला आर्यिकाओ की प्रधान बनी।

लगातार १२ वर्ष तक इसी तरह दुर्द्धरतप करते रहे। वे घन्टो तक ध्यानस्थ रहते और आत्मचिंतन किया करते। एक बार वे खड़े ही ध्यानलीन थे कि एक ग्वाला उधर से आया और उनसे बैलों की देख रेख करने के लिये कह कर आगे चला गया। जब वह वापिस लौटा तो वहां उसे बैल नहीं मिले। उसने ध्यानस्थ योगीराज महावीर से पूछा। भगवान महावीर ध्यान मे इतने तल्लीन थे कि उन्हें ग्वाले के बलो का कोई ध्यान नहीं रहा। ग्वाला अत्यधिक क्रोधित हो गया और उसने भगवान के दोनों कानों मे कीलें ठोक दीं और अपने घर चला गया। महावीर ने उस भयंकर उपसर्ग को सहन कर लिया लेकिन उस ग्वाला ने कुछ नही कहा। एक दिन महावीर ने एक सर्प के बिल के पास ही ध्यान लगा लिया। सर्प बड़ा भयकर था। और उसकी फूत्कार से ही काफी दूर के प्राणी स्वयं पेट कालग्रस्त हो जाते थे। जब उसने महावीर को ध्यान ग्रस्त देखा तो क्रोधाभिवेश होकर उन्हे डसने लगा। उसने अपना पूरा जोर लगा लिया भगवान महावीर के चरणों से खून की धारायें बह निकली लेकिन उन्हें वह ध्यान से विचलित नही कर सका। आखिर उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी और महावीर के चरणो मे गिर कर क्षमा भी मागनी पड़ी।

४२ वर्ष की आयु मे वैसाख शुक्ला दशमी के दिन उन्हे कैवल्य हो गया। अनन्त ज्ञान की प्राप्ति हो गई। भूत भविष्य एव वर्तमान सभी उपमाएं उनके ज्ञान में झलकने लगी। लोग उन्हें सर्वज्ञ महावीर कहने लगे। सारे देश में उनके अलौकिक ज्ञान की चर्चा फैल गई और देश के सभी भागो मे झुन्ड के झुण्ड लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। सर्व प्रथम उनका प्रवचन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन विपुलाचल पर्वत पर हुआ। एक सुरम्य सभा भवन बनाया गया। जो समवसरण कहलाया। उसमें बारह गोलाकार सभास्थल थे। भगवान महावीर मध्य मे विराजमान थे और उनके चारों ओर अपने स्थान पर साधु साध्वियां, देव देवियाँ, स्त्री पुरुष, पशु पक्षो बैठे थे। महावीर ने अपना सर्व प्रथम प्रवचन अर्द्धमागधी भाषा में दिया जो उस समय की जन भाषा थी वह पहिला

अवसर था जब किसी धर्माचार्य ने जन भाषा में उपदेश दिया हो। इसलिये सारे देश मे प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। और उनके प्रवचनो से लाखो नर नारी लाभ लेने लगे। वर्ग भेद जाति भेद तो उनकी सभाओं में कभी रहा ही नही। स्पृश्य अस्पृश्य का प्रश्न भी उन्होंने कभी नही उठाया। धर्म साधना के द्वार सब के लिये खोल दिये गये। कर्म बन्धनो से मुक्ति मिलने के पश्चात् किसी भी जाति वाले मनुष्य को मुक्ति संभव है इसका भी उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे समर्थन किया।

सभागृह—

कैवल्य होने के पश्चात् भगवान महावीर का जहां भी विहार होता वही उनका समवसरण रचा जाता। जैन साहित्य मे समवसरण सभागृह का ही दूसरा नाम है। महावीर के समवसरण मे सभी को धर्मश्रवण की अनुमति थी। ऊंच नीच, धनी निर्धन, राजा, प्रजा का कोई भेद भाव नही था। सभागृह में बारह स्थान निश्चित थे जिनमे मुनिजन कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिका एवं अन्य स्त्रिया, ज्योतिष देविया, व्यंतर देविया, भवनवासी देविया, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषदेव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च बैठते थे। क्षमाशील तीर्थंकर के प्रभाव से सभी प्राणी अपने विरोधी स्वभाव को भूल जाते थे। एक ही कक्ष मे गाय, सिंह, बकरी और व्याघ्र बैठ कर धर्म श्रवण कर अपनी आत्मा को निर्मल बनाते थे।

उपदेश—

भगवान महावीर ने सर्व प्रथम अहिंसा की पुनः प्राण प्रतिष्ठा करके सर्वोदय मार्ग का पुनर्निर्माण किया। जीवो और जीने दो का सन्देश घर घर मे पहुंचाया उन्होने कहा कि अहिंसा विश्व शांति का आधार है। अहिंसा प्रेम का स्रोत है जिसके अमृत द्वारा जगत् के प्राणियो को जीवन दान दिया जा सकता है। उन्होने अहिंसा को जगत्कल्याण की कसौटी बताया और कहा कि सब कोई जीना चाहता है सब को अपना जीवन प्रिय है, सब कोई सुखी बनना चाहता है इसलिये किसी भी प्राणी को कष्ट पहुचाना ठीक नही है।

अहिंसा ही जगत् की माता है। क्योंकि वह समस्त जीवो की प्रतिपालना करने वाली है। अहिंसा ही आनन्द देने वाली है। वही उत्तम गति और शाश्वत लाभी है। जगत् मे जितने भी उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब अहिंसा मे ही निहित है। अहिंसा मुक्ति प्रदात् है। उसी से आत्महित सभव है। उन्होने कहा कि ससार मे जितने भी दु.ख, शोक, भय, और दुर्भाग्य आदि प्राप्त होते हैं उन सबको हिंसा जनित मानना चाहिये क्योकि अहिंसा मे तो शाश्वत आनन्द ही आनन्द है।

अनेकान्तवाद—

महावीर ने वस्तु को अनन्त धर्मात्मक घोषित करके मानव के चिन्तानात्मक विकास को असीमित कर दिया। अनेकान्तवाद को उन्होने सर्व धर्म समन्वय का रूप दिया और कहा कि सभी धर्म अच्छे हैं लेकिन उनमे व्याप्त आग्रहवाद खराब है।

अपरिग्रहवाद

भगवान महावीर ने कहा कि आवश्यकता से अधिक सग्रह करना पाप है। वर्गभेद का सघर्ष इस परिग्रह के दुष्परिणामो का फल है। महावीर का यह अपरिग्रहवाद समाजवाद की दिशा में प्रथम प्रयास था।

गृहस्थ धर्म

भंवरलाल पोल्याका

सब जीवों के लिए यह शक्य नहीं कि वे पूर्ण चारित्र का पालन कर सके। ऐसे तो केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने सांसारिक झंझटों से अपने आपको मुक्त कर लिया है। अतः चारित्र स्वतः ही दो भागों में विभाजित हो जाता है एक गृहत्यागी द्वारा पालनीय तथा दूसरा गृहस्थ द्वारा पालनीय। गृहत्यागी जिस चारित्र का पालन करते हैं वह महाव्रत और ग्रहस्थ जिस चारित्र का पालन करते हैं वह अणुव्रत संज्ञा से अभिहित किया जाता है और प्रत्येक के अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस प्रकार से पांच-पांच भेद हैं। गृहस्थों के चारित्र का यत्किञ्चित् परिचय देना ही इन पंक्तियों का उद्देश्य है।

इस पुण्य भूमि भारत मे जितने धर्म और उनके प्रवर्तक आज तक पैदा हुए उतने विश्व के किसी भी देश मे नहीं हुए। इस ही कारण यह देश धर्म प्रधान कहलाता है। धर्म की महिमा का जितना गुणगान यहाँ हुआ उतना कहीं नहीं हुआ।

मनु ने कहा—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्।

धर्म ही मारता है और धर्म ही रक्षा करता है अतः धर्म को मत मारो नहीं तो वह तुम्हें मार डालेगा।

धर्म ही वह तत्त्व है जो मानव को पशुओं से पृथक् करता है। हितोपदेश कार ने कहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिः नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

पशु भी भोजन करते हैं, सोते हैं और काम केलि करते हैं। इस दृष्टि से पशु और मनुष्यों में कोई भेद नहीं है। धर्म ही वह पदार्थ है जो मानव में पशु से अधिक है। यदि मानव में धर्म न हो तो उसमे और पशु में कोई भेद

नहीं होता।

आचार्य गुण भद्र ने भी कहा है—

धर्मो वसेरमनसि सावदलं स ताव,
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ नास्मिन्।
दृष्टा परस्पर- इतिर्जनकात्मजानां,
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन में धर्म का वास रहता है तब तक वह अपने को मारने वाले को भी नहीं मारता किन्तु जब वह धर्म विहीन हो जाता है तो वह अपने पैदा करने वाले पिता और अपनी ही आत्मज सन्तानों को भी मारने मे सकोच नही करता। अत. इस जगत् की रक्षा धर्म ही कर सकता है अन्य नही।

किसी संस्कृत कवि ने कहा—

यस्य धर्म विहीनानि दिनान्यान्ति यान्ति च।
स लोहकार भस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥

जिसके रात और दिन धर्म से रहित व्यतीत होते हैं ऐसा मनुष्य लुहार की धोकनी की तरह सांस तो लेता है मगर फिर भी वह जीवित नहीं हैं।

वह धर्म क्या है और उसकी उपलब्धि कहा होती है। महर्षि कणाद ने कहा है—यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः अर्थात् जिससे इस लोक मे अभ्युदय को सांसरिक सुखो की तथा परलोक मे निः श्रेयस अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र ने कहा कि धर्म वह है जो जीवो को ससार के दुःखो से छुडा कर मोक्ष तत्व को प्राप्ति करा दे जिसके पालन करने से कर्मों का समूल उच्छेद हो जावे वह धर्म है।

धर्मः सर्व सुखाकरो हित करो धर्मं बुधाश्चिन्विते,

धर्म सबको सुखी करने वाला और सबका हित करने वाला होता है।

वह धर्म मिलता है मनुष्य के आचरण में। वह बाजार बिकती वस्तु नही है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने कहा कि सदाचारी ही सदाचार परखने की अन्तिम कसौटी है। इसका अर्थ यह हुवा कि अमुक व्यक्ति धर्मात्मा है या नही इसकी कसौटी यह है कि उसका चरित्र कैसा है। इस ही लिये हमारे आचार्यो ने मानव के चारित्र को ही धर्म की सज्ञा प्रदान की है। मनुष्य चाहे जितनी उच्च पदवी को प्राप्त कर ले, वह चक्रवर्ती हो जावे, अशेष शास्त्रो का पठन कर ले, स्वय सरस्वती ही उसकी वाणी मे क्यो न आ बैठे किन्तु यदि उसका चरित्र ठीक नही है तो वह प्रतिष्ठा योग्य नही है धार्मिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नही है। आध्यात्मिक उन्नति तब तक नही हो सकती जब तक कि चरित्र हमारो आत्मा मे न उतरे। इस ही लिये जैन धर्माचार्यों ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समष्टि को मुक्ति का कारण बताया। केवल दर्शन या ज्ञान अथवा दोनों मिलकर भी तब तक परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कराने मे समर्थ नही है जब तक कि उनके साथ चरित्र न हो।

आत्मिक गुणो के अधिकाधिक विकास का प्रयत्न ही चरित्र है। आत्मिक गुणो का विकास राग द्वेप की निवृत्ति से होता है और जब राग द्वेष की निवृत्ति हो जाती है तो आत्मा मे अहिंसा उतरती है। पूर्ण अहिंसक वह ही हो सकता है जो राग द्वेष से रहित हो। ऐसा व्यक्ति निराकाक्षी और निष्परिग्रही होगा, उसका अधिकाश समय ज्ञान ध्यान और तप मे व्यतीत होगा, वह शत्रु और मित्र को बराबर समझेगा, प्राणी मात्र का हितचिन्तक होगा। और भी आत्मिक गुणो का विकास उसके अन्दर होगा। ऐसा ही पूर्ण चरित्र का धारी आत्मा हमारा उपास्य है। भगवान् महावीर की उपासना भी इस ही कारण की जाती है कि उन्होंने पूर्ण चारित्र को अपनी आत्मा में उतारा था।

सब जीवों के लिये यह शक्य नहीं कि वे पूर्ण चारित्र का पालन कर सके। ऐसे तो केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने सांसारिक झंझटों से अपने आपको मुक्त कर लिया है। अतः चारित्र स्वतः ही दो भागो मे विभाजित हो जाता है एक गृहत्यागी द्वारा पालनीय तथा दूसरा गृहस्थ द्वारा पालनीय। गृहत्यागी जिस चारित्र का पालन करते हैं वह महाव्रत और गृहस्थ जिस चारित्र का पालन करते हैं वह अणुव्रत सज्ञा से अभिहित किया जाता है और प्रत्येक के अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस प्रकार से पांच-पांच भेद हैं। गृहस्थो के चारित्र का यत्किञ्चित् परिचय देना ही इन पंक्तियों का उद्देश्य है।

अनुव्रतो का पालक गृहस्थ अपनी प्रत्येक क्रिया से यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करेगा। उसकी प्रत्येक क्रिया मे यह प्रयत्न रहेगा कि उसके उस कार्य से छोटे से छोटे जीव को भी किसी प्रकार का कष्ट न हो। यदि वह गृहस्थी की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पशु पक्षी रखेगा तो उसका प्रयत्न होगा कि उन्हे कम से कम कष्ट हो, वह उन्हे अनावश्यक रूप से तंग नही करेगा, समय पर उनके भोजन पान आदि की व्यवस्था करेगा तथा उनकी आवश्यकता भर उनका खुराक देगा। वह स्वय किसी पर हमला नही करेगा लेकिन यदि कोई उस पर या उसके देश अथवा सबंधियो पर किसी प्रकार का अत्याचार अथवा अनाचार करेगा तो वह उसका प्रतिकार करेगा।

वह इस प्रकार की झूंठ नही बोलेगा जिससे दूसरे का किसी प्रकार का अहित हो। साथ ही दूसरो की भलाई के लिये झूठ भी बोल सकेगा। दूसरों को अनाचार की ओर प्रवृत्त नही करेगा, किसी के साथ विश्वासघात नहीं करेगा, किसी की चुगली अथवा निन्दा नही करेगा, लेखनी में भी असत्य नहीं लिखेगा, किसी की धरोहर का हरण नहीं करेगा।

वह किसी की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई अथवा धरोहर रखी हुई वस्तु को बिना उसके स्वामी की आज्ञा के न तो स्वयं ग्रहण करेगा और न दूसरों को ही उसके हरण करने का उपदेश देगा, न किसी को चोरी करने का उपाय बतायेगा और न वह चोरी से लाए हुए द्रव्य को खरीदेगा ही। वह राज्य के नियमो और विधि विधानो का पूर्ण रूप से पालन करेगा, जितना टैक्स अथवा कर राज्य को देय है उतना ईमानदारी से देगा। टैक्स आदि बचाने के लिये दो प्रकार के बही खाते नहीं रखेगा अथवा तस्कर व्यापार जैसे अन्य धंधे नही करेगा जिनसे राज्य के नियमों की अवहेलना हो। वह मिलावट करके भी या की हुई वस्तुओं को विक्रय नही करेगा उदाहरणतः काली मिर्च मे एरण्ड ककड़ी के बीज मिलाना, पिसे धनिये मे अखाद्य पदार्थ मिला देना, चाय में लकड़ी का रंगा छिलका, नकली केसर आदि न स्वयं बनाएगा और न मिलावटी पदार्थों को शुद्ध कह कर विक्रय करेगा। वह लेन देन मे खरा होगा। लेने और बेचने के बाट अलग नही रखेगा। एक ही प्रकार के बांटो से पूरा तोल कर अपना व्यापार करेगा।

वह अपनी परिणीता स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री से किसी प्रकार के अनुचित सम्बध नहीं रखेगा और न दूसरो को ही इस प्रकार करने की प्रेरणा देगा। अनंग क्रीड़ा नही करेगा। गाली आदि गन्दे शब्दो का प्रयोग नही करेगा। अपने स्त्री के साथ भी सयमपूर्ण व्यवहार करेगा उच्छृंखल होकर अपनी इन्द्रियो को खेलने नही देगा। विवाह आदि कराने की दलाली इत्यादि नहीं करेगा।

वह अपनी आवश्यकता से अधिक का संग्रह नहीं करेगा और उसमे भी आसक्त भाव नही रखेगा। दूसरे के पास अधिक सम्पत्ति देखकर ईर्ष्या नहीं करेगा। लोभ का परित्याग करेगा। संतोष वृत्ति को धारण करेगा।

वह आग्रह हीन होगा दूसरों के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयत्न करेगा । अपने विचार जबर्दस्ती किसी पर लादेगा नहीं । वह दूसरे धर्म का भी समानरूप से आदर करेगा ।

वह अधिक जीने की कामना करने की अपेक्षा प्रयत्न करेगा कि जितना जीवन वह जीये उसे सफलता और शुद्धता पूर्वक जीये । वह समझेगा कि जीवन क्षण भंगुर है पता नहीं कब मौत का पंजा उसे दबोच ले अतः प्रति समय, प्रतिक्षण अपना जीवन धर्म मय बनाए रखने का प्रयत्न करेगा ।

वह अंध श्रद्धालु नहीं होगा । प्रत्येक बात को विवेक की तराजू पर तोलेगा तब ही उसे मानेगा । कभी ठगाई में नहीं आवेगा । धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा अटल होगी । दुनिया के प्रलोभन कभी भी उसे मार्ग से च्युत नहीं कर सकेंगे ।

जिस मानव के जीवन में उपरोक्त धर्म उतरेगा वह ही वास्तव में धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है और वह ही वस्तु स्वभाव रूप धर्म अर्थात् आत्म तत्व की प्राप्ति की ओर प्रयत्न करता हुआ अन्त में उसे प्राप्त कर लेगा और वह जगत्पूज्य बन जायगा ।

❂

"अपने पूर्वजों के खोदे हुए कुए का खारा पानी पीकर दूसरे का शुद्ध जल का त्याग करने वाले बहुत से बेवकूफ इस दुनिया में घूमते हैं ।"

—विवेकानन्द

स्व० मास्टर मोतीलालजी

मास्टर साहब के द्वारा सन् 1920 में दिगम्बर जैन बड़े मन्दिर में सन्मति पुस्तकालय की स्थापना की गई थी, मास्टर साहब गृहस्थ होते हुए भी साधु थे, अपने जीवन काल में ही आपने 35,000 से अधिक पुस्तकों का संग्रह कर लिया था जिससे सभी व्यक्ति बिना भेद भाव के लाभान्वित हुए। इस मन्दिर की जगह काफी समय से पुस्तकालय के लिए कम प्रतीत हो रही थी। सरकार द्वारा अर्जुनलाल सेठी नगर में दी गई भूमि पर अब इसके नये भवन का निर्माण कार्य हो रहा है।

मास्टर मोतीलालजी का सच्चा स्मारक

अर्जुनलाल सेठी नगर में निर्माणाधीन :—

सन्मति पुस्तकालय भवन

के लिये उदार मन से दान दीजिये

याद रखिये

ज्ञान दान से बढ़ कर कोई दान नहीं होता।

पुस्तकालय को दी गई आर्थिक सहायता आयकर से मुक्त है।

विनीत
अनूपचन्द टोलिया
संयोजक
अर्थ संग्रह समिति
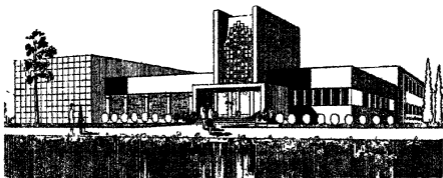
राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रसारित

श्री अमर जैन मैडिकल रिलीफ सोसाइटी के बढ़ते चरण

आज से लगभग ८ वर्ष पूर्व की घटना है उपाध्याय मुनि श्री हस्ती मल जी महाराज के गुरुभाई शास्त्रार्थी मुनि श्री अमर मुनि जी महाराज का चातुर्मास था जीवन और मौत से संघर्ष करते महाराज श्री का यह नश्वर शरीर चल बसा। उनकी स्मृति को चिरस्मरणीय बनाने के लिए समाज के कतिपय उदारमना तथा मुनि श्री की अदृश्य आत्मा की प्रेरणा का ही प्रतिफल है कि अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसाइटी का उन्नयन हुआ।

प्रारम्भ में ही सोसाइटी का उद्देश्य बिना वर्ण जाति भेद भाव के मानव मात्र की सेवा के लिए सुलभ साधन और सुविधाएं जुटाना रहा। चिकित्सा व्यवस्था को सुलभ एवं सस्ती बनाने के उद्देश्य से २४ फरवरी १९६१ को मुख्य मंत्री श्री सुखाड़िया द्वारा इसका उद्घाटन हुआ, प्रारम्भ में रोगियों की संख्या दैनिक १०० थी जो धीरे धीरे बढ़कर ५००, ६०० तक प्रतिदिन आगई। इस प्रकार इस चिकित्सालय ने रोगियों का विश्वास प्राप्त करने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की इससे प्रबन्धकों के उत्साह वर्धन में अपूर्व प्रेरणास्पद योग सिद्ध हुआ तथा उन्होंने चिकित्सालय की सेवाओं में अभिवृद्धि करने का निर्णय लिया, इस समय चार डाक्टर, एक महिला डाक्टर विशेषज्ञ, ७ कम्पाउन्डर व १ नर्स की सेवाएं उपलब्ध हैं।

सोसाइटी अभी अपनी शैशवावस्था में है तथा भावी योजनाएं अपने अन्तस्तल में छिपाये बैठी है। चिकित्सालय के साथ साथ नवीनतम यंत्रों से सुसज्जित प्रसूति गृह तथा नर्सिंग होम स्थापित करने के उद्देश्य से आज से ५ वर्ष पूर्व सन् १९६४ में सवाई मानसिंह हाइवे में हवेली निवाड़ियान का क्रय किया। काफी अड़चनों व कठिनाइयों के बाद भवन निर्माण का कार्य द्रुत गति से प्रारम्भ हुआ।

निशुल्क परिवार नियोजन के आपरेशन, चेचक के टीके, निशुल्क विशेषज्ञों से परामर्श, असमर्थ रोगियों की निशुल्क चिकित्सा सोसाइटी की अपनी विशेषताएं हैं। हाल ही में एक्स रे मशीन की उपलब्धि ने हमारी सेवाओं में और भी अधिक सहयोग दिया है। शीघ्र ही चालू की जाने वाली नर्सिंग होम एवं प्रसूति गृह जैसी पथोलोजिकल लेबोरेट्री जैसी उपयोगी सेवाएं जनता को इसके वास्तविक उद्देश्य का दिग्दर्शन करा सकेंगी।

इन सभी योजनाओं को मूर्त रूप देने के लिए सोसाइटी के सभी सदस्य प्रयत्नशील हैं इस पुनीत कार्य में सदस्य व संरक्षक बन कर रोगियों के निशुल्क वितरण के लिए औषधियां प्रदान कर, रोगियों को चिकित्सालय भवन पहुंचाकर, अधिक से अधिक दान देकर आप इस पुण्य कार्य में भागीदार बनिये।

राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रसारित।

शोध, खोज, साहित्य
पुरातत्त्व

द्वितीय खंड

इस अङ्क मे .—

तिरुकुरल

(तमिलवेद)

एक जैन रचना

> "हमें जैनेतर जगत् के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खींचतान कर लाए प्रमाण विषय को बल न देकर प्रत्युत निर्बल बना देते हैं। आग्रह हीन शोध ही लेखक की कसौटी है। शोध का सम्बध सत्य से है न कि सम्प्रदाय से।"
>
> विद्वान् लेखक के ये शब्द प्रत्येक शोधार्थी के लिये एक आदर्श उपस्थित करते हैं।
>
> —सं०

प्रयुक्त परामर्शक
मुनिश्री नगराजजी
डी०-लिट०

भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने कहा—"यदि कोई चाहे कि भारत के समस्त साहित्य का मुझे पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाये तो तिरुकुरल को बिना पढे उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता।" इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी अपना धर्म ग्रन्थ मानने को समुत्सुक हैं। लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व लिखा गया वह ग्रन्थ तमिल वेद अर्थात् तिरुकुरल है। तमिल जाति का यह सर्वमान्य और सर्वोपरि ग्रन्थ है। इसीलिए उसका नाम 'तमिलवेद' पडा है।

प्रचलित धारणा के अनुसार इस ग्रन्थ के रचयिता तिरुवल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर हैं। यह एक काव्यात्मक नीति ग्रन्थ है। बहुत बडा नहीं है। यह ग्रन्थ कुरल नामक छन्द में लिखा गया है। कुरल छन्द एक अनुष्टुप श्लोक से भी छोटा होता है।

इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ और काम—ये तीन मूलभूत आधार माने गये हैं। विभिन्न विषयपरक १३३ अध्याय हैं और एक-एक अध्याय मे दश-दश कुरल छन्द हैं। कुल मिलाकर १३३० कुरल होते हैं, जो पक्तियो में २६६० हैं। रचना सौष्ठव तमिल के विद्वानों द्वारा निरुपम माना गया है। हिन्दी में गद्य अनुवाद उपलब्ध है, पर पद्य का गद्यात्मक या पद्यात्मक अनुवाद एक भाव

बोध से अधिक कुछ नहीं बताया करता। कालिदास ने संस्कृत शब्दावली में जिस भाषा को अपने कलात्मक कवित्व में बाधा है और जो आनन्द उससे संस्कृत काव्य रसिक उठा सकता है, वह कलात्मकता उसके हिन्दी अनुवाद में थोड़े ही आ सकती है? वह अनुवाद भी यदि संस्कृत पद्य का हिन्दी गद्य मे हो तो काव्यात्मक आनन्द के विषय मे तमिल नहीं जानने वाले हम अननुभूत और अनभिज्ञ ही रह सकते हैं; तथापि कवि की उक्ति-चारुता आदि कुछ विशेषताओं को हम तथारूप अनुवाद से भी पकड़ सकते है।

काव्य की भाषा तीखी और हृदय स्पर्शी है। धर्म की उपादेयता के विषय मे कहा गया है—"मुझ से मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है? बस एक बार पालकी उठाने वाले कहारो की ओर देख लो और फिर उस आदमी को देख लो जो उसमे सवार है।"[१]

क्रोध के विषय मे कहा गया है—"जो व्यक्ति क्रोध को दिल मे जमाकर रखता है, जैसे वह कोई बहुमूल्य पदार्थ हो, वह उस मनुष्य के समान है जो कठोर जमीन पर हाथ दे मारता है। उस आदमी को चोट आये बिना नही रह सकती।"[२]

मायावी के विषय में कहा गया है—"तीर सीधा होता है और तम्बूरे मे कुछ टेढापन रहता है। इसीलिए आदमियों को उनकी सूरत से नही उनके कामो से पहचानो।"[३] भावार्थ—तीर सीधा होकर भी कलेजे में लगता है, तम्बूरा टेढा होकर भी अपनी मधुर ध्वनि से हमे आह्लादित करता है, अतः मायावी लोगो की ऊपरी सरलता में न फसो।

धैर्य के विषय मे कहा गया है—"विपत्ति से लोहा लेने मे मुस्कान से बढ़कर कोई साथी नही हो सकता।"[४]

वाणी के विषय मे कहा गया है—"तुम ऐसी वक्तृता दो कि दूसरी कोई वक्तृता उसे चुप न कर सके।"[५]

सामान्य उपदेशो को भी निराले ढग से कहने मे कवि बहुत सफल रहा है।

गरिमा और अभिधा

यह ग्रन्थ इतना ख्यातिलब्ध कैसे हुआ और इसे इतनी मान्यता कैसे मिली, इस विषय मे भी एक सरस किवदन्ती तमिल लोगो मे प्रचलित है। कहा जाता है, उन दिनो दक्षिण मे मदुरा नामक एक नगर था। वह नगर अपने विद्याबल से प्रसिद्ध था। वहा तमिल भाषा के विद्वानो की एक बडी सभा थी। उसमे एक ऊचा आसन रहता। उसके विषय मे यह धारणा थी कि जब सभा लगती है, तब अदृश्य रूप मे यहा सरस्वती आकर बैठती है। ग्रन्थ ४९ आसनो पर उस सभा के धुरंधर विद्वान् बैठते थे। दूर दूर तक इस सभा का यश फैला था। विविध ग्रन्थ-रचयिता यहा आते और अपने ग्रन्थ को उस सभा के समक्ष रखते। सभासद उस ग्रन्थ का वाचन करते और उस पर अपना मत अभिव्यक्त करते।

तिरुवल्लुवर एक सन्त प्रकृति के पुरुष थे। वे अपने ग्रन्थ का ऐसा अभि-स्थापन नहीं चाहते थे, पर मित्रो के दबाव से अपना ग्रन्थ लेकर उन्हे मदुरा की उस विद्वत्-सभा मे उपस्थित होना पडा। उन्होने अपना ग्रन्थ सभाध्यक्ष के हाथो मे दिया। सभाध्यक्ष ने ग्रन्थ सभासदो को वह ग्रन्थ दिखाते हुए तिरुवल्लुवर से पूछा—आपका ग्रन्थ किस विषय पर है? वल्लुवर ने विनम्र भाव से कहा—मानव जीवन पर। यह पूछे जाने पर कि मानव जीवन के किस पहलू पर है; वल्लुवर ने कहा—सभी पहलुओ पर।

इस बात पर सभी सभासद हसे। छोटा-सा ग्रन्थ और मानव-जीवन के सभी पहलुओं पर विवेचन।

प्रधान ने पुस्तक का वाचन प्रारम्भ किया। दो चार पद्य पढ़े कि वल्लुवर की भाव-व्यंजना ने सभी को आकृष्ट किया । क्रमशः पूरा ग्रन्थ पढ़ा गया। सभी सभासद आनन्द विभोर हो उठे। एक स्वर से सब ने कहा—सचमुच ही यह ग्रन्थ तो तमिलवेद बन गया है।

इस प्रकार तिरुवल्लुवर महान् ख्याति अर्जित कर अपने घर लौटे। तिरुकुरल ग्रन्थ तब से तमिल-वेद कहा जाने लगा। तिरुकुरल का अभिप्राय होता है—कुरल छन्दो मे लिखा गया, पवित्र ग्रन्थ। तिरुवल्लुवर का अभिप्राय होता है—पवित्र वल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर।

वल्लुवर का गृह-जीवन

वल्लुवर कबीर की तरह जुलाहे थे। कपडा बुनना और उससे आजीविका चलाना उनका परम्परागत कार्य था। जातीयता की दृष्टि से वे दक्षिण की अछूत जाति के माने गये हैं। उनकी पत्नी का नाम वासुकी था। वह भी एक आदर्श और अर्चनीय महिला मानी गई है। पतिव्रत धर्म को निभाने मे वह निराली थी। अपने पति के प्रति मन, वचन और कर्म से वह कितनी समर्पित थी और कितनी श्रद्धाशील थी; इस सम्बन्ध में बहुत सारी घटनाए तमिल समाज मे प्रचलित हैं।

कहा जाता है, तिरुवल्लुवर ने एक बार उसकी श्रद्धा का अंकन करने के लिए कहा—आज लोहे की कीलो और लोहे के टुकड़ो का शाक बनाओ। वासुकी ने बिना किसी तर्क और आशंका के चूल्हे पर तपेली चढ़ा दी और वह लोहे के टुकड़ो और कीलो को उबालने लगी।

एक बार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में भी किसी खोई हुई वस्तु को खोजने के लिए तिरुवल्लुवर ने वासुकी से चिराग मंगाया। वासुकी ने बिना ननु-नच के चिराग जलाया और वह खोई हुई वस्तु को खोजने मे पति की मदद करने लगी।

एक दिन वासुकी घर के कूएं से पानी निकाल रही थी। अकस्मात् पति का आह्वान कानों में पडा। उसने अपने आधे खीचे बर्तन को ज्यों का त्यो छोडा और पति के पास चली गई। कार्य-निवृत्त होकर जब वह वापस आई तो देखा, पानी का बर्तन ज्यो का त्यो कुंए में आधा लटक रहा है।

सन्त पुरुष

तिरुवल्लुवर एक सन्त पुरुष थे। उनकी साधना परिपूर्ण थी। उनके जीवन की एक ही घटना उनकी शान्त वृत्ति का पूरा परिचय दे देती है। एलेल सिंगल नामक एक धनाढ्य व्यक्ति वल्लु-वर के ही नगर मे रहता था।

वह अपने समुद्री व्यवसाय से प्रसिद्ध था। उसके एक लडका था। वह अधिक लाड प्यार में ढीठ सा हो गया था। बड़े-बूढ़ो के साथ भी शरारत कर लेना उसके प्रतिदिन का कार्य था। एक दिन वह अपने साथियो की टोली के साथ उस मुहल्ले से गुजरा, जहा वल्लुवर अपना बुनाई का काम किया करते थे। उस समय वल्लुवर शान्त भाव से किसी चिन्तन मे बैठे थे और उनके सामने बेचने की दो साडिया रखी थी। शरारती युवक के मित्रो ने वल्लुवर को एक सन्त बताते हुए उनकी प्रशसा की। शरारती युवक ने कहा-सन्त पन स्वयं एक ढोंग है। एक आदमी की अपेक्षा दूसरे आदमी मे ऐसी कौन सी विशेषता होती है, जिससे वह सन्त बन जाता है। मित्रो ने कहा-शान्ति। इसी विशेषता से सन्त कहलाता है। शरारती युवक यह कहते हुए कि मैं देखता हू इसकी शान्ति, वल्लुवर के सामने ही आ धमका। एक साडी उठा ली और बोला—इसका क्या मूल्य है?

वल्लुवर—दो रुपया।

युवक ने साडी के दो टुकड़े कर दिये और एक टुकड़े के लिए पूछा—इसका क्या मूल्य है?

वल्लुवर ने शान्त भाव से कहा—एक रुपया। युवक चार, आठ, सोलह आदि टुकड़े क्रमशः करता गया और अन्तिम का दाम पूछता ही गया। सारी साड़ी मटियामेट हो गई। वल्लुवर उसी शान्त भाव मुद्रा से यह सब देखते रहे। अन्त में युवक ने कहा—मेरे यह साड़ी अब किसी काम की नहीं है। मै नहीं खरीदता। वल्लुवर ने भी शान्त भाव से कहा—सच है बेटे। अब यह साड़ी किसी के किसी काम की नहीं रही है। शरारती युवक तिलमिला-सा गया। मन मे लज्जित हुआ। मित्रो के सामने हुई अपनी असफलता पर कुढ़ने लगा। जेब से दो रुपये निकाले और वल्लुवर के सामने रख दिये। वल्लुवर ने रुपयों को वापस करते हुए कहा—बेटे। अपना सौदा पटा ही नही तो रुपये किस बात के? अब युवक के पास कहने को कुछ नही रह गया था। अपनी ढीठता पर उसका हृदय रो पड़ा। वह सन्त के चरणो मे गिर पड़ा यह कहते हुए कि मनुष्य-मनुष्य मे इतना अन्तर हो सकता है, जितना मेरे मे और वल्लुवर सन्त मे, यह मैने पहली बार जाना है।

कहा जाता है, इस घटना के पश्चात् वह शरारती युवक सदा के लिए भला हो गया। उसका पिता और वह सदा के लिए वल्लुवर के भक्त हो गये और वे वल्लुवर का परामर्श लेकर ही प्रत्येक कार्य करने लगे।

जैन रचना

'कुरल' और 'वल्लुवर' के विषय मे उक्त सारी धारणाएं तो जनश्रुति के अनुसार पल ही रही हैं, पर अब इस समग्र विषय पर इतिहास भी कुछ करवट लेने लगा है। वल्लुवर सन्त-श्रेणी के व्यक्ति और विलक्षण मेधावी थे, इस मे कोई सन्देह नही, पर उन्हे वह ज्ञान कहा से मिला, यह विषय सर्वथा अस्पष्ट था। अब बहुत सारे आधारो से प्रमाणित हो रहा है[६] कि वल्लुवर जैन आचार्य कुन्द-कुन्द के शिष्य थे, और 'कुरल' उनकी रचना है। वल्लुवर 'कुरल' के रचयिता नही, प्रसारक मात्र थे।

यह एक सुविदित विषय है कि जैन धर्म किसी एक परिस्थिति विशेष मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत मे गया। इतिहास बताता है-बारह वर्षो के दीर्घअकाल के समय उत्तर भारत मे साधु चर्या का निर्वाह कठिन होने लगा था। उस समय भगवान महावीर के सप्तम पट्टधर श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी साधु-साध्वियो और श्रावक-श्रविकाओ के एक महान् सघ के साथ दक्षिण भी आये। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी दीक्षित होकर उनके साथ आये थे। वह सघ यात्रा कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि १२००० साधु-श्रावका का परिवार तो केवल प्रव्रजित सम्राट् चन्द्रगुप्त का था।

मैसूर राज्य मे ऐसे अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का कन्नड प्रदेश मे आना और दीर्घकाल तक जैन धर्म का प्रचार करते रहना प्रमाणित होता है।[७]

भद्रबाहु के दक्षिण जाने वाले शिष्यो मे प्रमुख-तम विशाखाचार्य थे। ये तमिल प्रदेश मे गये। वहा के राजाओ को जैन बनाया। जनता को जैन बनाया। सारे तमिल प्रदेश मे जैनधर्म फैल गया और शताब्दियो तक वह वहा राज धर्म के रूप में माना जाता रहा। तमिल साहित्य का श्रीगणेश भी जैन विद्वानो के द्वारा हुआ। व्याकरण आदि विभिन्न विषयो पर उन्होने गद्यात्मक व पद्यात्मक ग्रन्थ लिखे।

ईसा की प्रथम शताब्दी मे आचार्य श्री कुन्द-कुन्द मद्रास के निकट पोन्नूर की पहाडियो मे रहते थे। वल्लुवर का आचार्य कुन्द-कुन्द से सम्पर्क हुआ। वे श्री कुन्द-कुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए और कुन्द-कुन्दाचार्य ने उनको अपना

ग्रन्थ बना लिया। अपनी रचना 'कुरल' अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंपते हुए उन्होंने आदेश दिया—"देश में भ्रमण करो और इस ग्रन्थ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तो का प्रचार करो।" साथ-साथ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को चेतावनी भी दी, "देखो ! ग्रन्थ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना, क्योंकि यह ग्रन्थ मानवता के उत्थान के लिए लिखा गया है, आत्म-प्रशसा के लिए नही।"

प्रमाणो के अधिक विस्तार में हम न भी जाएं तो भी उस ग्रन्थ का आदि पृष्ठ ही एक ऐसा निर्द्वन्द्व प्रमाण है जो 'कुरल' को सर्वाशतः जैन-रचना प्रमाणित कर देता है। प्रथम प्रकरण ईश्वर स्तुति का है। हमे देखना है कि रचयिता का वह ईश्वर कैसा और कौन होता है ? मुख्यत ईश्वर की परिभाषा ही जैन धर्म को अन्य धर्मो से पृथक् रखती है। कुरल की ईश्वर-स्तुति मे कहा जाता है—धन्य है वह पुरुष जो आदि पुरुष के पादारविन्द मे रत रहता है, जो कि न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष । जैन सस्कृति के मर्मज्ञ सहज ही समझ सकते हैं कि इस स्तुति-वाक्य में कविता का हार्द क्या रहा। यह तो स्पष्ट है ही कि रचयिता अपने ग्रन्थ को सर्वमान्य प्रार्थना से अलकृत करना चाहता है। ग्रन्थ के नैतिक उपदेशो से जैन-जैनेतर सभी लाभान्वित हो, यह इसका अभिप्रेत रहा है। इन कारणो से उसने मगलाचार मे सार्वजनिकता बरती है। रचयिता का अभिप्राय इतने मे हो अभिव्यक्त किया जा सकता कि जैन देवो की स्तुति हो और वैदिक लोग उसे अपने देवों की स्तुति मानें परमार्थ नष्ट न हो और समन्वय सध जाये। अन्य जैन आचार्यों ने भी इस पद्धति का व्यवहार किया है।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

महावीर आदि तीर्थंकरो में मेरा अनुराग नहीं है और कपिल आदि तैर्थिकों पर मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन यथार्थ हो, उसी का वचन मेरे लिए ग्राह्य है। भाषा समन्वयमूलक है। यथार्थता मे महावीर का वचन ही ग्राह्य है।

एक अन्य श्लोक मे जो जैन परम्परा मे बहुत प्रसिद्ध है ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी प्रणाम किया गया है, पर शर्त यह डाली है कि वे राग-द्वेष रहित हों। कहा गया है—

भव-बीजाकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

कथन मात्र के लिए प्रणाम सब को किया गया है, पर प्रणाम ठहरता केवल जिन के लिए है। कुरल के प्रस्तुत श्लोकार्थ में भी आदि ब्रह्मा की स्तुति की गई है। पुराण परम्परा के अनुसार ब्रह्मा आदि पुरुष हैं, क्योंकि उसी से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण पैदा हुए हैं। अतः यह स्तुति उस आदि ब्रह्मा तक पहुचनी चाहिए। यहां राग-द्वेष रहित होने का अनुबन्ध लगा कर रचयिता ने वह स्तुति आदि-पुरुष श्री आदिनाथ प्रभु तक पहुचा दी है। वे आदि पुरुष भी हैं और राग-द्वेष रहित भी।

एक अन्य श्लोक मे रचयिता कहते हैं—"जो मनुष्य हृदय कमल के अधिवासी भगवान् के चरणो की शरण लेता है, मृत्यु उस पर दौडकर नही आती।" यहाँ विष्णु की स्तुति प्रतीत होती है, पर हृदय कमल के अधिवासी भगवान् कहकर रचयिता ने सारा भाव जैनत्व की ओर मोड दिया है। सगुणता से भगवान् निर्गुणता की ओर चले गये।

अन्य अनेकों श्लोको मे भी रचयिता ने अपने अभिप्राय का निर्वाह किया है। ईश्वर-स्तुति प्रकरण का प्रत्येक श्लोक ही इस दृष्टिकोण से बहुत मननीय है। इस प्रकरण के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं-

१—"अ" शब्द श्लोक का मूल स्थान है, ठीक इसी तरह आदि ब्रह्म सब लोको का मूल स्रोत है। यहाँ आदि-ब्रह्म शब्द मे आदिनाथ भगवान् की ओर संकेत जाता है।

२—"यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्री चरणो की पूजा नहीं करते हो तो तुम्हारी यह सारी विद्वत्ता किस काम की ?" इस श्लोक मे अपने परमेश्वर का स्वरूप सर्वज्ञ के रूप में स्पष्ट कर दिया है। जैनो का ईश्वर कर्त्ता-धर्ता नही, सर्वज्ञ ही है।

६—"जो लोग उस परम जितेन्द्रिय पुरुष के दिखाये धर्म-मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे दीर्घ जीवी होगे।" प्रस्तुत भावना मे भी जितेन्द्रिय शब्द से जिन भगवान की ओर संकेत किया गया है।

७—"केवल वही लोग दुःखों से बच सकते हैं जो उस अद्वितीय पुरुष की श्रेणी मे आते हैं।" तीर्थंकर भरत क्षेत्र मे एक साथ दो नही होते। इसलिए रचयिता ने उन्हे भी अद्वितीय पुरुष कहा है, ऐसा लगता है।

८—"धन-वैभव और इन्द्रिय-सुख के ज्वार-संकुल समुद्र को वही पार कर सकते हैं, जो उस धर्म-सिन्धु मुनीश्वर के चरणो मे लीन रहते हैं।" यहाँ जैनो के परमेष्ठी पचक मे पचम पद की स्तुति की गई है।

९—"जो मनुष्य अष्टगुण संयुक्त परब्रह्म के चरण कमलो मे सिर नहीं झुकाता, वह उस इन्द्रिय के समान है, जिसमे अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है।" जैन परम्परा में मुक्त जीव सिद्ध भगवान् कहलाते हैं। वे केवल ज्ञान, केवल दर्शनादि आठ गुणो से संयुक्त होते हैं। पूर्वोक्त भावना मे उनकी स्तुति का ही संकेत मिलता है।

१०—जन्म-मरण के समुद्र को वे ही पार कर सकते हैं, जो प्रभु के चरणो की शरण मे आ जाते हैं। दूसरे लोग उसे तर ही नही सकते।" प्रस्तुत भावना के प्रभु शब्द से पचपरमेष्ठी रूप प्रभु को स्तुति की गई है। ऐसा स्वय लगता है।

५—देखो, जो मनुष्य प्रभु के गुणो का उत्साहपूर्वक गान करते हैं, उन्हे अपने कर्मो का दुःखप्रद फल नही भोगना पडता।' इस प्रकार समग्र स्तुति दशक मे कही भी जैनत्व की सीमा का उल्लंघन नही किया गया है, अपितु स्तुति को जैन और वैदिक दोनो परम्पराओ से सम्मत बनाते हुए भी रचयिता ने जैनत्व का सपोषण किया है।

इस प्रकार हम अन्य प्रकरणो की छान बीन मे भी जा सकें तो सभवतः बहुत सारी उक्तिया मिल जायेंगी जो नितान्त रूप से जैनत्व को अभिव्यक्त करने वाली ही है।

अन्य विद्वानों के अंकन में

'तिरुकुरल' कृति की इस सहज अभिव्यक्ति को भारतीय व पाश्चात्य अन्य विद्वानो ने भी आका है। कनक सभाई पिल्लै (Kanaksabhai Pillai) एस० वियपुरी पिल्ले (S Viyapuri pillai), टी० वी० कल्याण सुन्दर मुदालियार (T V. Kalyan Sundara Mudaliar) आदि अनेको जैनेतर विद्वान् है, जिनहोने स्पष्ट व्यक्त किया है कि तिरुकुरल एक जैन रचना है।[८] यूरोपीय विद्वान् एलिस (Allis) और ग्राउल (Graul) ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

तमिल विद्वान् कल्लदार (Kalladar) ने कुरल की प्रशस्ति में लिखा है—"परम्परागत सभी मतवाद एक दूसरे मे विरोध रखते हैं। एक दर्शन कहता है, सत्य यह है, तो दूसरा दर्शन कहता है, यह ठीक नही है, सत्य तो यह है। कुरल का दर्शन एकान्तवादिता के दोष से सर्वथा मुक्त है।"[१०]

इस प्रसग मे यह भी एक महत्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है कि 'कयतरम्' (Kayatram) नामक

तमिल निघण्टु के देव प्रकरण मे जिनेश्वर के पर्याय वाची नामो में बहुत सारे वही नाम दिये गये हैं जो कुरल की मगल प्रशस्ति मे प्रयुक्त किये गये हैं। निघण्टुकार ने जो कि ब्राह्मण विद्वान् है, कुरल के रचयिता को जैन समझ कर ही अवश्य ऐसा माना है।

कुरल पर अनेको प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होती है। उनमे से अनेक टीकाए जैन विद्वानों द्वारा लिखी गई है, इससे भी कुरल का जैन-रचना होना पुष्ट होना है।

सब से महत्वपूर्ण माने जाने वाली टीका के रचयिता धर्मार हैं। उनके विषय मे भी धारणा है कि वे प्रसिद्ध जैन-विद्वान् तो थे, पर धर्म से जैनी नही थे।[११]

कुन्द-कुन्द ही क्यों ?

कुरल को जैन रचना मान लेने के पश्चात् भी यह जिज्ञासा तो रह ही जाती है कि उसके रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही क्यों ? इस विषय मे भी कुछ एक ऐतिहासिक आधार बनते हैं। मामूलनार (Mamoolnar) तमिल के विख्यात कवि हैं। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उन्होंने कुरल की प्रशस्ति गाथा में कहा है—कुरल के वास्तविक लेखक थीवर हैं, किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को इसका लेखक बतलाते हैं, पर बुद्धिमान लोगों को अज्ञानियो की वह मूर्खता भरी बातें स्वीकार नहीं करनी चाहिए।[१३]

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपने द्वारा सम्पादित तिरुकुरल में भलीभाति प्रमाणित किया है कि तमिल परम्परा में आचार्य कुन्द-कुन्द के ही 'थीवर' और 'एलाचार्य' ये दो नाम हैं।

जैन विद्वान् जीवक चिंतामणि ग्रन्थ के टीकाकार नचिनार किनियर (Nachinar kiniyar) ने अपनी टीका में सर्वत्र तिरुकुरल के लेखक का नाम थीवर बतलाया है।

तमिल साहित्य मे सामान्यतः थीवर शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ मे किया जाता है।

कुरल की एक प्राचीन पाण्डुलिपि के मुखपृष्ठ पर लिखा मिला है—एलाचार्य द्वारा रचित तिरुकुरल। इन सारे प्रमाणो को देखते हुए सन्देह नही रह जाना चाहिए कि कुरल के वास्तविक रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही थे।

भ्रम का कारण

यह एक बडा-सा प्रश्न चिन्ह बन जाता है कि आचार्य कुन्द-कुन्द (थीवर व एलाचार्य) ही इसके रचयिता थे तो यह इतना बडा भ्रम खडा ही कैसे हुआ कि इसके रचयिता तिरुवल्लुवर थे। तमिल की जैन परम्परा मे यह प्रचलित है कि एलाचार्य (आचार्य कुन्द-कुन्द) एक महान् साधक व गणमान्य आचार्य थे, अतः उनके लिए अपने ग्रन्थ को प्रमाणित कराने की दृष्टि से मदुरा की सभा मे जाना उचित नही था। इस स्थिति मे उनके गृहस्थ शिष्य श्री तिरुवल्लुवर इस ग्रन्थ को लेकर मदुरा की सभा मे गये और उन्होने ही विद्वानों के समक्ष इसे प्रस्तुत किया। इस घटना-प्रसग से तिरुवल्लुवर इसके रचयिता के रूप मे प्रसिद्ध हो गये। दूसरा कारण यह भी था कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने यह ग्रन्थ वल्लुवर को प्रचारार्थ सौंपा था और वे इसका प्रचार करते थे, अत. सर्वसाधारण ने उन्हें ही इसका रचयिता माना। ऐसा भी सम्भव है कि आचार्य कुन्द-कुन्द इस ग्रन्थ को सर्वमान्य बनाए रखने के लिए अपना नाम इसके साथ जोड़ना नही चाहते थे जैसे कि उन्होने अपने देव का नाम भी सीधे रूप मे ग्रन्थ के साथ नही जोडा। रचयिता का नाम गौण रहे तो प्रचारक का नाम रचयिता के रूप में किसी भी ग्रन्थ के साथ सहज ही जुड़ जाता है।

उपसंहार

'तिरुकुरल' काव्य आज दो सहस्र वर्षों के पश्चात् भी एक नीति ग्रन्थ के रूप में समाज के लिए बहुत उपयोगी है। समग्र जैन समाज के लिए यह गौरव का विषय होना चाहिए कि एक जैन रचना पंचम वेद के रूप में पूजी जा रही है। अपेक्षा है, इस सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य चालू रहे। यह ठीक है कि एतद् विषयक बहुत सारी शून्यताएं तमिल की जैन परम्परा भर देती है, पर अपेक्षा है, उन शून्यताओं को ऐतिहासिक प्रमाणों से और भर देने की। प्रो० ए० चक्रवर्ती ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया है, पर अपने प्रतिपादन में कुछ-एक सहारे उन्होंने ऐसे भी लिए हैं जो शोध के क्षेत्र में बड़े लचीले ठहरते हैं। जैसे तिरुकुरल के धर्म, अर्थ काम आदि आधारों को कुन्द-कुन्द के ग्रन्थ ग्रन्थों में वर्णित चत्तारि मंगल के पाठ से पुष्ट करना। हमें जैनेतर जगत् के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खींचतान कर लाये गये प्रमाण विषय को बल न देकर प्रत्युत निर्बल बना देते हैं। आग्रहहीन शोध ही लेखक की कसौटी है। शोध का सम्बन्ध सत्य से है, न कि सम्प्रदाय से।

---

१. धर्म-प्रकरण-७
२. क्रोध-प्रकरण-७
३. माया प्रकरण-६
४. विपत्ति में धैर्य प्रकरण-१
५. वाक्-पटुता प्रकरण-५
६. विशेष विवरण के लिए देखें—ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित-Thirukkural की भूमिका।
७. आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, चतुर्थ अध्याय के० एस० धरणेन्द्रिया एम०ए०, बी०टी० के लेख के आधार पर।
८. ईश्वर-स्तुति प्रकरण-४
९. Thirukkural, Ed. by Prof. A Chakravarti, Introduction, P X
१०. Speaking about these traditional darshanas he (Kalladar) points out that they are conflicting with one another However one system says the ultimate reality is one, another system will contradict this and says no. This mutual incompetability of the six systems is pointed out and the philosophy of Coural is praised to be free from this defect of onesidedness."
Thirukkural, Ed. by Prof, A Chakravarti, Introduction.
११. Thirukkural, Ed by Prof A Chakravarti, Preface. P II
१२. Thirukkural, Ed by Prof. A Chakravarti, Introduction, P. X.
१३. Thirukkural, Ed by A Chakravarti, preface,
"The real author of the work which speacks of the four topics is Thevar. But ignor nt people mentioned the name of Valluwar as the author. But wise men will not accept this statement of ignorant fools"
१४. Thirukkural, Ed. by Prof. A Chakravarti, Introduction. P. XII,
१५. Thirukkural. Ed. by A. Chakravarti, Introduction, P XIII,
"According to the Jaina tradition, Elacharya was a great Nirgrantha Mahamuni, a great digambara ascetic, not caring for worldly honours, His lay disciple was delegated to introduce the work to the scholars assembled in the Madura acadamy of the sangha. Hence the introduction was by Velluwar, who placed it before the scholars of the Madura sangha for their approval."

जैन कवि का कुमार सम्भव

कालिदास रचित कुमार सम्भव से प्रेरणा ग्रहण कर परवर्ती कुछ कवियों ने अपनी रचना को भी उसी नाम से अभिहित किया है। पन्द्रहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध श्वे. कवि चन्द्र-शेखर सूरि भी उनमें से एक हैं। विद्वान् लेखक ने उनकी कृति को विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि श्री चन्द्र-शेखर सूरि प्रतिभाशाली कवि हैं किन्तु वे रूढ़ियों के दास हैं। यदि वे तात्कालीन काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं की संकरी गली से निकल कर नये मार्ग की उद्भावना करते तो उनकी प्रतिभा साहित्य को अधिक महत्वपूर्ण रचना प्रदान कर सकती।

—सम्पादक

प्रो० सत्यव्रत 'तृषित'
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गवर्नमेंट डिग्री कॉलिज, श्रीगंगानगर

मेघदूत की भांति कालिदास के कुमार सम्भव ने किसी अभिनव साहित्यिक विधा का प्रवर्तन तो नहीं किया, किन्तु महाकवि के उक्त काव्य से प्रेरणा ग्रहण कर तीन-चार कुमार सम्भव संज्ञक कृतियों की रचना संस्कृत-साहित्य मे अवश्य हुई है। इस कोटि की रचनाओं मे जैन कवि जयशेखर सूरि (पन्द्रहवीं शताब्दी) के कुमार सम्भव को गौरवमय पद प्राप्त है। महाकवि कृत कुमार सम्भव की भांति जैन कुमार सम्भव का उद्देश्य कुमार (भरत) के जन्म का वर्णन करना है, किन्तु जिस प्रकार कुमार सम्भव के प्रामाणिक अंश (प्रथम आठ सर्ग) मे कार्त्तिकेय का जन्म वर्णित नहीं है, वैसे ही जैन कवि के महाकाव्य में भी भरतकुमार के जन्म का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है और इस प्रकार दोनो काव्यो के शीर्षक उनके प्रतिपाद्य विषय पर पूर्णतः चरितार्थ नहीं होते। परन्तु जहाँ कालिदास ने अष्टम सर्ग मे पार्वती के गर्भाधान के द्वारा कुमार कार्त्तिकेय के भावी जन्म की व्यंजना कर काव्य को समाप्त कर दिया है, वहाँ जैन कुमार सम्भव में सुमङ्गला के गर्भाधान का निर्देश (६.७४) करने के पश्चात् भी काव्य को पाच अतिरिक्त सर्गों में घसीटा गया है। यहा अनावश्यक विस्तार कवि की वर्णनात्मक प्रकृति के अनुरूप भले ही हो पर इससे काव्य की अन्विति नष्ट हो गई है, कथा विकासक्रम विशृंखलित हो गया है और काव्य का अन्त

अतीव आकस्मिक तथा निराशाजनक ढंग से हुआ है।

कथानक—

कुमार सम्भव के ग्यारह सर्गों में आदि जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के विवाह तथा विशेषतः उनके पुत्र जन्म का वर्णन करना कवि का अभीष्ट है। काव्य का आरम्भ अयोध्या वर्णन से होता है जिसका निर्माण धनपति कुबेर ने अपनी प्रिय नगरी अलका की सहचरी के रूप मे किया था। प्रथम सोलह पद्यो मे अयोध्या की समृद्धि, कलाप्रियता तथा सच्चरित्रता का रोचक वर्णन है। इस नगरी के निवेश से पूर्व, जब यह देश इक्ष्वाकुभूमि के नाम से ख्यात था, आदिदेव ऋषभ युग्मिपति नाभि के पुत्ररूप मे उत्पन्न हुए थे। सर्ग के शेषाश मे उनके शैशव, यौवन तथा रूप सम्पदा आदि का चारु चित्रण है। बाल्यकाल मे ही वे योगी की विभूति से सम्पन्न थे। चपल शैशव का परित्याग कर शीघ्र ही प्रभु ने यौवन को शरीर मे वास दिया और कृतज्ञ यौवन ने उसे तेजपूर्ण बनाकर तुरन्त उपकार का प्रतिदान किया। राज्याभिषेक का उद्घोष होते ही सारे संसार में उनका प्रताप व्याप्त हो गया। तुम्बरु तथा नारद से यह जानकर कि भगवान् अभी कुमार हैं, सुरपति इन्द्र उन्हें वैवाहिक जीवन मे प्रवृत्त करने के लिए तुरन्त प्रस्थान करते हैं। देवो का आग्रह तथा पथ की बाधाएँ भी उन्हे विचलित न कर सकीं। जिनेश की जन्मभूमि के निकटवर्ती अष्टापद पर्वत पर पहुँच कर वे पर्वतो के पंखछेद के कलुष से मुक्त हो गये। तृतीय सर्ग मे इन्द्र नाना युक्तियाँ देकर ऋषभदेव को, उनकी सगी बहिनों - सुमङ्गला तथा सुनन्दा से विवाह करने को प्रेरित करते हैं। उनका सबसे व्यावहारिक तर्क है कि लोक मे अवतीर्ण होकर आपको लोकस्थिति का पालन अवश्य करना चाहिए। भगवान् के मौन को स्वीकृति का द्योतक समझकर इन्द्र ने तत्काल देवताओ को विवाह की तैयारी करने का आदेश दिया। स्वयं इन्द्र प्रभु की सेवा में रत हुए और इन्द्राणी को कुमारियों के प्रसाधन मे प्रयुक्त किया। इसी सर्ग में सुमङ्गला तथा सुनन्दा के विवाह पूर्व अलकरण का विस्तृत वर्णन हुआ है। ऋषभदेव के पाणिग्रहणोत्सव मे भाग लेने के लिए समूचा देव मण्डल भूमि पर उतर आया, मानो स्वर्ग ही धरा का अतिथि बन गया हो। स्नान-सज्जा के उपरान्त आदिदेव ने जगम प्रासादतुल्य ऐरावत पर बैठकर वधूगृह को प्रस्थान किया। चतुर्थ तथा पचम सर्ग में तत्कालीन विवाह-परम्पराओ का सजीव चित्रण है। पाणिग्रहण, तारामेलन पर्व आदि समूचे लोकाचारो का विधि-पूर्वक पालन किया गया। वैवाहिक विधियो के सम्पन्न होने पर ऋषभदेव दिग्विजयी सम्राट् की भाँति घर लौट पड़े। यही दस पद्यो मे (३८-४७) उन्हे देखने को लालायित पुर सुन्दरियो के सम्भ्रम का रोचक वर्णन किया गया है। सर्ग के शेष भाग में पति-पत्नी के सम्बन्धो एव कर्त्तव्यो का निरूपण है। षष्ठ सर्ग रात्रि, चद्रोदय, षड्ऋतु आदि वर्णनात्मक प्रसंगों से भरपूर है। ऋषभदेव नवोढा वधुओ के साथ शयन गृह मे प्रविष्ट हुए जैसे तत्वान्वेषी मति-स्मृति के साथ शास्त्र में प्रवेश करता है। इस सर्ग के अन्त मे सुमङ्गला के गर्भाधान का संकेत मिलता है (६.७४)। सप्तम सर्ग में सुमंगला को चौदह स्वप्न दिखाई देते हैं। वह उनका फल जानने के लिये प्रभु के वासगृह में जाती है। अष्टम सर्ग में ऋषभदेव तथा सुमगला का सवाद है। सुमगला के अपने आगमन का कारण बतलाने पर ऋषभदेव का मन-प्रतिहारी समस्त स्वप्नो को बुद्धिबाहु से पकड़ कर विचार सभा में ले गया और विचार-पयोधि का मन्थन कर उन्हे फल रूपी मोती समर्पित किये। नवम सर्ग मे ऋषभ स्वप्नो का फल बतलाते हैं। यह जानकर कि इन स्वप्नों के दर्शन से मुझे चौदह विद्याओ तथा रत्नो से सम्पन्न चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी, सुमंगला का शरीर आनन्दामृत से आप्लावित हो गया। दसवें सर्ग में सुमंगला अपने

वासभवन में आती है तथा सखियों को समूचे वृत्तान्त से अवगत करती है। ग्यारहवें सर्ग में इन्द्र आकर सुमंगला के भाग्य की सराहना करता है और उसे बताता है कि अवधि पूर्ण होने पर तुम्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी। तुम्हारे पति का वचन मिथ्या नहीं हो सकता। तुम्हारे पुत्र के नाम (भरत) से यह भूमि 'भारत' तथा वाणी 'भारती' कहलाएगी। मध्याह्न वर्णन के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

जयशेखरसूरि को प्राप्त कालिदास का दाय

कालिदास के महाकाव्यों तथा जैन कुमार संभव के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि जैन कवि की कविता कालिदास के काव्यों, विशेषतः कुमार सम्भव से बहुत प्रभावित है। कालिदास कृत कुमार सम्भव तथा जैन कुमार सम्भव की परिकल्पना, कथानक के विकास एवं घटनाओं के सयोजन में पर्याप्त साम्य है। यह बात दूसरी है कि कालिदास का मनोविज्ञान वेत्ता ध्वनिवादी कवि वस्तु व्यापारों की योजना करके भी कथानक को समन्वित बनाए रखने में सफल रहा है जबकि जयशेखर महाकवि के आकर्षण के आवेग के प्रवाह मे अपनी कथावस्तु न संभाल सका। कालिदास के कुमार सम्भव का प्रारम्भ हिमालय के हृदयग्राही वर्णन से होता है, जैन कुमार सम्भव के आरम्भ में अयोध्या का वर्णन है। कालिदास के हिमालय वर्णन के बिम्बवैविध्य, यथार्थता तथा सरस शैली का प्रभाव होते हुए भी अयोध्यावर्णन कवि के कवित्व को प्रतिष्ठित करने मे समर्थ है। महाकवि के काव्य तथा जैन कुमार सम्भव के प्रथम सर्ग में क्रमश. पार्वती और ऋषभ देव के जन्म, शैशव तथा यौवन का वर्णन है। कुमार सम्भव के द्वितीय सर्ग में तारक के आतंक से पीड़ित देवताओं का एक प्रतिनिधि मण्डल ब्रह्मा की सेवा मे उपस्थित होकर अपने कष्ट निवारण के लिये प्रार्थना करता है। जयशेखर के काव्य में स्वयं इन्द्र ऋषभदेव को गार्हस्थ्य जीवन में प्रवृत्त करने जाता है। दोनों काव्यों के इस सर्ग में एक स्तोत्र का समावेश है। जैन कुमार सम्भव के पंचम सर्ग में पुरसुन्दरियों की चेष्टाओं का वर्णन कुमार सम्भव तथा रघुवंश के सप्तम सर्ग में शिव तथा अज को देखने को उत्सुक स्त्रियों के वर्णन से प्रभावित है। दोनों कुमार सम्भवों में वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत ऋतु वर्णन हुआ है, यद्यपि जैन कवि के षड्ऋतु वर्णन मे कालिदास के बसन्त वर्णन की सी मार्मिकता नहीं है। दोनों कवियो के काव्यों में नायिकाओं के गर्भाधान का उल्लेख है, पर पुत्र जन्म का अभाव है। दोनों मे नायक-नायिका के संवाद की योजना की गयी है। यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि कालिदास के उमा-बटु संवाद की गणना अपनी नाटकीयता तथा सजीवता के कारण, सस्कृत काव्य के सर्वोत्तम अंशो मे होती है जबकि जैन कुमार सम्भव में अष्टम सर्ग का सुमंगला तथा ऋषभ का वार्त्तालाप साधारण कोटि का है। जैसा कि पहले कहा गया है दोनों ही काव्यों के शीर्षक उनके कथानक पर पूर्णतः घटित नहीं होते। घोर कृत्रिमता के युग में भी जयशेखर की शैली में जो प्रसाद तथा आकर्षण है, वह भी कालिदास की शैली की सहजता एवं प्राञ्जलता के प्रभाव के कारण है।

जयशेखर की काव्य प्रतिभा

अन्य अधिकांश ह्रासकालीन कवियों की भाँति जयशेखरसूरि को कथावस्तु के निर्वाह में सफल नहीं कहा जा सकता। मूलकथा तथा वर्ण्यविषयों के बीच जो विषमता सर्व प्रथम भारवि के काव्य मे दृष्टिगम्य होती है, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। जैन कुमार सम्भव का कथानक अतीव स्वल्प है। यदि निरी कथात्मकता को लेकर चला जाए, तो यह तीन-चार सर्गों से अधिक की सामग्री सिद्ध नहीं हो सकती; किन्तु जयशेखर ने उसे नाना वर्णनों, संवादों, स्तोत्रों तथा प्रशस्तिगानों से पुष्ट-पूरित कर ग्यारह सर्गों के आलवाल में आरोपित किया है। वर्णन प्रियता की यह प्रवृत्ति काव्य मे आद्यन्त अविच्छिन्न रूप

में विद्यमान है। प्रथम दो सर्गों में अयोध्या के वैभव ऋषभ के शैशव तथा यौवन, इन्द्र के आगमन तथा अष्टापद का वर्णन है। तृतीय सर्ग मे इन्द्र-ऋषभ के संवाद की योजना तथा वधुओं के अलकरण का चित्रण है। चतुर्थ तथा पंचम सर्गों का अधिकांश तत्कालीन वैवाहिक परम्पराओं तथा पति-पत्नि के सम्बन्धो पर व्यय कर दिया गया है। छठे मे रात्रि, चन्द्रोदय, षड्ऋतुओं तथा सुमंगला का वर्णन हुआ है। यहा यह भ तथ्य है कि काव्य के यत्किञ्चित् कथानक का मुख्य भाग यहीं समाप्त हो जाता है। शेष पाँच सर्गों मे से स्वप्न दर्शन तथा उनके फल कथन का ही मुख्य कथा से सम्बन्ध है। दसवा तथा ग्यारहवा सर्ग तो सर्वथा अनावश्यक है। यदि काव्य को नौ सर्गों में ही समाप्त कर दिया जाता, तो यह शायद अधिक अन्वितिपूर्ण बन सकता। ऋषभदेव के स्वप्न फल बतलाने के पश्चात् इन्द्र के द्वारा उसकी पुष्टि कराना केवल निरर्थक ही नही है, इससे देवतुल्य नायक की गरिमा भी आहत होती है। इस प्रकार काव्यकथा का सूक्ष्म तन्तु वर्णन स्फीति के भार से पूर्णतः दब गया है। वस्तुतः जैन कुमार सम्भव मे इन प्रासगिक-अप्रासगिक वर्णनो की ही प्रधानता है। मूल कथा पर कवि ने बहुत कम ध्यान दिया है। किन्तु हम आगे देखेंगे कि इन वर्णनो का काव्य में, कई दृष्टियो से, महत्वपूर्ण स्थान है।

रस योजना की दृष्टि से भी जयशेखर को अधिक सफलता नही मिली है। उनके काव्य का प्रमुख रस शृङ्गार माना जा सकता है, यद्यपि अङ्गी रस के रूप में इसका परिपाक नही हुआ है। शृङ्गार के कई सरस चित्र जैन कुमार सम्भव में देखने को मिलते हैं। पवित्रतावादी जैन यति का काव्य में शृङ्गार को सरसता का परित्याग न करना, उसकी बौद्धिक ईमानदारी है।

ऋषभदेव के विवाह में आते समय प्रिय का स्पर्श का पाकर किसी देवांगना की मैथुनेच्छा जागृत हो गयी और कंचुकी टूट गयी! वह बेकाबू हो गयी और प्रिय को मनाने के लिये उसकी चापलूसी करने लगी।

उपात्तपाणिस्त्रिदशेन वल्लभा,
श्रमाकुला काचिदुदंचि कंचुका।
वृषस्या चाटुशतानि तन्वती,
जगाम तस्यैव गतस्य विघ्नताम् ॥४।१०

ऋषभदेव को देखने को उत्सुक पुर युवति की अधबधी नीवी दौड़ने के कारण खुल गयी। उसका अधोवस्त्र नीचे गिर पड़ा, किन्तु इसका भी उसे मान न हुआ। वह प्रेम पगी प्रभु की एक झलक पाने के लिये दौड़ती गयी और जनसमुदाय में मिल गयी।

कापि नार्धयमित श्लथनीवी
प्रसरन्निवसनापि ललज्जे।
नायकाननविवेशितनेत्रे
जन्यनिकरेऽपि समेता ॥५।३६

वात्सल्य, शान्त तथा हास्य रस शृङ्गार के पोषक बन कर आए हैं। ऋषभ के शैशव के चित्रण मे वात्सल्य की मनोरम छटा दर्शनीय है। शिशु ऋषभ दौड़ कर पिता को चिपट जाता है। उसके अगस्पर्श से पिता आनन्द विभोर हो जाते हैं। हर्षातिरेक से आंखें बन्द हो जाती हैं और वे तात-तात की गुहार लगाते रहते हैं।

दूरात् समाहूय हृदोपपीड,
माद्यन्मुदा मीलितनेत्रपत्रः॥
अथाङ्गज स्नेहविमोहितात्मा,
य तात तातेति जगाद नाभिः ॥ १।२८

विभिन्न रसो के चित्रण मे सिद्धहस्त होते हुए भी कवि ने किसी रस का प्रधान रस के रूप मे पल्लवन नही किया, यह बहुत आश्चर्य की बात है।

जयशेखर का प्रकृति चित्रण भारवि आदि ह्रासकालीन कवियों की कोटि का है, जिसमें प्रकृति के उद्दीपन पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। परन्तु जैन कुमार सम्भव के प्रकृति चित्रण की

विशेषता यह है कि वह यमक आदि की दुरूहता से आक्रान्त नहीं है, और न ही उसमें कुरुचिपूर्ण शृंगारिकता का समावेश किया गया है। इसलिये जयशेखर के सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय, प्रभात, सूर्योदय के वर्णनों का अपना आकर्षण है। रात्रि कहीं महादेव की विभूति से मण्डित है तो कहीं वर्ण व्यवस्था के कृत्रिम भेद को मिटाने वाली क्रान्तिकारी योगिनी है।

अभुक्त भूतेशतनोर्विभूति,
भौती तमोभिः स्फुटतारकौघा।
विभिन्न कालच्छविदन्तिदैत्य
चर्मा वृतेर्भू रिनरास्थिभाजः ॥६।३
किं योगिनीयं धृतनोलकन्या
तमस्विनी तारक शंख भूषा।
वर्ण व्यवस्थामवधूय, सर्वा
मभेदवाद जगतस्ततान ॥६।८

सूर्योदय वर्णन के इस रूपक की स्वाभाविकता कम हृदयहारी नहीं--

भित्त्वा तमः शैवल जालमंशु
मालिद्विपे स्फारकरे प्रविष्टे।
आलीन पूर्वोऽपससार सद्यो,
वियत्तडागा दुडुनीऽजौघः ॥११।६

जैन कुमार सम्भव का वास्तविक सौन्दर्य तथा महत्व इसके वर्णनो में निहित हैं। इनमे एक ओर कवि का सच्चा कवित्व मुखरित है और दूसरी ओर जीवन के विभिन्न पक्षो तथा व्यापारों से सम्बन्धित होने के कारण इनमें समसामयिक समाज की चेतना का स्पन्दन है। इन वर्णनो के माध्यम से ही काव्य मे समाज का व्यापक चित्र समाहित हो गया है जो महाकाव्य के एक बहु-अपेक्षित तत्व की पूर्ति करता है। इसीलिये जैन कुमार सम्भव से हमें तत्कालीन वैवाहिक परम्पराओं, राजनीति तथा योजनाविधि से लेकर प्रसाधन सामग्री, आभूषणों, वाद्ययन्त्रों, समुद्री व्यापार, अभिनय, सामाजिक मान्यताओं, मदिरापान आदि कुरीतियों के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। पति-पत्नी के सम्बन्ध का इस पक्ष में कितना मार्मिक निरूपण हुआ है—

अन्तरेण पुरुषं नहि नारी,
ता विना न पुरुषोऽपि विभाति।
पादपेन रुचिमञ्चति शाखा,
शाखयैव सकलः किल सोऽपि ॥५।६१

जैन कुमार सम्भव की सबसे बडी विशेषता इसकी उदात्त एव प्रौढ़ भाषा शैली है। संस्कृत-महाकाव्य के ह्रासकाल की रचना होने पर भी इसकी भाषा, माघ तथा मेघविजयगणि आदि की भांति, निकट समासान्त तथा कष्टसाध्य नही है। काव्य मे सर्वत्र प्रसादपूर्ण तथा भावानुकूल पदावली का प्रयोग हुआ है। जयशेखर की शैली वैदर्भी है। अलंकारों की सुरुचिपूर्ण योजना काव्य की शैली को समृद्ध बनाती है तथा उसके सौन्दर्य मे वृद्धि करती है। हेमचन्द्र, वाग्भट आदि जैनाचार्यों के विधान का उल्लंघन करके काव्य मे चित्रबन्ध की योजना न करना कवि की सुरुचि का एक अन्य प्रमाण है। काव्य मे अलंकारो को बलात् लादने का प्रयास नही किया गया है। वे इस स्वाभाविकता से आते हैं कि काव्य सौन्दर्य स्वतः प्रस्फुटित होता जाता है। यमक तथा श्लेष के प्रयोग मे भी दुरूहता नही आने पाई। हाँ, दसवें सर्ग मे सुमंगला की सखियो तथा विभिन्न दार्शनिक मतो के श्लिष्ट वर्णन मे श्लेष ने काव्यत्व को दबोच लिया है। जयशेखर की अलकार योजना के दिग्दर्शन के लिये कतिपय उद्धरण आवश्यक हैं।

अनुप्रास—सम्पन्न कामा नयनाभिरामाः,
सदैव जीवत्प्रसवा अवामाः।
अयोज्झितान्य प्रमदावलोका,
अदृष्टशोका न्यविशन्त लोकाः ॥१।२

श्लेष—सद्गुण प्रकृतिरपि चापलं ।
कापि कापिलमताश्रयादिव ।
रज्जु योग्यकरणौघलीलया,
साक्षितामुपगते तदात्मनि ॥१०।६२

यमक—परातरिक्षोदक निष्कलंका,
नाम्ना सुनन्दा नयनिष्कलङ्का ।
तस्मै गुणश्रेणिभिरद्वितीया
प्रमोद पूर व्यतरद् द्वितीया ॥६।३६

रूपक—चेतस्सुरङ्ग तत्त्वार्थविचाराध्वनि धावितम् ।
सा निष्प्रत्यूह मित्यूह वल्गया विदधे स्थिरम् ॥७।६०

विभावना—यात्राऽफलत्केलिकला पिपक्ते ।
विनाऽपि वर्षा घनगर्जिताशा ।१।४

अर्थान्तरन्यास—तनोषि तत्तेषु न किं प्रसादं
न संयुगीना यदमी त्वयीश ।
स्याद्यत्र शक्तेरवकाशनाशः
श्रीयेत शूरैरपि तत्र साम ॥३।१५

विरोध—पुरः स्थितामप्युषिता हृदन्त
निशिप्रबुद्धामपि पद्मिनीताम् ।८।६

छन्दों की योजना में जयशेखर ने शास्त्रीय विधान का पालन किया है। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग हुआ है। सर्गान्त मे छन्द बदल जाता है। कुल मिला कर कवि ने सतरह छन्दो का प्रयोग किया है जिनमे अधिकांश सुविज्ञात हैं।

सद्वंशोत्पन्न नायक, उदात्त भाषाशैली, महदुद्देश्य, जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति के कारण जैन कुमार सम्भव को शास्त्रीय शैली का महाकाव्य मानना न्यायोचित होगा, यद्यपि इसका कथानक अतीव संक्षिप्त है तथा उसमे धारावाहिकता का अभाव है और रस योजना मे भी विकृति है तथा कहीं-कहीं पौराणिकता ने उसे आच्छन्न कर लिया है। जयशेखर प्रतिभाशाली कवि है किन्तु वह रूढ़ियो का दास है। यदि वह तत्कालीन काव्य रूढ़ियो तथा परम्पराओ की सकरी गली से निकल कर नए मार्ग की उद्भावना करता तो उसकी प्रतिभा साहित्य को अधिक महत्वपूर्ण रचना प्रदान कर सकती थी।

❁

"जिस आदमी को चारों ओर बाधाएँ ही दीख पड़ती हैं उसका आत्मबल क्षीण हो जाता है, वह कोई महान् कार्य नहीं कर सकता।"

—स्वेट मार्डेन

राजस्थान के जैन सन्त मुनि पद्मनन्दी

पं० परमानन्द जैन शास्त्री
वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

भौगोलिक दृष्टि से राजस्थान की भूमि चाहे अनुत्पादक रही हो किन्तु विद्वानों, तपस्वियों मनीषियों आदि की दृष्टि से यहां की भूमि बड़ी उर्वरा रही है इसमें संदेह नहीं। यदि कभी जैन साहित्यकारों का इतिहास लिखा जावे तो यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उसका—तीन चौथाई से भी अधिक भाग यहां के साहित्यकारों के इतिवृत्त से भरा होगा। ऐसे ही [illegible] एवं साहित्यकार का परिचय यहाँ [illegible]स्तुत किया है वीर सेवा मंदिर दिल्ली [illegible] समाज में ख्यातिलब्ध विद्वान पं० पर[illegible] ने।

—सम्पादक

राजस्थान भारतीय जैन संस्कृति का प्राचीन समय से केन्द्र रहा है। राजस्थान में निर्मित अनेक गगन चुम्बी विशाल एवं कलापूर्ण जिन मन्दिर उसकी शोभा को द्विगुणित कर रहे हैं। यहां से सहस्त्रों जिन मूर्तियो का निर्माण और उनकी प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न हुआ है। अनेक महापुरुषों ने यहां जन्म लेकर राजस्थान की कीर्ति को दिगंत व्यापी बनाने का यत्न किया है। यहा अनेक मुनि पुंगव आचार्य, भट्टारक और विद्वान हुए हैं जिन्होने जैन धर्म की पताका को उन्नत करने में पूरा सहयोग प्रदान किया है। राजस्थान में अनेक महानुभाव दीवान जैसे राज्यकीय उच्चपदो पर प्रतिष्ठित रहे हैं, और राज्य श्रेष्ठी तथा कोषाध्यक्ष भी रहे हैं जिनमें से कुछ ने आत्म-साधना के साथ जन साधारण की भलाई करने में अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया है। अनेक सन्तों और विद्वानो के उपदेश से जन साधारण में आत्म-हित की भावना प्रकट हुई है। उन सन्तो ने विविध प्रकार के साहित्य की सृष्टि कर जैन संस्कृति का विस्तार किया है और साहित्य का संकलन तथा उस की सुरक्षा का भी कार्य किया है। जैन विद्वानों ने बिना किसी स्वार्थ के सत्साहित्य की रचनाकर और संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थों को हिन्दी गद्य-पद्य में अनुवादित

कर जनमानस में जैन धर्म के अहिंसा तत्त्व का प्रचार व प्रसार किया है। दूसरी ओर अनेक जैन वीरों ने राज्य की सुरक्षा के हित आत्म बलिदान किया है, और उसकी समृद्धि बढ़ाने में अपने कर्तव्य का पालन किया है। आज इस छोटे से लेख द्वारा राजस्थान के एक जनसेवी सन्त का संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ जिसने अपने जीवन का समग्र बहुभाग जैन संस्कृति के साथ लोक में शिक्षा का आदर्श उपस्थित किया है और अपने विशुद्ध एवं निर्मल आचार द्वारा जनता में नैतिक बल का संचार किया है।

सन्त पद्मनन्दी भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर विद्वान थे।[१] विशुद्ध सिद्धान्तरत्नाकर और प्रतिभा द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए थे। उनके शुद्ध हृदय में अभेद भावसे आलिङ्गन करती हुई ज्ञान रूपी हंसी आनन्द पूर्वक क्रीडा करती थी वे स्याद्वाद सिन्धु रूप अमृत के वर्धक थे। उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर जिनवाणी और पृथ्वी को पवित्र किया था। महाव्रती पुरन्दर तथा शान्ति से रागांकुर दग्ध करने वाले वे परमहंस निर्ग्रन्थ, पुरुषार्थ शाली, अशेष शास्त्रज्ञ सर्वहित परायण मुनिश्रेष्ठ पद्मनन्दी जयवन्त रहें।[२] इन विशेषणों से पद्मनन्दी की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है। इनकी जाति ब्राह्मण थी। एक बार प्रतिष्ठा महोत्सव के समय व्यवस्थापक गृहस्थ की अविद्यमानता में प्रभाचन्द्र ने उस उत्सव को पट्टाभिषेक का रूप देकर पद्मनन्दी को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था। इन के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय पट्टावली में सं० १३८५ पौष शुक्ला सप्तमी बतलाया गया है। वे उस पट्ट पर संवत् १४७३ तक तो आसीन रहे ही हैं। इसके अतिरिक्त और कितने समय तक रहे, यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ, और न यह ही ज्ञात हो सका कि उनका स्वर्गवास कहां और कब हुआ है?

कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि पद्मनन्दी भट्टारक पद पर सं० १४६५ तक रहे हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं दिया, किन्तु उनका केवल वैसा अनुमान मात्र है। अतः इस मान्यता में कोई प्रामाणिकता नहीं जान पड़ती। क्योंकि संवत् १४७३ की पद्मकीर्ति रचित पार्श्वनाथ चरित की प्रशस्ति से स्पष्ट जाना जाता है कि पद्मनन्दी उस समय तक पट्ट पर विराजमान थे, जैसा कि प्रशस्ति के निम्न वाक्य से प्रकट है—

"कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री रत्नकीर्ति देवास्तेषां पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दिदेवास्तेषां पट्ट प्रवर्तमाने—"

(मुद्रित पार्श्वनाथ चरित प्रशस्ति)

इससे यह भी ज्ञात होता है कि पद्मनन्दी दीर्घजीवी थे। पट्टावली में उन की आयु निन्यानवे वर्ष अट्ठाईस दिन की बतलाई गई है और पट्टकाल पैंसठ वर्ष आठ दिन बतलाया है।

यहां इतना और प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है कि वि० सं० १४७९ में असवाल कवि द्वारा रचित 'पासणाहचरिउ' में पद्मनन्दी के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले भ० शुभचन्द्र का उल्लेख निम्न वाक्यों में किया है—"**तहो पट्ट वरंससिणा-मैं, सुहससि मुणि पयपंकयवड हो।**" चूंकि सं० १४७४ में पद्मनन्दी द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति लेख उपलब्ध है, अतः उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पद्मनन्दी ने सं० १४७४ के बाद और सं० १४७९ से पूर्व किसी समय शुभचन्द्र को अपने पद पर प्रतिष्ठित किया था।

कवि असवाल ने कुशार्त देश के करहल नगर में सं० १४७१ में होने वाले प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख किया है। और पद्मनन्दी के शिष्य कवि हल्ल या जयमित्र हल्ल द्वारा रचित 'मल्लिणाह' काव्य की प्रशंसा का भी उल्लेख किया है। उक्त ग्रन्थ भ० पद्मनन्दी के पद पर प्रतिष्ठित रहते हुए उनके शिष्य द्वारा रचा गया था। कवि हरिचन्द ने

अपना वर्धमान काव्य भी लगभग उसी समय रचा था। इसी से उसमें कवि ने उनका खुला यशोगान किया है:—

> 'पद्मणंदि मुणिणाहु गणिंदहु,
> चरण सरणु गुरु कइ हरिइंदहु'
> (वर्धमान काव्यं)

आपके अनेक शिष्य थे, जिन्हें पद्मनन्दी ने स्वयं शिक्षा देकर विद्वान् बनाया था। भ० शुभचन्द, तो उनके पट्टधर शिष्य थे ही, किन्तु आपके अन्य तीन शिष्यो से भट्टारक पदो की तीन परम्पराएं प्रारम्भ हुई थी जिनका आगे शाखा-प्रशाखा रूप में विस्तार हुआ है। भट्टारक शुभचन्द दिल्ली परम्परा के विद्वान थे। इनके द्वारा 'सिद्धचक्र' की कथा रची गई है।[४] जिसे उन्होंने सम्यग्दृष्टि जालाक के लिये बनाई थी। भ० सकल कीर्ति से ईडर की गद्दी और देवेन्द्र कीर्ति से सूरत की गद्दी की स्थापना हुई थी। चूंकि पद्मनन्दी मूल संघ के विद्वान् थे अत. इनकी परम्परा में मूल संघ की परम्परा का विस्तार हुआ। पद्मनन्दी अपने समय के अच्छे विद्वान्, विचारक और प्रभावशाली भट्टारक थे। भ० सकल कीर्ति ने इनके पास आठ वर्ष रहकर धर्म, दर्शन, छन्द, काव्य, व्याकरण, कोष, साहित्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया था और कविता में निपुणता प्राप्त की थी। भट्टारक सकल कीर्ति ने अपनी रचनाओं में उनका स-सम्मान उल्लेख किया है। पद्मनन्दी केवल गद्दी धारी भट्टारक ही नहीं थे, किन्तु जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सदा सावधान रहते थे।

पद्मनन्दी प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा विभिन्न स्थानों पर अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा की गई थी। जहां वे मंत्र-तंत्र वादी थे, वहां वे अत्यन्त विवेकशील और चतुर थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां विभिन्न स्थानों के मन्दिरों में पाई जाती हैं। पाठकों की जानकारी के लिये दो मूर्ति लेख नीचे दिये जाते हैं:—

१ आदिनाथ – ओं संवत १४५० वैशाख सुदी १२ गुरो श्री चाहुवाण वंश कुशेशय मार्तण्ड सारवै विक्रमम्य श्रीमत स्वरूप भूपान्वय भुंडदेवात्मजस्य भूपज शक्रस्य श्री सुवानृपतेः राज्ये प्रवर्तमान श्री मूलसंघे भ० श्री प्रभाचन्द्र देव, तत्पट्टे श्री पद्मनन्दि देव तदुपदेशे गोलाराडान्वये..........,

—(भट्टारक सम्प्रदाय ८९२)

२. **अरहंत—हरितवर्ण कृष्णमूर्ति—सं० १४६३ वर्षे माघ सुदी १३ शुक्रे श्री मूल संघे पट्टाचार्य श्री पद्मनन्दि देवा गोलाराडान्वये साधु नागदेव सुत**...............। (इठावा के जैन मूर्ति लेख—प्राचीन जैन लेख संग्रह पृ० ३८)

ऐतिहासिक घटना

भ० पद्मनन्दी के सांनिध्य में दिल्ली का एक संघ गिरनार जी की यात्रा को गया था। उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी एक संघ उक्त तीर्थ की यात्रार्थ वहा आया हुआ था। उस समय दोनो संघो में यह विवाद छिड़ गया कि पहले कौन वन्दना करे, जब विवाद ने तूल पकड लिया और कुछ भी निर्णय न हो सका, तब उसके शमनार्थ यह युक्ति सोची गई कि जो संघ सरस्वती से अपने को 'आद्य' कहला देगा, वही संघ पहले यात्रा को जा सकेगा। अतः भट्टारक पद्मनन्दी ने पाषाण की सरस्वती देवी के मुख से 'आद्य दिगम्बर' शब्द कहला दिया, परिणामस्वरूप दिगम्बरो ने पहले यात्रा की, और भगवान नेमिनाथ की भक्ति पूर्वक पूजा की। उसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने की। उसी समय से बलात्कारगण की प्रसिद्धि मानी जाती है। वे पद्य इस प्रकार हैं:—

> **पद्मनन्दि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।**
> **पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती ॥**
> **ऊर्जयन्त गिरौतेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।**
> **अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने ॥**

यह ऐतिहासिक घटना प्रस्तुत पद्मनन्दी के जीवन के साथ घटित हुई थी। पद्मनन्दी नाम साम्य के कारण कुछ विद्वानों ने इस घटना का सम्बन्ध आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द के साथ जोड दिया। वह ठीक नहीं है; क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य मूल संघ के प्रवर्तक प्राचीन मुनि पुंगव हैं और घटना क्रम अर्वाचीन है। ऐसी स्थिति मे यह घटना आ० कुन्दकुन्द के समय की नहीं है। इसका सम्बन्ध तो भ० पद्मनन्दी से है।

रचनाएँ

पद्मनन्दी की अनेक रचनाएं हैं। जिनमें देवशास्त्र गुरु-पूजन सस्कृत, सिद्धपूजा संस्कृत, पद्मनन्दि श्रावकाचारसारोद्धार, वर्धमान काव्य, जीरापल्लि पार्श्वनाथ स्तोत्र और भावना चतुर्विंशति। इनके अतिरिक्त वीतराग स्तोत्र, शान्तिनाथ स्तोत्र भी पद्मनन्दी कृत हैं, पर दोनो स्तोत्रो' देव-शास्त्र-गुरु-पूजा तथा सिद्धपूजा मे पद्मनन्दि का नामोल्लेख तो मिलता है, परन्तु उसमे भ० प्रभाचन्द का कोई उल्लेख नहीं मिलता। जब कि अन्य रचनाओ मे प्रभाचन्द का स्पष्ट उल्लेख है, इसलिये उन रचनाओ को बिना किसी ठोस आधार के प्रस्तुत पद्मनन्दी की ही रचनाएं नही कहा जा सकता। हो सकता है कि वे भी इन्ही की कृति रही हो।

श्रवाकाचारसारोद्धार सस्कृत भाषा का पद्य बद्ध ग्रन्थ है, उसमे तीन परिच्छेद हैं जिनमे श्रावक धर्म का अच्छा विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण में लम्बकचुक कुलान्वयी (लमेचूवंशज) साहू वासाधर प्रेरक है। प्रशस्ति मे उनके पितामह का भी नामोल्लेख किया है जिन्होने 'सूपकारसार' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध है। विद्वानो को उसका अन्वेषण करना चाहिये। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति मे कर्ता ने साहू वासाधर के परिवार का अच्छा परिचय कराया है। और बतलाया है कि गोकर्ण के पुत्र सोमदेव हुए, जो चन्द्रवाड के राजा अभयचन्द्र और जयचन्द के समय प्रधान मन्त्री थे। सोमदेव की पत्नी का नाम प्रेमसिरि था, उससे सात पुत्र उत्पन्न हुए थे। वासाधर, हरिराज, प्रहलाद, महराज, भवराज, रतनाख्य और सतनाख्य। इनमे से ज्येष्ठ पुत्र वासाधर सबसे अधिक बुद्धिमान, धर्मात्मा और कर्तव्यपरायण था। इनकी प्रेरणा और आग्रह से ही मुनि पद्मनन्दी ने उक्त श्रवाकाचार की रचना की थी। साहू वासाधर ने चन्द्रवाड मे एक जिन-मन्दिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न की थी। कवि धनपाल के शब्दो मे वासाधर सम्यग्दृष्टि, जिनचरणो का भक्त, जैनधर्म के पालन मे तत्पर, दयालु, बहुलोकमित्र, मिथ्यात्वरहित और विशुद्ध चित्तवाला था। भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य धनपाल ने भी स० १४५४ मे चन्द्रवाड नगर मे उक्त वासाधर की प्रेरणा से अपभ्रंश भाषा मे बाहुबलीचरित की रचना की थी।[४]

दूसरी कृति वर्धमान काव्य या जिनरात्रि कथा है, जिसके प्रथम सर्ग मे ३५६ और दूसरे सर्ग मे २०५ श्लोक हैं। जिनमे अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का चरित अंकित किया गया है, किन्तु ग्रन्थ मे रचनाकाल नही दिया जिससे उसका निश्चित समय बतलाना कठिन है। इस ग्रन्थ की एक प्रति जयपुर के पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर के शास्त्र भडार में अवस्थित है जिसको लिपिकाल स० १५१८ हे और दूसरी प्रति स० १५२२ की लिखी हुई गोपीपुरा सूरत के शास्त्र भडार मे सुरक्षित है। इनके अतिरिक्त 'अनतव्रत कथा' भी भ० प्रभाचद्र के शिष्य पद्मनन्दी की बनाई उपलब्ध है। जिसमे ८५ श्लोक हैं।

पद्मनन्दी ने अनेक देशो, ग्रामो, नगरों आदि में विहार कर जन कल्याण का कार्य किया है, लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण तथा उपदेशो द्वारा सम्मार्ग दिखलाया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यों से जैन धर्म और संस्कृति की महती सेवा हुई है।

वर्षो तक साहित्य का निर्माण, शास्त्र भंडारों का सकलन और प्रतिष्ठादिकार्यों द्वारा जैन संस्कृति के प्रचार में बल मिला है। इसी तरह के अन्य अनेक संत हैं, जिनका परिचय भी जनसाधारण तक नहीं पहुंचा है। इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर पद्मनन्दी का परिचय दिया गया है। चूंकि पद्मनन्दी मूल सघ के विद्वान थे, वे दिगम्बर वेष में रहते थे और अपने को मुनि कहते थे। और वे यथाविधि यथाशक्य आचार विधि का पालन कर जीवन यापन करते थे।

२— श्रीमत्प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र पट्टे, शश्वत प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्ठः ।
विशुद्ध सिद्धान्त रहस्यरत्नरत्नाकरा नन्दतु पद्मनन्दी ॥
—शुभचन्द्र पट्टावली

२— हसोज्ञानमरालिका समसमा श्लेषप्रभूताद्भुता ।
नन्द क्रीडति मानसेति विशदे यस्यानिशं सर्वतः ॥

३— स्याद्वादामृत सिन्धुवर्धन विधौ श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभाः ।
पट्टे तूरि मतल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः ॥
महाव्रत पुरन्दरः प्रशमदग्ध रोगाङ्कुरः ।
स्फुरत्परमपौरुषः स्थितिरशेषशास्त्रार्थवित्
यशोभर मनोहरीकृत समस्त विश्वम्भरः ।
परोपकृति तत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः ॥
—शुभचन्द्र पट्टावली

४—श्रीपद्मनन्दी मुनिराजपट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्रदेवः ।
श्रीसिद्धचक्रस्य कथाऽवतारं चकार भव्यांबुजभानुमाली ॥
(जैनग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० ८८)

५—श्रीलम्बकेंचुकुलपद्मविकासभानुः, सोमात्मजो दुरितदारु चयकृशानुः ।
धर्मैकसाधन परो भुवि भव्यबन्धु र्वासाधरो विजयते गुणरत्न सिन्धुः ॥
बाहुबलीचरित संधि ४

६—जिणणाह चरण भत्तो जिणधम्मपरो दयालोए।
सिरि सोमदेवतणओ णंदउ वासद्धरो णिच्चं।
सम्मत्त जुत्तो जिणपायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोय मित्तो।
मिच्छत्तचत्तो सुविसुद्ध चित्तो वासाधरो णंदउ पुण्ण चित्तो ॥
बाहुबली चरित संधि ३

गीत

तर्ज—जब तुम्ही चले............

महावीर जयन्ती आज मनायें साथ
वीर गुण गायें हिंसा को पुनः भगाये।

तुम कुण्डलपुर में जनम लिया, पितु मात हृदय अति मुदित।
तुम थे उनके नयनों का एक सहारा करदो भवदधि से पारा।।१।।
महावीर ....

तुम सिद्धार्थ के सुत जानो, त्रिशला देवी माँ पहचानो।
हो सौम्य रूप तुम भवि जन का आधारा
कर दो भवि दधि से पारा।।२।।
महावीर................

तुम घोर तपस्या करते थे निज आत्म स्वरूप समझते थे।
जीवो और जीने दो का लगाया नारा,
कर दो भवदधि से पारा।।३।।
महावीर................

तुम शान्ति पाठ के दायक हो, हे वीर तुम्हीं सब लायक हो।
तुम कठिन तपस्या कर स्वरूप को जाना
कर दो भवदधि से पारा।।४।।
महावीर..............

रागादि शत्रु को दूर करें बिनती यह शीला वैद करे।
अब तुम बिन कोन रहा है जग में सहारा,
कर दो भव दधि से पारा।।५।।
महावीर..............

सुशीला कुमारी वैद
एम० ए०, प्रवेश
धर्मालंकार

पाँच सौ वर्षों का प्राचीन एक आध्यात्मिक गीत

"........समुचित प्रचार व प्रसार नहीं होने से अध्यात्म एवं भक्तिभाव पूर्ण रचनाओं का स्थान शृंगारिक फिल्मी गीतों आदि ने ले लिया है। इससे हमारे जीवन में दिनों-दिन विषयासक्ति और बहिर्मुखता बढ़ रही है। अभी हजारों मार्मिक आध्यात्मिक रचनाएं हमारे ज्ञान भण्डारों में अप्रकाशित पड़ी हैं जिनका संग्रह और उद्धार अति आवश्यक है.... "

अगरचन्द नाहटा
सिद्धांताचार्य, बीकानेर

जैन धर्म साधना प्रधान धर्म है। जैन सिद्धान्तानुसार प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अनुसार परमात्मा है पर मोह के आवरण और निरावरण से जीव के दो भेद हो गये हैं (१) संसारी और (२) सिद्ध। कर्म बन्ध का मुख्य कारण है राग-द्वेष। आत्मा अपने मूल स्वरूप को भुलाकर जब पुद्गल मे आसक्ति करने लगती है तभी राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसीलिए जैन तीर्थंकरों ने आत्मा को जागृत करने के लिए महान सन्देश दिया। कर्मों का कर्ता, भोक्ता और निवारण करने वाला आत्मा स्वयं है। कर्म बन्ध आत्मा ने ही किया है और वही अपने स्वरूप सिद्धित होने पर कर्मावरण हटाकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है।

अन्य दर्शन आत्मा का उद्धारक ईश्वर मानते हैं। जगत की सृष्टि ईश्वर करता है। उसे अपना अकेलापन अखरता है उसके मन में एक भाग जागृत होता है—एकोऽहं बहुस्याम:—अर्थात् मैं अकेला हूँ बहुत हो जायं। मन के इस उद्वेग द्वारा वह नाना जीवजन्तुओं और पदार्थों की सृष्टि कर बैठता है। कई दर्शन यह मानते हैं कि कर्म करने में आत्मा स्वतंत्र है पर उनका फल ईश्वर देता है। ईश्वर चाहे तो जीव पर कृपा करके उसका भवसागर से उद्धार कर देता है। इसलिए ईश्वरवादी दर्शनों में भक्ति को मुक्ति का प्रधान

साधन बतलाया है। वेदान्त दर्शन ने ज्ञान को मुख्यता दी क्योंकि उसकी मान्यता है कि सारी खराबी अज्ञान से ही हुई है। मूल रूप में जीव ब्रह्म ही है इसलिए ब्रह्म ही शक्ति है। माया भ्रम या अज्ञान के कारण जीव संसार के चक्कर मे आ गया है इसलिए ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान होने पर जीव सहज ही मुक्त हो जाता है। योग दर्शन ने आत्मोन्नति की साधनप्रणाली वैज्ञानिक रूप से बतलाई। मनुष्य यम, नियम आदि अष्टांगिक योग मार्ग को क्रमशः अपनाता हुआ समाधि प्राप्त कर सकता है तब उसके सारे दुःख समाप्त हो जाते हैं।

गीता ने कर्मयोग को प्रधानता दी क्योंकि मनुष्य जहां तक देह सम्बंधित है वहा तक कुछ न कुछ कर्म या क्रिया वह करता ही रहेगा। इसलिए कर्म करने में कुशलता प्राप्त करना ही योग है। 'योग कर्म कौशलम्' और यह कुशलता दो कार्यों से प्राप्त होती है। एक तो कर्म करना और फल मे आसक्ति नही रखना-अनासक्ति योग और दूसरा जो कुछ कर्म करना उन्हें ईश्वर प्रेरित मानकर ईश्वर को ही समर्पित कर देना। यद्यपि ये दोनो मार्ग उत्तम हैं पर हैं कठिन। क्योंकि मनुष्य का अहं ईश्वरार्पित होने मे बाधक है और प्रत्येक कर्म करने के पीछे उसके कुछ लाभ प्राप्त करने की आसक्ति रहती है अतः अनासक्त कर्म करना कठिन है।

जैन दर्शन अनेकान्त वाद या समन्वयवादी दर्शन है। उसने केवल ज्ञान, योग या कर्म और भक्ति को मोक्ष का कारण नही बतला कर ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों की समन्विति को मोक्ष का कारण बतलाया है। तत्त्वार्थ सूत्र का पहला सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः। अन्यत्र कहा गया है ज्ञान क्रियाभ्यासः मोक्षः अर्थात् ज्ञान के द्वारा पदार्थों का वास्तविक रूप जानकर विवेक से हेय, ज्ञेय और उपादेय के रूप मे पृथक्करण करना होगा। फिर जो हेय अर्थात् छोड़ने लायक है उनका त्याग करना होगा। ज्ञेय जो जानने लायक है उनको जान लेना और जो उपादेय अर्थात् ग्रहण और स्वीकार योग्य है उनको अपनाना होगा। केवल जान लेने से ही काम नहीं चलेगा वरन् उनका आचरण करना भी आवश्यक है।

जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है। परमात्मा वास्तव मे आत्मा की ही एक उच्च स्थिति है अतः उसे आदर्श मानकर आत्मा को तदनुरूप बनाने का प्रयत्न करना जरूरी है। परमात्मा या ईश्वर के भरोसे बैठे रहना ठीक नहीं। स्वय मुक्त होने का पुरुषार्थ करना है। परमात्मा हमारा मार्ग-दर्शक और प्रेरक अवश्य है पर उसके कहे हुए मार्ग पर चलना तो हमे स्वय ही है। इसलिए उपादान यानी मूल कारण मोक्ष के लिए आत्मा स्वयं है। तीर्थंकर आदि महापुरुष निमित्त कारण या पृष्ठावलबन रूप मे मान्य और पूज्य है। उनके वचनो पर विश्वास रखकर बतलाये हुए ये अनुष्ठान, साधन आराधन करने से हम मोक्ष की ओर अग्रसर होगे। उनकी मूर्ति को देखकर हम अपने विस्मृत स्वरूप को स्मृति मे लाएगे कि यह भी हमारे ही जैसे थे इन्होने साधना या पुरुषार्थ करके आने वाले कर्म-प्रवाह को रोका, पूर्व कृत कर्मों को भोग कर या तप या भावना द्वारा निर्जरित किया और सवर रूप स्वरूपस्थ बने तभी ये परमात्मा हो सके। स्वरूपतः हमारी आत्मा ही परमात्मा है उसे जिस प्रकार इन्होने जागृत व प्रकट की उसी तरह हमें भी करना है। उस मार्ग पर चलने वाले साधक, आचार्य, उपाध्याय, मुनि का सत्संग एवं सदुपदेश हमारे लिए आत्मोत्थान के कारण हैं।

आत्मा के समीप रहना या आत्मा में ही निवास करना, आत्मा का ही ज्ञान, चिन्तन, मनन और ध्यान करते रहना आध्यात्म है। जैनधर्म ने आत्मा के उत्थान का बड़ा ही वैज्ञानिक और

सुलझा हुआ मार्ग बतलाया है। सुख दुःख और नाना आकृतियों और भावों तथा अवस्थाओं का मूल कारण कर्म हैं। वे जीवो ने स्वयं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग द्वारा बाधे हैं। संवर और निर्जरा द्वारा उनको हटाया जा सकता है। आत्म ज्ञान, प्रतीति. आत्मरमणता, ज्ञान, स्वाध्याय और संयम तप में रमण करने से आत्मा स्वय परमात्मा बन सकती है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप सिद्ध के समान है इत्यादि बातो की चर्चा जैन ग्रन्थों मे विस्तार के साथ की गई है। दिगम्बर सम्पदाय में आध्यात्मिक ग्रन्थो की रचना लम्बे समय तक होती रही है। प्राकृत, अपभ्र श में ही नही, हिन्दी, सस्कृत, राजस्थानी, गुजराती, कन्नड़ आदि भाषाओ मे भी आध्यात्मिक साहित्य प्रचुर परिमाण में प्राप्त है जिनका स्वाध्याय एवं मनन अधिकाधिक किया जाना वाछनीय और आत्मोत्थान का प्रशस्त मार्ग है।

बड़े बड़े ग्रन्थों की बात जाने दें पर छोटे छोटे गीत पद आदि अनेको ऐसी रचनाएं जैन कवियो की प्राप्त हैं जो बहुत हो सात्विक प्रेरणा प्रदाता और हृदय स्पर्शी है। इन सक्षिप्त और सारगर्भित रचनाओ को पढ़ने, गाने, सुनने और मनन करने पर आत्मा मे नया प्रकाश फैलता है। आध्यात्मिक मस्ती प्रकट होती है प्रफुल्लता और आत्मविभोरता प्राप्त होती है। इसलिए इन लघु रचनाओं का अधिकाधिक प्रचार बहुत ही आवश्यक है।

कई वर्ष पहले जैन आध्यात्मिक एवं भक्ति पदो एव अन्य उपयोगी और प्रेरणादायी रचनाओं के संग्रह-संग्रह ग्रन्थ प्रकाशन का प्रयत्न दोनों सम्प्रदायो में अच्छे रूप में हुआ था पर वे बहुत से ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं। कुछ प्राप्त हैं उनका भी समुचित प्रचार एवं प्रसार नहीं होने से अध्यात्म एव भक्ति भाव पूर्ण रचनाओं का स्थान श्रृंगारिक फिल्मी गीतो आदि ने ले लिया है। इससे हमारे जीवन में दिनो दिन विषयासक्ति और बहिर्मुखता बढ़ रही है। अभी हजारों मार्मिक आध्यात्मिक रचनाएं हमारे ज्ञान भंडारो में अप्रकाशित पडी हैं जिनका सग्रह और उद्धार अति आवश्यक है। हमारे संग्रह के सोलहवी शताब्दी के लिखे गुटके में से सहणपाल के रचित एक आध्यात्मिक गीत को यहां प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है। इससे प्रेरणा लेकर ऐसी अन्य जो भी रचनाएं अप्रकाशित हैं उन्हे प्रकाश मे लाने का शीघ्र ही प्रयत्न किया जायगा।

"भारतीय साहित्य" के जनवरी-अप्रैल ६७ के अंक में सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री परशुराम जी चतुर्वेदी का एक लेख हिन्दी का वैष्णव तथा जैन संत साहित्य प्रकाशित हुआ है। उसमे उन्होंने जैन सत साहित्य का संक्षेप मे बडा अच्छा परिचय दिया है। उन्होने जिन ८-१० कवियो की रचनाओं के उदाहरण इस लेख मे दिये हैं उनमें १७ वी शताब्दी के रूपचन्द कवि, बनारसी दास आदि के नाम हैं। अन्तिम कवि चिदानन्द स. १६०५ के लगभग हुए हैं। उन्होने लिखा है कि हिन्दी सन्त साहित्य के निर्माण मे सहयोग प्रदान करने वाले जैन कवियो की सख्या कम नहीं है। उनमें से अधिकाश का काव्य काल १७ वी शताब्दी से प्रारंभ होता है पर उसके पहले बहुत से ऐसे लोग पाये जाते हैं जिनका ध्यान विशेषकर सगुणोपासना की ओर केन्द्रित रहता था तथा जो अपने पूर्ववर्ती जैन कवि योगेन्दु मुनि, मुनि रामसिंह आदि तक से भी यथेष्ट प्रभावित प्रतीत नही होते। वास्तव मे योगेन्दु व रामसिंह की परम्परा में जैन कवियों ने आध्यात्म गीत बराबर रचे हैं जिनमें से १५ वीं के उत्तरार्द्ध या १६ वीं के पूर्वार्द्ध के कवि सहणपाल का आध्यात्म गीत यहां इसलिए भी प्रकाशित किया जा रहा है कि १[illegible] [illegible] १७ वी शताब्दी के बीच का जो साहित्य [illegible] उसे प्रकाशित कराया जाय।

अध्यात्म गीत

आदि न अंतु जासु कउ जाणइ,
णाणिनि पाणिणा कोइ ।
रहिउ पूरितिहुवणु परमेसुरु,
पर पोखियइ न सोइ ॥१॥
सामी हो सेवहि हो मेरे जीव तुहु,
आदि पुरिखु अरहंतु ।
अकलु अमलु अक्खिवलु अपरंपरु,
अलखु अगमु महंतु ॥१॥
घट महि बसहि इन देखें,
हो कोई देखत रहि उल्सुकाए ।
रूप गंध रस विहूणो,
गुरु लघु कहणा न जाइ ॥२॥ सामी॥
सकति सयंभुवभु पुरिसोतमु,
निरालबु नरसीहु ॥
निराकारु निलेखु निरजणु,
एकु अनेकु निहु ॥३॥ सामी॥
यहइ सुह सुहं सुहं सोहं,
हुमु यह इहं सोइ ।
जम कंम जर मरण णिरालंबु,
सदा जीउ यह जोइ ॥४॥ सामी ॥
माया मानु लोहु कोहालसु,
पाणी णाणि बुझाए ।
आठ करम अरि अरूई दीठ,
गइ नु पहि आपु मिलाए ॥५॥ सामी॥
आसउ बंधु दूरि करि दिनि दिनि,
सवरु निरजर साधि ।
चितवइ मोखु अवरु सबु परिहरि,
यह ससारु उपाधि ॥६॥ सामी॥
सवं संकलप विकलप निराकरि,
भवति पात दुह हेउ ।
विगतु विचारि नियवु किन निरवहि,
यह सरीर महि देउ ॥७॥सामी॥
दय करि वोर वचन जै जपै,
तो साचें मनि मानै ।
सहणपालु सिवदासु पयं पइ,
मोख लहहिगौ इसु ज्ञानी ॥८॥
सामी सेवहि हो मेरी जीय तुहु,
आदि पुरिखु अरहतु ।
अलखु अमलु अविचलु अपरंपरु,
अलखु अगंमु महंतु ॥

बालकराम कृत सीता चरित्र

प्राकृत भाषा में सीया चरियं नाम से कुछ रचनाओं की सृष्टि हुई और समय के साथ साथ वह ही परम्परा भाषा में भी चल कर आई और उसमें कुछ सीता चरित्रों की रचना हुई। श्री बालक राम का सीता चरित्र भी एक ऐसी ही रचना है जिसकी कुछ प्रतियों का संक्षिप्त परिचय विद्वान लेखक ने यहां दिया है। इनमें से कुछ प्रतियों में लिपिकारों की शिष्य परम्परा एवं श्रावक वंश परम्परा का वर्णन होने से ऐतिहासिक महत्व की भी हैं। खोज करने से और भी ऐसी प्रतियां भण्डारों में प्राप्त हो सकती हैं।

—सम्पादक

डॉ० छोटेलाल शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व अपने शोध प्रबंध के सिलसिले में अहमदाबाद पाटन लीमड़ी, कोडाय, भडोंच आदि स्थानों की यात्रा की थी। अहमदाबाद में लालाभाई दलपति भाई संस्कृति विद्यामदिर, के संचालक श्री दलसुख मालवणिया के सौजन्य से प्राकृत भाषा मे लिखित 'सीयाचरित्र' की प्रतियां कुछ देखने को मिली थीं। इसमे अपभ्रंश के भी उद्धरण हैं और यत्र-तत्र वर्णनात्मक गद्य भी है। ग्रंथ चम्पू की कोटि का है लेकिन सुसंबद्ध और कथानक क्षिप्र है। लेखक का अनुमान था कि यह परपरा भाषा में भी अवश्य जीवित है। कवि समयसार की 'सीताराम चौपाई' को देखकर उक्त धारणा को और भी अधिक बल मिला। लेखक ने कलकत्ते के सभी पुस्तकालय एवं जैन भण्डार देखे, लेकिन निराशा ही हाथ आई। सीताचरित्र संबंधी कोई भी भाषा ग्रंथ नहीं मिला। लेखक को आगरा भी जाना पडा और वहा का 'जैन शोध संस्थान' देखने का सौभाग्य मिला। श्री महेन्द्र जी के सौजन्य से श्री बालकराम कृत 'सीता चरित्र' की सात प्रतियां भी सुलभ हो गयीं। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १७१३ की है जो मार्गशीर्ष शुक्ला पचमी को समाप्त होती है।[1] इसके कथ्य में नवीनता है, मौलिक मोड़ है और सबंध निर्वाह में विधायक कल्पना के दर्शन होते हैं। इसको 'सीयाचरियं' और

समयसार की 'सीताराम चौपाई' की अनुकृति नहीं कहा जा सकता है। कल्पना व्यापक है और अप्रस्तुत योजना नवीन एव तदग्र।

(२) प्रस्तुत कृति की सात प्रतियां क्रमशः सं० १७१३ वि०, सं० १७६२ वि०, स० १७६४ वि०, (दो प्रतियां), स० १८०१ वि०, स० १८१४ वि०, सं० १८४८ वि० और स० १८५१ वि० की हैं। सं० १७६२ की प्रति कार्तिक शुक्ला एकादशी को समाप्त हुई है। इसकी पुष्पिका में लिपिकार का नाम नहीं है।[२] स० १७६४ वि० की प्रति भाद्रपद कृष्णा दशमी मगलवार को पूरी हुई है।[३]

प्रस्तुत प्रति मे लिपिकार की शिष्य परपरा और श्रावक की वशपरपरा भी अ कित है।[४]

(अ) लिपिकार की शिष्यपरपरा--

जिनभद्रसूरि
|
उपाध्याय साधुकीर्ति
|
विमल कीर्ति
|
विमल चद गणि
|
विजय हर्ष गणि
|
विजयवर्धन गणि
|
ज्ञानतिलक गणि
|
लक्ष्मी चद्र गणि
|
पं० रामचन्द्र
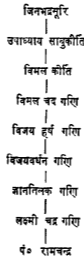
(आ) श्रावक वंश परंपरा —
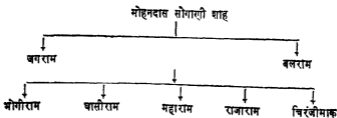
दूसरी प्रति स० १७६४ वि० की वैशाख शुक्ला पचमी शनिवार को साहिजहानाबाद मे संघनायक राजारामजी के वाचनार्थ रामचद्र गणि द्वारा लिखी गयी है[५] स० १८०१ की प्रति जयपुर मे श्रावण कृष्णा मगलवार को किन्ही रामगोपाल द्वारा लिपिबद्ध की गई है। [६] सं० १८१४ वि० की प्रति मे भी लिपिकार का नाम नही है। [७] यह प्रति भी कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी मगलवार को समाप्त हुयी है। इसके बीच मे चंद का नाम आता है। स्यात् वही इसका लिपिकार हो सकता है।[८] सं० १७४८ वि० की प्रति किन्ही मिश्र नोलराम गौड की लिखी हुई है जो फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी बुधवार को हाथरस मे समाप्त हुई है। [९] सं० १८५१ की प्रति प० रत्नलाल द्वारा कार्तिक कृष्णा अष्टमी शुक्रवार को पूरो की गयी है। [१०]

(३) प्रस्तुत कृति की उत्थानिका, रचनाविधान एव उपसहार—सभी प्राकृत तथा भाषा की अन्य रचनाओ से पर्याप्त भिन्न है। प्राकृतग्रंथ 'सीया-चरिय' की उत्थानिका धार्मिक है। कथा अलीक अभ्याख्यान के फल को स्थापना से प्रारंभ होती है। समस्त कथानक उत्तरभव और जीवन-अतरायो से सबधित है। प्रस्तुत ग्रंथ सीता की प्रव्रज्या के साथ समाप्त हो जाता है। उसमे राम की उत्तर-वर्ती उपलब्धि और सीता द्वारा प्रस्तुत उपसर्ग नही है। इससे नायिका के चरित्र का वैशिष्ट्य भी कायम रह सका है और ग्रंथ के शीर्षक की महत्ता भी अप्रतिहत रह सकी है। समूची कथा सीतापुत्र और नारद के बीच चलती है जिसमें 'पंचतंत्र' और 'राम चरित मानस' के सदृश श्रेणिक और गण-धर भी वक्ता और श्रोता के रूप में आजाते हैं। इसका मुद्रिका प्रसग 'राम चरित मानस' से मिलता जुलता है जिसे हनुमान सीता की खोज के समय ले जाते हैं। वैसा ही सदर्भ है और वैसा ही दृश्य। [११] रामवनवास के समय कैकेयी द्वारा राम की मनु-हार साकेत के सदृश है। कैकेयी का पश्चाताप अत्यत आवेश युक्त एव ऊष्म है और राम की दृढ़ता अप्रतिम। [१२] उसका 'पूज अयोध्या में चलो' तुलसी दास की 'गीतावली' की टक्कर का है। लोकलय ने मनुहार को अत्यंत कारुणिक बना दिया है। इसमे इचपुर के राजा का नया प्रकरण भी है। यत्र-तत्र ग्रंथ पर आल्ह खड अर्थात् परिमालरासो का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अरदास, हुकुम, खलक प्रभृति एकानेक उर्दू के शब्द पद एव वाक्य खडो का प्रयोग है। शैली वही कडवक शैली है जिसमे दोहा-चौपाई का बध है। इसके अतिरिक्त सोरठा, अरिल्ल, सवैया, मनहरण आदि छदो का प्रयोग है। ग्रंथ हिन्दी के प्रबध काव्यो की शैली मे लिखा गया है। भाषा सरल एवं चुटीली है। अभिप्राय लोक जीवन के और प्राचीन हैं। अभिप्रायों के द्वारा भी काव्य लोकजीवन से जुड़ जाता है जिसमे गुण-पर्याय पर्याप्त दूर तक समान बने रह जाते हैं और भावो मे घनता एव सामजस्य आजाता है। ग्रंथ उत्तम और सार गर्भित है।

१—संवत सतरह तेरौ तरै, मगसिर ग्रंथ समापित करै।
सुकालु पच्छु तिथि है पचमी, आपौ जानि कुमति जिनवमी।

२—श्री महासती सीताजी कौ चरित्र संपूर्ण सं० १७६२ का मी काती सु० ११।

३—इति श्री सीता चरित्रं समाप्तं। ग्रंथाग्रंथ श्लोक सं० ३५०० स० १७६४ वर्षे भाद्रपद कृष्णा पक्ष दशमी दिने भौमवासरान्विते यादृश पुस्तकं दृष्टं।

४—लिखितं श्वेतांबरी खरतर बृह गच्छे भट्टारक श्री जिनभद्र सूरि शाखायां उपाध्याय श्री साधु कीर्तिस्तत्सिष्य विमल कीर्तिस्तत्सिष्यं विमलचंद गणि स्तत्सिष्य वाचनाचार्य श्री विजय हर्ष जी गणि स्तत्सिष्य वाचनाचार्य श्री विजय हर्ष जी गणि स्तत्सिष्य मुख्यवाचनाचार्य श्री विजय वर्धन जी गणि स्तत्सिष्य सर्व विद्या विशारद पंडित गुणालकृत श्री ज्ञानतिलकजी गणि मुंख्य सिष्य वाचक लिषमीचंद गणेसिष्य पं० रामचंद्रेण लिखितं। सुश्रावक श्री सोगाँणी गोत्रे साहजी श्री मोहनदासजी तत्पुत्र भातृ दोइ सुश्रावक पुन्य प्रभावक देवगुरू भक्ति कारक प च परमेष्टि महामत्र स्मारक बृहत् भ्राता जगराम लघु भ्राता बलराम तन्मध्ये भ्रातात्मज भोगीराम तदनु घासीराम तदनु महराम तदनु चिरजीयाकस्य पठनार्थ लिखितमिदं पुस्तक !

५—सं० १७६४ वैसाखसुदी पंचमी शनिवार, श्री साहिजहाँनाबाद मध्ये लिखित श्वेतांबर रामचंद्र गनि सुश्रावकपुन्य........सघनायक साह श्री राजारामजी वाचानार्थ श्रेयो भवतु। .... श्री भिखारीदास वनाम सहाव कमलापति सुत परनाथ वहन कोसन सुत झूलसीलाल पठनार्थ लिखित प्राननाथ दीली जिहानाबाद के गगाराम उपदेस है। पृ० १५६

६—लिपिकाल मिति कृष्णपक्षे श्रावणमासे मंगलवासरे स० १८०१ सवाई जैपुर रामगोपाल....

७—सं० १८१४ वर्षे कार्तिक मासे कृष्ण पक्षे तिथौ त्रियोदश्या भृगुवासे शुभम् सपूर्ण। पृ० १२८

८—कहै चंदकर जोरि सीस नयबदियै।

९—सं० १८४८ वर्षे फागुन सुदि १३ बुधिवासरे लिषितं मिश्रनोलराम गौड हाथुरस नगरे—स्वामी श्री श्री विशाल कीर्ति पठनार्थमिदं पुस्तकं।

१०—इति श्री सीताचरित संपूर्ण स० १८५१ वर्षे कार्तिक वदि ८ शुक्रवार लिषित यं पं० रत्नलाल शुभम्

११—सीताचरित्र प० १०२-छंद ११-१५ मुद्रिका प्रस ग

१२—वही प० ३८ छंद ५१-६२ कैकेयी की मनुहार।

जैन स्तोत्र : परम्परा और महत्त्व

"...........जैन स्तोत्र साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें सदैव गुणों की पूजा की गई है व्यक्ति की नहीं.............."

★

डॉ० हरीन्द्र भूषण जैन
प्रध्यक्ष संस्कृत विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

संस्कृत-साहित्य विश्व की प्राचीनतम अमूल्य निधि है। गीति-काव्य इसका परम रमणीय अङ्ग है। यह मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार से उपलब्ध होता है। थोड़े शब्दों में महान् अर्थ का निरूपण मुक्तक की प्रमुख विशेषता है। स्तोत्र की रचना प्रायः मुक्तक के रूप मे होती है। अतः स्तोत्र, गीतिकाव्य के रूप मे संस्कृत-साहित्य का एक प्रमुख अंग है।

स्तोत्र-साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में हिन्दू, जैन तथा बौद्ध स्तोत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। स्तोत्र का मुख्य विषय भक्ति है। समस्त धर्मों मे भक्ति का महत्त्व है। जैनधर्म तो भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है। भक्ति का अर्थ है पूज्य पुरुषों के गुणों का स्मरण। आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'स्वयम्भू-स्तोत्र' में तीर्थंकर वासुपूज्य की स्तुति करते हुए कहा है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरिताञ्जनेभ्यः॥

हे नाथ! आप तो वीतराग हैं अतः आपको न तो अपनी पूजा से कोई प्रयोजन है और निन्दा से, क्योंकि आपने वैर का भी पूरी तरह अन्त कर दिया है। फिर भी, आपके पुण्य गुणों की स्मृति हम संसारी जनों के चित्त को

पाप रूपी कलङ्क से मुक्त कर पवित्र बना देती है।"

जैन-स्तोत्र का उद्भव मूल-आगमो से है। जैन-आगमो के प्राकृत भाषा मे पाया जाने वाला 'पञ्चनमस्कार मन्त्र' जैन-स्तोत्र का सबसे प्राचीन रूप है। इसमे परमात्म-पद की पाच अवस्थाओ को नमस्कार किया गया है—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।।

"चार कर्मों का नाश करने वाले अरिहन्तो को, आठो कर्मों का नाश करने वाले सिद्धो को, आचार्यों और उपाध्यायो को तथा लोक मे समस्त साधुओ को नमस्कार हो।"

प्रायः आगम, काव्य, नाटक, चम्पू, कथा आदि समस्त जैन—साहित्य मे यत्र तत्र प्रसङ्गानुसार स्तोत्र के दर्शन होते हैं किन्तु अनेक आचार्यो ने स्तोत्र-ग्रन्थो की स्वतन्त्र रूप से रचना की है। अनेक जैन-स्तोत्रो के सङ्ग्रह प्रकाशित हो चुके है। चतुविजय मुनि द्वारा सम्पादित तथा अहमदाबाद से प्रकाशित "जैनस्तोत्र सदोह', १२६ सुन्दर स्तोत्रो का सङ्ग्रह है। इसमे ८६६ स्तोत्रो के संबंध मे भी अकारादि क्रम से सूचना दी गई है। निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित "जैन स्तोत्रसमुच्चय" मे १२२ विभिन्न प्रकार के स्तोत्रो का सङ्ग्रह है। इसी प्रेस की सुप्रसिद्ध काव्यमाला के सप्तम गुच्छक मे जिन २३ जैन स्तोत्रो का सङ्ग्रह है वे भाषा और भाव तथा साहित्य एव सस्कृति, सभी दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। प्रकाशित संग्रहो के अतिरिक्त जैन स्तोत्रो का एक बहुत बडा भाग अनेक जैन मन्दिरो एव शोध सस्थानो मे अप्रकाशित पडा है। सिन्धिया ओरियण्टल इस्टीटयूट, उज्जैन की भूतपूर्व क्यूरेटर, जर्मन विदुषी डा० शार्लोट क्राइजे (Dr. Sharlotte Krause) ने १९५३ मे अपने इस्टीटयूट के बारह हजार हस्तलिखित ग्रन्थो में से सस्कृत और प्राकृत भाषा के आठ सुन्दर जैन स्तोत्रो को निकाल कर उन्हे Ancient Jain Hymns' के नाम से प्रकाशित करते हुए उसकी प्रस्तावना मे लिखा था "इस इन्स्टीटयूट मे अभी अनेक जैन स्तोत्र हस्तलिखित ग्रन्थो के रूप मे पडे हैं जिनका संशोधन और प्रकाशन होना नितान्त आवश्यक है।"

जैन स्तोत्रो को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते है—

१—२४ तीर्थङ्करो और अन्य परमेष्ठियो की प्रशंसा मे सामूहिक तथा पृथक् पृथक् रूप से लिखे गए स्तोत्र, जैसे—चतुर्विशति जिनस्तवन, आदिनाथ स्तोत्र, पार्श्वस्तोत्र, महावीर स्तोत्र आदि।

२—कष्ट को दूर करने के निमित्त मे रचे गए स्तोत्र, जैसे—विष का प्रभाव दूर करने के निमित्त से लिखा गया 'विषापहार स्तोत्र'। इसी प्रकार ग्रहशान्ति स्तोत्र आदि।

३—विभिन्न तीर्थो की प्रशसा और भक्ति मे लिखे गए शत्रुंजय स्तुति, गिरनार चैत्य परिपाटी स्तवन, पार्श्वनाथ सत्तार्थ स्तवन आदि।

४—दार्शनिक स्तोत्र, जिनमे जैन दर्शन के गूढ तत्वो का विवेचन पाया जाता है। जैसे—देवागम स्तोत्र, अयोग व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, अन्य-योगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका आदि।

कुछ स्तोत्रों के नामकरण, स्तोत्र के प्रथम शब्द के आधार पर किए गए हैं। जैसे—भक्तामर स्तोत्र, एकी भाव स्तोत्र, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, देवागम स्तोत्र, इष्टाष्टक स्तोत्र आदि। कुछ स्तोत्रों के नामकरण उनकी पद्य सख्या पर आधारित हैं, जैसे बत्तीस पद्यो के कारण महावीर द्वात्रिंशिका, बीस पद्यों के कारण सिद्ध विंशिका, सौ पद्यों के कारण जिन शतक आदि।

तीर्थङ्करों की स्तुति रूप स्तोत्रों में 'आदिनाथ स्तोत्र' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसी का नाम 'भक्तामर स्तोत्र' है। इसके रचयिता हैं आचार्य मानतुङ्ग। ये धारा नरेश भोज के समकालीन कहे जाते हैं। इस स्तोत्र मे प्रथम तीर्थंङ्कर ऋषभदेव की स्तुति मे अडतालीस पद्यों की रचना की गई है। इस स्तोत्र के संबंध में किंवदन्ती है कि अड-तालीस कोठरियो मे ताला लगाकर बद किए गए आचार्य मानतुङ्ग ने जब इस स्तोत्र का एक-एक पद्य पढना प्रारम्भ किया तो सभी कोठरियों के ताले क्रमशः टूटते गए। यह स्तोत्र विद्वानो को इतना रुचिकर हुआ कि इसके अनुकरण पर नेमि भक्तामर, सरस्वती भक्तामर, वीर भक्तामर, ऋषभ भक्तामर, शान्ति भक्तामर आदि अनेक स्तोत्रो की रचनायें हुई। इतना ही नही, इस स्तोत्र का 'वसन्त-तिलका' छन्द भी स्तोत्र रचना के लिए आदर्श छन्द माना जाने लगा। इस स्तोत्र मे भाषा तथा भावो का सुन्दर सामञ्जस्य दर्शनीय है। ग्यारह बार 'भ' अक्षर की आवृत्ति से इस स्तोत्र का यह पद्य कितना मनोरम प्रतीत होता है—

> नात्यद्भुत भुवन भूषण। भूतनाथ !
> भूतैर्गुणैर्भुवि भवंतमभीष्टुवन्तः।
> तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
> भूत्याश्रित य इह नात्मसमं करोति ॥

"हे जगत भूषण, हे जगत के जीवो के नाथ, आपके यथार्थ गुणो के द्वारा आपका स्तवन करते हुए यदि भक्त आपके समान हो जाय तो इसमे क्या आश्चर्य। स्वामी का तो यह कर्तव्य ही है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बनाले।"

जैन स्तोत्रों में इष्ट देवता की स्तुति के अति-रिक्त कभी-कभी जैनधर्म के गूढ़ सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया जाता है। इसी कारण अनेक स्तोत्र दार्शनिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। स्वामी समन्तभद्र का देवागम स्तोत्र विश्व के समस्त चिन्तकों के लिए चिन्तामणि के समान है। ११४ श्लोक प्रमाण इस स्तोत्र पर तार्किक तपस्वी अकलङ्कदेव ने अष्टशती नाम की ८०० श्लोक प्रमाण टीका का निर्माण किया और आचार्य विद्यानन्दी ने अष्टशती टीका पर ८००० श्लोक प्रमाण अष्ट सहस्री नाम की विश्वातिशायिनी टीका बनाई।

जैन स्तोत्रों की भाषा अत्यन्त सरल एवं मनोहर उदाहरणो से भरपूर होने के कारण चित्ता-कर्षक है। 'विषापहार स्तोत्र' में कहा गया है कि हे भगवन्! आप तो निर्मल दर्पण के समान सदा स्वच्छ हैं। जो व्यक्ति आपको निष्पाप भाव से देखता है वह सुख पाता है और जो आपसे विमुख होकर बुरे भाव से आपको देखता है वह दुःख पाता है। ठीक ही है, दर्पण मे जो अपना मुख सीधा करके देखता है उसे उसका मुख सीधा दिखता है और जो अपना मुंह टेढा करके देखता है उसे टेढा दिखता है:—

> "उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि
> त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्।
> सदावदात द्युतिरेकरूप
> स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥

जैन स्तोत्र साहित्य मे भक्तामर स्तोत्र के पश्चात् ये स्तोत्र अत्यन्त महनीय माने गए हैं—वादिराज का एकीभाव स्तोत्र, स्वामी समन्त भद्र का देवागम और स्वयम्भु स्तोत्र, धनंजय का विषापहार स्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर का कल्याण मन्दिर स्तोत्र, आचार्य अकलङ्क का अकलङ्क स्तोत्र और भागचन्द्र का महावीराष्टक स्तोत्र।

जैन स्तोत्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमे सदैव गुणो की पूजा की गई है व्यक्ति की नहीं। अकलङ्क स्तोत्र में कहा गया है कि—

"मैं उसकी वन्दना करता हूं कि जिसने अपने समस्त दोषों का विध्वंस कर दिया है और इसी कारण जो सम्पूर्ण गुणों का भण्डार बन गया है तथा साधुओं के द्वारा वन्दनीय है, चाहे वह कोई भी हो बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्म हो, विष्णु हो अथवा शिव हो।'

"त वन्दे साधुवद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल निलय केशव वा शिव वा ॥"

"प्रतिभाशाली की प्रतिभा को मेहनत और निखारती है और साधारण योग्यता वाले की कमियों को दूर करती है। सोच विचार कर की गई मेहनत के सामने कुछ भी अप्राप्य नहीं है और बिना इसके कुछ भी प्राप्य नहीं है।"

—सर जोशुआ रोनाल्ड्स
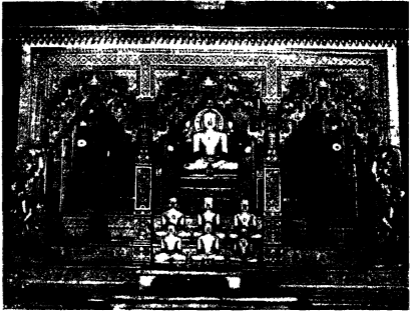
जयपुर के प्राचीनतम 'दि० जैन मंदिर पाटोदियान' की मूल वेदी

०७

राजस्थान के राज्यपाल श्री सरदार हुकुमसिंह, पद्मपुरा स्थित
दि० जैन मंदिर में भगवान पद्मप्रभ के समक्ष

शुद्धि-पत्र

मुद्रणालय मे असावधानी से पृष्ठ ५७ पर पृष्ठ ६६ का तथा पृष्ठ ६६ पर पृष्ठ ५७ का मैटर लग गया है अर्थात् पृष्ठ ५८ से लेकर ६२ तक का मैटर डा० सुधीरकुमार गुप्त के 'आत्मा' शीर्षक लेख का है तथा पृष्ठ ६४ से ६७ तक का मैटर प० हीरालालजी के "भगवान् महावीर के जीवन से ग्रथित एक अप्रकाशित ग्रथ का परिचय-रयधु विरचित महावीर चरित" का है। इसही प्रकार पृष्ठ ८७ का मैटर पृष्ठ ८६ पर और पृष्ठ ८६ का पृष्ठ ८७ पर मुद्रित हो गया है।

पाठकों से प्रार्थना है कि पढने से पूर्व उपरिलिखितानुसार संशोधन करलें।

पाठकों को एतदजनित जो असुविधा होगी उस के लिये हम क्षमा प्रार्थी है।

क्षमा प्रार्थी
भंवरलाल पोल्याका, सपादक
एवं
मै० अजन्ता प्रिन्टर्स, मुद्रक

जैन कवियों के ब्रजभाषा प्रबन्धकाव्यों में मार्मिक स्थल

[१८वीं तथा १९वीं शती]

> '.........इतिवृत्त विधान से पद्यबद्ध इतिहास का तो सृजन हो सकता है किन्तु काव्य का नहीं। इतिवृत्त अपने आपमें शुष्क और नीरस होता है। उसमें रसपूर्ण प्रसगों की उद्‌भावना से ही रसवत्ता आती है। इतिवृत प्रबन्ध का स्थूल ढ़ाचा है, उसमें सूक्ष्म प्राण फूंकने का काम उसके वे रसात्मक प्रबंध करते हैं जो कथा के मध्य हृदय को रमाने के लिये बीच बीच में रखे जाते हैं। ये रसात्मक प्रसंग ही काव्य के रमणशील या मर्म स्पर्शी स्थल कहलाते हैं।..... "

डॉ० लालचन्द जैन
हिन्दी विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

प्रबन्धकाव्य में चाहे वह महाकाव्य हो, एकार्थकाव्य या खण्डकाव्य हो 'किसी वस्तु का शृंखलाबद्ध वर्णन होता हैं। उसमे प्रारम्भ से अन्त तक किसी प्रख्यात अथवा काल्पनिक कथा का वर्णन होता है। उसकी एक घटना दूसरी से सर्वथा सम्बद्ध होती है और कथा के सूत्र मे कही भी व्यतिक्रम नहीं हो पाता। किसी शृंखला की कड़ियो के समान विभिन्न घटनाएं एक दूसरी से मिली रहती हैं और उनके सम्बद्ध होने से ही एक प्रवाहमयी कथा का निर्माण हो जाता है। प्रबन्धकाव्य मे कवि का ध्यान कथा के सूत्र की ओर ही रहता है।' [1]

किन्तु केवल शृंखलाबद्ध कथानक से ही किसी सफल प्रबन्धकाव्य की रचना नहो हो जाती। कोरी इतिवृत्तात्मकता से प्रबन्धकाव्य रूपायित नहीं किया जा सकता। उसमें रसात्मकता की प्रतिष्ठा के बिना वह निर्जीव सा प्रतीत होगा। अतः उसमे मार्मिक स्थलो की अवतारणा और सापेक्ष वस्तु-वर्णनों की योजना भी अनिवार्य है। इस प्रकार साहित्य-शास्त्रियो ने प्रबन्ध के तीन निकष स्वीकार किये है—(१) कथा का सम्बन्ध-निर्वाह (२) गभीर मार्मिक स्थलों का विधान और (३) स्थान-काल के अनुकूल दृश्यो की योजना। यहां हमारा विवेचन प्रबन्ध के दूसरे निकष अर्थात् गभीर-मार्मिक स्थलो का

विधान तक ही सीमित है।

यद्यपि प्रबन्धकाव्य इतिवृत्त-प्रधान काव्य होता है; किन्तु मात्र इतिवृत्त-विधान से पद्यबद्ध इतिहास का तो सृजन हो सकता है, किन्तु काव्य का नही। इतिवृत्त अपने आप मे शुष्क और नीरस होता है। उसमें रसपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना से ही रसवत्ता आती है। इतिवृत्त प्रबन्ध का स्थूल ढाचा है; उसमे सूक्ष्म प्राण फूंकने का काम उसके वे रसात्मक प्रसंग करते हैं जो कथा के मध्य हृदय को रमाने के लिए बीच-बीच में रखे जाते हैं। ये रसात्मक प्रसग ही काव्य के रमणशील या मर्मस्पर्शी स्थल कहलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े विचार के साथ लिखा है—'जिनके प्रभाव से सारी कथा मे रसात्मकता आ जाती है, वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल है जो कथा के बीच-बीच मे आते रहते है। यह समझिये कि काव्य मे कथावस्तु की गति इन्ही स्थलो तक पहुँचने के लिए होती है।'[२]

वस्तुत. कथा के मध्य स्थल-स्थल पर जो विराम दिये जाते हैं, वे इन्ही मार्मिक परिस्थितियो के चयन के लिये। इस प्रयोजन से कथा मे जो विराम पाये जायें, वे काव्य के औदात्य एवं उत्कर्ष के लिये आवश्यक समझे जाने चाहिए।[३] कौन कवि अपने प्रबन्ध काव्य मे कितने मार्मिक स्थलो की अवतारणा कर सका है, सच पूछा जाये तो यही उसके काव्य की सफलता की कसौटी है। इस कला में निपुणता का श्रेय सहृदय एव भावुक कवि को ही मिलता है। भावुक कवि ही ऐसे तलस्पर्शी स्थलों के अन्तर मे जाकर पैठता है, पात्रों को तदनुकूल परिस्थितियो में डालता और उनके साथ अपने हृदय का सम्बन्ध जोडकर तथा मानव-जीवन की अनेक दशाओं के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ऐसे भाव-मुक्ताओं को चुनकर प्रत्यक्ष रखता है, जिनकी कान्ति न कभी मिटती है और न कभी फीकी पड़ती है मानो उनका सौन्दर्य शाश्वत और देश-काल की सीमाओं से परे है।

अठारहवी तथा उन्नीसवी शती में जैन कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचे गये अनेक प्रबन्धकाव्यो मे से मार्मिक स्थलो के विधान की दृष्टि से यहा प्रमुखतः कवि भूधरदास कृत 'पार्श्वपुराण' नेमिचन्द्र कृत 'नेमीश्वररास' राम चन्द्र 'बालक' कृत 'सीता चरित' दौलतराम कृत 'जीवन्धर चरित' आसकरण कृत 'नेमिचन्द्रिका' भारामल्ल कृत 'शील कथा' विनोदीलाल कृत 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिनाथ मंगल' आदि काव्य उल्लेखनीय हैं।

'पार्श्वपुराण' मे यद्यपि वर्णनात्मक अशो के आधिक्य के कारण मानव हृदय के प्रसार के लिये विराट भूमि नही मिल पायी है तथापि उसमे समुचित मार्मिक स्थलो का अभाव नही है। कवि ने कथा मे आवश्यक विराम देकर ऐसे स्थलो को पहचाना है, यथा-राजा अरविन्द द्वारा मरुभूति के के भाई कमठ को दण्ड दिया जाना,[४] भूताचल पर्वत पर दोनो भाइयो के मिलने के अवसर पर कमठ द्वारा मरुभूति की हत्या,[५] वज्रघोष हस्ती का हृदय-परिवर्तन[६] राजा वज्रनाभि का वैराग्य,[७] पार्श्वनाथ के तपस्वी जीवन के कष्ट आदि।

'नेमीश्वर रास' मे समुचित रसात्मक स्थलो का विधान है। ऐसे स्थलो पर मानव-भावनाओ, सवेदनाओ, सुख-दुःख के विविध रूपो की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति मिलती है। उदाहरण के लिये महाभारत के युद्ध मे जब दोनो पक्षो की सेनाए समर भूमि मे आ खडी होती हैं, तब कुन्ती और कर्ण मे जो सवाद हुआ है, वह हमारे अन्तस्तल की धरा को छूने मे समर्थ है। कुन्ती कर्ण से कहती है—बेटा कर्ण। तू मेरा पुत्र है, मैं तेरी मा हू। तू सोच-समझ! कर्ण मा के वचनों को सुनकर एक साथ ही हर्ष और शोक से विह्वल हो उठता है। इस समय उसके अन्तर का द्वन्द्व चरमोत्कर्ष पर जा पहुँचता है। उसकी आत्मा कांप उठती है। वह गंभीरता से मनन करता है कि माता के स्नेह को

ठुकरा दूं या स्वामी भक्ति को। अन्त में वह निर्णय लेकर रुंधे हुए कठ से कहता है—मा सुनो! यदि मैं आपका ऋण चुकाऊ तो स्वामी का ऋण मेरे सिर पर रह जायेगा। दुनिया मुझे नमक हरामी कहेगी। मा मुझे क्षमा करो।

ऐसा ही एक मार्मिक प्रसंग और लीजिये। वन मे कृष्ण जरत्कुमार के बाण से धराशायी ही नहीं हो गये, सदैव के लिये मृत्यु-शैया पर सो गये हैं। बलभद्र कृष्ण समझते हैं। सही स्थिति से अवगत न होने के कारण वे कृष्ण को 'भाई-भाई' कहकर जगाने, जगकर मुख धोने और जल पीने के लिये कितनी ही बार पुकारते जाते हैं। उनकी समस्त चेष्टाए निष्फल रहती हैं। उन्हे न सतोष होता है और न विश्वाम। वे सोचते हैं-भाई रूठकर सोने का बहाना कर रहा है, अतः वे बोलो। बोलो !! उठो! उठो !! दूर से जल लाया हूं। वीर! निद्रा खोलो। एक बार तो बोलो! इसी प्रकार के अनेक शब्द बोलते ही चले जाते हैं। न बोलने पर वे कृष्ण को कधे से लगाकर चल पड़ते हैं। तभी वे देखते हैं कि कृष्ण के शरीर से बाण लगा हुआ है, रक्त की धारा बह रही है। बस इस लोमहर्षक दृश्य को देखकर वे हाहाकार कर चीख पडते हैं। उनका हृदय दु.ख से फटने लगता है। वे इतना रोदन करते हैं कि वन के पशु-पक्षी भी अपनी आंखो से अश्रुधारा बहाने लगते हैं।[८]

वस्तुतः यह अत्यन्त कारुणिक और मार्मिक प्रसंग है। बलभद्र द्वारा सम्पन्न क्रिया व्यापार किस हृदय को शोकाकुल नही करते ? यह एक ऐसा स्थल है जिसकी तुलना कदाचित किसी अन्य स्थल से नहीं की जा सकती। कहना चाहिए कि ऐसे ही रसात्मक स्थल मानव हृदय की कोमल वृत्तियो को उभारने वाले होते हैं।

'नेमीश्वर रास' की भांति ही 'सीता चरित'[९] में अनेक मार्मिक स्थलो का विनिवेश है। वास्तव मे उसकी कथा धारा के मध्य इतने मोड़, इतने विराम और इतने मार्मिक स्थल आये हैं कि उन पर प्रकाश डालना कठिन है। उसका प्रारम्भ ही हृदय को स्पर्श करने वाले प्रसंग से हुआ है। प्रजा के निवेदन पर राम गभीरता पूर्वक विचार करने के उपरान्त लोकापवाद के भय से सीता को सेनापति द्वारा घर से निकलवाकर वन में छुड़वा देते हैं। सेनापति भी सीता को वन मे अकेली छोड़कर स्वय असहाय की भांति आसू बहाता है। सीता उसे निर्दोष ठहराकर वापिस लौटा देती है। जब वह अकेली रह जाती है तब उसकी विचित्र अवस्था को द्योतित करने वाली ये पक्तिया करुण विप्रलंभ रस का रूप लेकर आ काव्य मे आ बैठी हैः—

सीता फिरै चहू दिसि बन मे,
नैंक न करै प्रसास।
कबहू महा मोह अति पूरन,
कबहू ग्यान विलास ॥
सीता करै विलाप,
हा हा कर्म कहा भयो।
जो जिन पोते पाप,
भोगे बिना न छूटिये ॥
कबहूक दुष भरि रोय दे,
कबहूक हासै कर्म।
कबहु आरति ध्यानमय,
कबहु सम्हारै धर्म ॥[१०]

इस स्थल की मर्मस्पर्शिता अनेक बातो पर निर्भर करती है। सर्व प्रथम सीता निर्दोषिणी है, दूसरे वह राजरानी है, तीसरे वह सगर्भा है, चौथे उसे बिना सूचना के सेनापति द्वारा राजमहलो से निकालकर वन मे छुड़वा दिया गया है। ऐसी स्थिति में एक दुर्बल नारी हृदय का विचित्र मानसिक अवस्था को प्राप्त होना बहुत स्वाभाविक है। उसका विकल होकर छटपटाना, विवेक द्वारा मन को सतोष देना, भाग्य को कोसना, दु.ख से रो

देना, धर्म का स्मरण करना आदि आश्चर्य की वस्तु नहीं।

इसी प्रकार राम के वन-गमन के अवसर का एक चित्र देखिये। इससे अधिक मर्मस्पर्शी स्थल और क्या हो सकता है कि राजमहलो मे पलने वाले राम अपने पिता की आज्ञा-पालन के निमित्त मोह और आकर्षण की समस्त जंजीरो को तोडकर एक लम्बे काल तक वनवास के लिये तत्पर हो जायें। राम तो इसके लिये सहर्ष तैयार हो गये, परन्तु माता क्या यह कह दे कि बेटा! तुम वन जाओ। लेकिन माता की आज्ञा बिना राम वन जा भी कैसे सकते हैं? माता यह सुनकर चित्रलिखी सी रह जाती है। वह 'हाँ' नही कह सकती, वह 'ना' भी नही करती। इस मां के हृदय की वेदना की कोई थाह नही ले सकता जिसकी वाणी अवरुद्ध है, जिसके नेत्रो से नीर बह रहा है। इस हृदय की पीडा को वही जान सकता है जिसके हृदय पर ऐसी बीती हो :—

नैन झरै अति नीर,
　　　　बैनन सेती चुप थकी।
इह हिरदा की पीर,
　　　　इहि व्यापै सो जान सी॥ [११]

वस्तुतः 'सीता चरित' का कवि मार्मिक स्थलो को पहचानने मे भूल नहीं करता। जिस स्थल के वर्णन मे उसे जितना रमाना चाहिए, वहा वह उतना ही रमा है। रसात्मक स्थल के लिये यह आवश्यक नही कि वह कलेवर मे बडा हो। यदि दो पक्तियों में भी हृदय को आन्दोलित करने वाले क्रिया-व्यापार की योजना हो जाती है तो वह पर्याप्त है। ऐसा ही एक स्थल लीजिए। लका से लौटने पर हनुमान राम को सीता की कुशल-क्षेम का, उसकी करुणावस्था का समाचार देते है। यह समाचार बार-बार सुनने पर भी राम कोमल, दुर्बल, अनुराग और मोह से भरे हुए हृदय को संतोष नही होता। वे फिर-फिर कर पूछते ही चले जाते हैं:—

बार-बार पूछे पदम,
　　　　सीता की कुसलात।
फिरि फिरि पूछे मोह धरि,
　　　　कहौ कहौ इहि बात [१२]॥

'श्रेणिक चरित' की कथा के मध्य कवि की भाव-प्रवणता ने अनेक रसात्मक प्रसंगो को रूप दिया है। इन स्थलो पर कवि ने भाव को उत्कर्ष तक पहुंचाने का प्रयास किया है।[१३] पुत्र-वियोग के अवसर पर माता के करुणा विगलित अन्तस का यह चित्र कितना मार्मिक हैः—

चल्यौ कुंवर माता सुन्यो,
　　　　अति दुख करै निस्वासि॥
नैन झरै उर ऊमसै,
　　　　आकुलव्रत उदासि॥

तो बिन सूनौ मो मंदिर,
　　　　कुल दीपक तू बाल॥
म्हारे कोई पूर्व क्रम उदै,
　　　　भयौ आज तत्काल॥
पुत्र विछोह मुझ थकी,
　　　　सह्यौ जाहि नहि मोहि॥
ऐसो करम कहा कीयौ,
　　　　तायै कुंवर विछोहा हो हि[१४]॥

'जीवन्धर चरित' मे इतिवृत्तात्मक अशो की बहुलता के कारण थोड़े ही मार्मिक अश उभरे हैं। काव्य के प्रारम्भ मे चरितनायक राजकुमार जीवधर के जन्म से पूर्व ही मंत्री द्वारा उसके पिता की मृत्यु, यक्षिणी की सहायता से शोक विह्वल सगर्भा रानी का श्मशान भूमि मे शरण लेना और वहां रात्रि मे ही पुत्र जीवधर का जन्म होना, राजपुत्र के जन्म लेने पर कोई उत्सव न होना और पति-विछोह के

शोक में डूबना आदि से एक अच्छे हृदय स्पर्शी स्थल की योजना हो सकी है।[१५]

कुछ स्थलो पर कवि ने भाव को उत्कर्ष तक पहुँचाया है। उसने मानव-हृदय के साथ पशु-पक्षियो के हृदय को भी निकट से देखा है और मानवेतर सृष्टि के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है। हर्ष-शोक के प्रसगो मे कवि की भाषा भी मसृरग हो गयी है, यथा—

करतो क्रीडा सर विषै,
रह तौ माता पास ॥
चैन पावतौ तात पै,
धरतौ महा विलास ॥
तात मात ते चेटका,
वृथा विछोयो बाल ॥
कौतुक को लीयो कंवर,
चरण चूंच चखि लाल ॥
पोषन कौ उद्यम कियो,
राख्यो नीकी भाति ॥
पै या विनु क्षरण एक नहिं,
तात मात कौ सांति ॥
शोक सहित माता पिता,
सबद करै नभ माहि ॥
बारं-बार विलाप के,
यामैं संसै नाहि[१६] ॥

हस-शावक माता-पिता के साथ सरोवर में क्रीडा करता हुआ आनन्दमग्न है। कौतुक प्रिय कुमार जीवंधर उसके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उसे उनके पास से अलग उठा ले जाता है और उसे पोसने का प्रयास करता है। परन्तु उसने भूल की। उसका सारा प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। अपने माता-से विलग रह कर क्या हंस-शावक सुख पा सकता था? कुमार ने उसके अलावा उसके माता-पिता को भी अपार कष्ट दिया। वे अपने पुत्र के बिना एक क्षरण भी शान्त न रह सके। गगन मे उड़कर बार-बार विलाप करने लगे। यहां थोड़ी सी पंक्तियों मे ही कवि ने एक ऐसे प्रकृत भाव को अभिव्यक्त कर दिया है जो हमारे मानस पर गहरा प्रभाव छोड़ता है।

मार्मिक स्थलों की योजना के विचार से 'शीतकथा', 'नेमिचन्द्रिका', 'राजुलपच्चीसी' 'नेमि-ब्याह', 'नेमिनाथ मंगल' आदि खण्डकाव्य अच्छे बन पड़े हैं। इनकी घटनाओ को विराम देकर और पात्रो को अनेक परिस्थितियो मे डालकर ऐसे ढंग से सँजोया गया है कि वे स्वतः ही हमारे अन्तर्गत को छूने में समर्थ है। इन काव्यों मे अधिकारिक कथावस्तु के साथ प्रवाहित भावक की विचारधारा ठहर कर भावात्मक तल्लीनता का अनुभव करती है।

'नेमिचन्द्रिका' मे कवि की भावुकता ने इति-वृत्तात्मक या वर्णनात्मक अशो की योजना को इतना महत्व नही दिया जितना कि रसमय स्थलो की योजना को। उदाहरणार्थ नेमिनाथ का राजुल के साथ पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न नहीं हो सका। इससे पूर्व ही वे पशुओ के विलाप से उद्विग्न होकर गिरिनार पर्वत पर तप के लिए चले गये। विह्वल राजुल मूर्छित होकर धराशायी हो गयी। चेतना आने पर वह भी उनके पीछे-पीछे एकाकी चल दी। भावो के लहराते हुए प्रखर ज्वार को हृदय मे समेटकर निर्जन वन-पथ मे चलते हुए विलाप मिश्रित उसके स्वर का आरोह-अवरोह, उसके दीर्घ उच्छ्वास और वन पक्षियों आदि के रोदन से आप्लावित इस मार्मिक स्थल की गहरायी देखिये:—

अहो कंथ किनि सुनहु पुकार,
मैं डूबति हौं दुख की धार ॥
नेंक न चितवत काहे धीर,
कहा करों को हरि है पीर ॥

संकट राजा वैरी आय,
तापर तैं तुम लेहु छुडाय ।।
राउल दु.ख करे हिय तने,
रोवें पछी वन मे घने ।।

\+ + + +

दुःख कटत है पन्थ को,
जो कोई दूजौ होय ।।
कुमरि अकेली दुःख भरी,
संग न साथी कोय[१७] ।।

'शीलकथा' में कवि ने रसात्मक प्रसगो की सृष्टि में अपनी प्रबन्ध पटुता का परिचय दिया है। एक स्थल लीजिये—पति की अनुपस्थिति में मनोरमा के चरित्र पर लाछन लगाकर, रथ में बैठाकर सारथी को उसे विकट अरण्य के मध्य छोडने का आदेश दे दिया जाता है। मनोरमा के अनुनय-विनय करने पर सारथी उसके माता-पिता के घर भी छोड आने के लिए प्रस्तुत हो जाता है किन्तु बिना बुलाई बेटी यदि घर मे आ जाती है तो उस पर संदेह किया जाता है। यही हुआ भी। उसे वहां भी आश्रय नहीं मिला। निदान सारथी उसे वन-बीच छोडने के लिए विवश हो जाता है। वह रोदन करते-करते उसे रथ से उतारता है, भारी मन से जब वह चलने के लिए होता है, परन्तु करुणा और मोह उसकी पद-गति पर बन्धन का काम करते हैं।[१८]

और फिर भयंकर वन के बीच मे असहाय रोती-बिलखती मनोरमा के विलाप का यह स्थल कितना हृदय स्पर्शी है:—

अब ताही अरण्य के माहीं,
ऐसे जो विलाप कराहीं ।।
हा तात कहा तुम कीनो,
मेरो न्याय निवेर न लीनो ।।
हा मात उदर तैं धारी,
मोकों नव मास मंझारी ।।
छिन में तुम छोड दई जू,
करुणा नहिं नैक भई जू ।।
हा भ्रात कहा तोहि सूझी,
मेरी बात कछु नहीं बूझी ।।

\+ + +

ऐसो रुदन कियो बहु ताने,
पशु पंछी सुन कुम्हलाने ।।
सिंहादिक पशु जो होई,
अति दृष्ट स्वभावी सोई ।।
ते भी अति रुदन करावें,
आंसू बहु नैन बहावें[१९]।।

इस स्थल पर कवि की भावुकता अनेक धाराओ मे फूट पडी है। यहां उसकी भावुकता गंभीर रूप लेकर उभरी है। नारी की वियोगावस्था को पहचानने मे उसने असाधारण कौशल का परिचय दिया है।

'नेमिनाथ मंगल' मे एक स्थल पर ऐसे प्रसग की उद्भावना हुई है जहा कृष्ण और नेमीश्वर का पावन हृदय भाई-भाई के प्रेम से भर उठा है। कृष्ण राज्य-सिंहासन पर बैठना नही चाहते और नेमिनाथ उन्हे उस पर बैठाने के लिए आतुर हो उठते हैं।[२०]—

अरी तब हरि कौ सीस उठायो हों।
अरी भाई कूं कंठ लगायो हो ।।
अरी गहि बाह सभा में ल्याए हों।
अरी तब सिंहासन बैठाये हों ।।

निष्कर्ष यह है कि कथा के गंभीर और मार्मिक

स्थलों की दृष्टि से उपर्युक्त प्रबन्ध काव्य बड़े महत्व के हैं। प्रबन्ध की अखण्डधारा के बीच इन स्थलों की योजना से ऐसी भाव सृष्टियां हो सकी हैं जिनका मनुष्य के अंतरंग से गहरा सम्बन्ध है।

१—डॉ० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र' : रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्ध काव्य पृ० २।
२—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६६
३—वही, पृष्ठ ७५
४—पार्श्व पुराण, पद्य ६० से ६६, पृ० १२ :
५—वही, पद्य १०८ से ११५, पृ० १४
६—वही, पद्य २२ से २६, पृ० १८
७—वही, पद्य ७६ से ८३, पृ० ३४-३५
८ वही, पद्य १८ से २३, पृ० १२३
९—नेमीश्वर रास, पद्य ८१७ से ८२१, पृ० ४८
१०—सीता चरित, पृ० ६
११—वही, पृ० २७
१२—सीता चरित, पृ० ७२
१३—कौतिग कारण पुरतिय निरखै, रूप कुमर लखि बिह्वल थाइ।
कोई रसोई घर सूनो तजि, कोई दौड़ी सिंगार छुड़ाइ ॥
कोई छोड़ निज सुत रोवती, लोभे पर सुत लेइ उठाइ ॥
ज्यों ज्यों रूप कुमर को देखै, हरखै तिय निरखै अधिकाइ ॥
१४—वही, पृष्ठ १०

श्रेणिक चरित, पृ० ३०

१५—जीवंधर चरित, पद्य ४७-४८, पृ० ४
१६—वही, पद्य १५ से १७, पृ० ३६
१७—नेमिचन्द्रिका, पृ० २०
१८—शील कथा, पृ० ३६
१९—वही, पृ० ३७-३८
२०—नेमिनाथ मंगल

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,

क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्

माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,

सदा ममात्मा विदधातु देव !

यः स्मर्य्यते सर्वमुनीन्द्र वृन्दैः,

यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।

यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।

वीरनन्दि द्वारा प्रस्तुत तत्वोपप्लववाद समीक्षा

"चार्वाक दर्शन के मूल रूपों में एक तत्वोपप्लववाद भी है। यह भूत चैतन्य वादी चार्वाक से भी आगे है। भूत चैतन्यवादी कम से कम भूत चतुष्टय का अस्तित्व स्वीकार करता है किन्तु तत्वोपप्लववादी तो किसी भी तत्व का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता।"

डा० नेमीचन्द शास्त्री
एम० ए० डी० लिट०, ज्योतिषाचार्य

वीरनन्दि द्वारा रचित चन्द्रप्रभ काव्य ग्रन्थ है, पर प्रसग वश इस काव्य में कई दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा भी की गयी है। यहां हम अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना न कर, केवल तत्वोपप्लववाद की समीक्षा पर ही विचार-विनिमय करेंगे।

चार्वाक दर्शन के विभिन्न रूपों में एक तत्त्वोपप्लववाद भी है। यह भूत चैतन्यवादी चार्वाक से भी नास्तिकता में आगे है। भूत चैतन्यवादी कम से कम भूतचतुष्टय का अस्तित्व स्वीकार करता है तथा उसकी सिद्धि के लिए एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी मानता है, किन्तु तत्त्वोपप्लववादी तो किसी भी तत्व का अस्तित्व स्वीकार नही करता। उसके मतमें समस्त प्रमेयतत्व और प्रत्यक्षादि प्रमाणतत्व उपप्लुत–बाधित हैं। अतः जीवादि तत्व मानना एवं आत्मशुद्धि के लिए पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। जो वस्तु प्रमाण सिद्ध है ही नहीं, उसकी साधना करना बालुका कणों में से तैल निकालने के समान निष्फल है।

तत्वोपप्लववादी[1] पूर्वपक्ष की स्थापना करता हुआ कहता है कि प्रमाण से सिद्ध होने वाला जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है। अतएव जीव के आश्रय से सिद्ध होने वाला अजीव पदार्थ भी कैसे मान्य हो सकता है। ये दोनों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। स्थूल और सूक्ष्म धर्मों के

समान एक दूसरे के प्राश्रित हैं। प्रतएव प्राश्रय के प्रभाव में प्राश्रयी और प्राश्रयी के न रहने से प्राश्रय की स्थिति सम्भव नही है। जब जीव नही है, तो जीव के कर्म बन्ध और मोक्षादि किस प्रकार घटित हो सकते हैं। यतः धर्म की स्थिति धर्मी मे ही होती है।

तार्किक दृष्टि में विचार करने पर जीवादि पदार्थों का न तो प्राकारिक (Formal) सत्य उपलब्ध होता है और न वास्तविक ही (Material) दृश्यमान जगत के पदार्थ न तो परमतम सत्य हैं, न व्यावहारिक सत्य और न लौकिक सत्य ही। विचार करते ही पदार्थों का स्वरूप उपप्लुत-बाधित होने लगता है और जब तत्त्व स्वरूप ही उपप्लुत है तो फिर अनुमानादि प्रमाणो का स्वरूप किस प्रकार स्थिर रह सकेगा ? वह तो विचार करते ही जीर्ण वस्त्र के समान खण्डित हो जाता है। जिस अनुमान या तर्क द्वारा प्रमेयो की सिद्धि की जाती है, वह अनुमान सशयास्पद अथवा मिथ्या होता है, अत-एव मिथ्या से सत्य को सिद्धि कभी भी सम्भव नही है। जब प्रत्यक्ष ज्ञान बाधित है, तब अप्रत्यक्ष या असाक्षात् ज्ञान के सत्य होने का दावा किसी प्रकार नहो किया जा सकता है।

तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक का उक्त कथन प्राधुनिक तर्क शास्त्र के 'पर्याप्त कारण नियम' (law of Surfficient reason) पर प्राधृत है। कोई भी सत्य या तथ्य पर्याप्त कारणो के बिना सिद्ध नही होता है। प्रमाण-प्रमेय के अस्तित्व की सिद्धि मे पर्याप्त कारणो का प्रभाव दिखलायी पडता है, अतः सभी तत्व उपप्लुत है।

अनेक मतावलम्बी[२] जीवको स्वीकार करते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद है। विपरीत धारणाओ के मध्य किसके विचार को यथार्थ समझा जाय। सांख्य जीवको त्रिकाल भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान में व्याप्त एव अविनाशी मानते हैं। मीमासक जीव को कर्त्तव्य शक्तिहीन, नैयायिक अज्ञानमय और बौद्ध जीवको विज्ञानमय मानते हैं। विभिन्न मतावलम्बियो की परस्पर मे व्याघातक मान्यताए ही जीव का प्रभाव सिद्ध करने मे सहायक है।

प्राधुनिक तर्क के मध्यवर्ती निषेध-नियम के (law of excluded middle) अनुसार दो व्याघातक पदो के बीच तीसरे पद के लिए कोई स्थान नही हो सकता। दो विरोधी तर्क एक साथ न तो सत्य हो सकते हैं और न असत्य हो। अतएव जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे किये गये विरोधी विचार जीव का प्रभाव बतलाते है।

यहा तत्वोपप्लववादी तत्त्ववादियों[३] से प्रश्न करता है कि जो तत्त्व-प्रमाण तत्त्व और प्रमेय तत्त्व आप मानते हैं, वे प्रमाण सिद्ध है अथवा बिना प्रमाण के। यदि प्रमाण सिद्ध हैं, तो वह प्रमाण भी किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध होगा। इस प्रकार प्रश्नान्तर होने से अनवस्था दोष आयगा, जिससे प्रमाण तत्त्व की सिद्धि सम्भव नही। यदि यह कहा जाय कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक है और द्वितीय प्रथम का तो यह कथन भी युक्ति सगत नही है, क्योंकि उस मान्यता मे अन्योन्याश्रय दोष प्राता है। यदि प्रमाण की प्रमाणता स्वय ही व्यवस्थित मानी जाय तो समस्त प्रमाणवादियो के यहा कोई विवाद उठने पर उसकी व्यवस्था प्रमाण द्वारा स्वीकार करने मे पूर्ववत् अन्योन्याश्रय दोष आयगा। यदि प्रमाण के बिना ही प्रमाणतत्त्व की सिद्धि मानी जाय तो तत्वोपप्लव की सिद्धि भी बिना प्रमाण के मान लेने मे क्या हानि है ?

तत्त्ववादी का यह तर्क भी समीचीन नही कि विचार के बाद प्रमाणादितत्त्व की व्यवस्था होती है और विचार जिस किसी तरह किये जाने पर उपालम्भ के योग्य नही है। अन्यथा किसी वचन

का प्रयोग ही नही हो सकेगा। इस प्रकार की विचार प्रक्रिया का सयोजन तत्त्वोपप्लव' मे भी सम्भव है।

प्रमाण का प्रामाण्य किस प्रकार स्थिर किया जाता है[४] —(१) निर्दोष कारण समुदाय के उत्पन्न होने से (२) बाधा रहित होने से (३) प्रवृत्ति सामर्थ्य से अथवा (४) अविसवादी होने से। प्रथम पक्ष असमीचीन है, क्योंकि कारणों की निर्दोषता किस प्रमाण से जानी जायगी। प्रत्यक्ष और अनुमानादि से निर्दोषता नही मानी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियां गुण और दोष दानो का आश्रय हैं, अतः इनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान मे दोषो की आशका की निवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि दोष-निवृत्ति के हेतु अन्य प्रमाण को कारण माना जायगा तो अनवस्था और चक्रक दोष का प्रसग आयेगा।

द्वितीय पक्ष भी असमीचीन है। यत' बाधको की उत्पत्ति के अभाव मे प्रमाणता मानने पर मिथ्या ज्ञान भी कुछ समय तक प्रमाण हो सकता है। क्योंकि कभी-कभी बहुत काल तक मिथ्या प्रतीति में भी बाधको की उत्पत्ति नहीं होती। अतः बाधक उत्पत्ति रहित होने मे प्रमाण का प्रामाण्य स्थिर नही माना जा सकता है। यदि सर्वदा के लिए बाधक का अभाव प्रामाण्य का कारण माना जाय, तो बाधक के अभाव का निश्चय किस प्रकार होगा ?

एक दूसरी बात यह भी है कि किसी एक की बाधा की उत्पत्ति का अभाव प्रमाणता का कारण है अथवा सभी की बाधा की उत्पत्ति का अभाव प्रमाणता का कारण है। प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर विपर्यय ज्ञान मे भी किसी-किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं होती। अतः वह भी प्रमाण हो जायगा। सभी की बाधा की उत्पत्ति का अभाव भी अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण नहीं है। क्योंकि किसी को बाधा की उत्पत्ति नही भी होती है। तथा सभी को बाधा की उत्पत्ति नहीं होगी, इसे अल्प ज्ञानी कैसे जान सकेगा ?

प्रवृत्ति-सामर्थ्य द्वारा भी प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय नही किया जा सकता। क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। हम पूछते हैं कि प्रवृत्ति-सामर्थ्य है क्या ? यदि फल के साथ सम्बन्ध होने का नाम प्रवृत्ति-सामार्थ्य है तो बतलाइए वह सम्बन्ध ज्ञात होकर ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय कराता है या अज्ञात रहकर। अज्ञात रहकर तो वह ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक नही हो सकता है ? अन्यथा कोई भी अज्ञान किसी का भी निश्चायक हो जायगा। यह सार्वजनीन सिद्धान्त है कि अज्ञात ज्ञापक नहीं होता। यदि ज्ञात होकर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चायक है तो यह विकल्प उत्पन्न होता है कि उसका ज्ञान उसी प्रमाण से होता है या अन्य प्रमाण से। प्रथम पक्ष असत् है, अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होने के कारण। द्वितीय विकल्प मानने पर चक्रक दोष आता है।

यदि सजातीय ज्ञान को उत्पन्न करने का नाम प्रवृत्ति-सामर्थ्य माना जाय तो यह कथन भी भ्रामक है। अतः सजातीय ज्ञान को प्रमाणता का निश्चय प्रथम ज्ञान से मानने पर अन्योन्याश्रय और अन्य प्रमाण से मानने पर अनवस्थादोष आता है। इस प्रकार प्रमाण का लक्षण उत्पन्न न होने से प्रमेय तत्त्व की सिद्धि का अभाव स्वत. हो जाता है। अत एव प्रमाण'प्रमेय सभी उपप्लुत—बा।धत हैं।

उत्तर पक्ष-समीक्षा

तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन सर्वथा निराधार है कि जीवसिद्धि किसी भी प्रमाण से सभव नही। आस्तिकवादी दार्शनिको ने जीव के नास्तित्व धर्म की सिद्धि के लिए जो अनुपलब्ध हेतु दिया है. वह नि.सार है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी मे जीव के होने का प्रमाण स्वसंवदेन रूप ज्ञान के द्वारा

सिद्ध होता है। मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ आदि अनुभव स्वसंवेदन गोचर हैं। अतः प्रत्येक प्राणी मे आत्म-तत्त्व की अनुभूति होती है।[६] अत एव सुख-दुःख राग-द्वेष आदि भावों से युक्त जीव पदार्थ प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्येक प्राणी स्वानुभूति से अपने अस्तित्व को जानता है।

दूसरी बात यह है कि धर्मी वह होता है, जो प्रमाण से सिद्ध है। तत्त्वोपप्लववादी ने जीव का अभाव सिद्ध करने के लिए जो यह अनुमान दिया है—'जीव कोई पदार्थ नही है, क्योकि उसकी उपलब्धि नहीं होती' यह अनुमान मिथ्या है, क्योंकि जीवनरूपी धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है।

जब जीव पदार्थ प्रमाण से सिद्ध है, तब उसका नास्तित्व सिद्ध करने के लिए व्यर्थ हेतु का प्रयोगकर अपनी हंसी कराना है। यह कहना ठीक नही है 'कि ज्ञान कलशादि के समान ज्ञेय होने से अपने स्वरूप को नही जानता, किन्तु अन्य पदार्थो को जानता है। अर्थात् जैसे कलश को अपना ज्ञान नही होता, पर औरो को उसका ज्ञान होता है, इसी तरह ज्ञान को स्वय अपने स्वरूप का निश्चय नहीं होता, पर उसके रूप का निश्चय दूसरा उत्तर कालीन ज्ञान करता है, यह विचार-सरणि मिथ्या है। ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है; यह इसका निजो धर्म दीपक के समान है। जिस प्रकार दीपक अपने को प्रकाशित करके ही अन्य विषयो को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने को जान कर ही अन्य विषयो या भावो को अवगत करता है। जो ज्ञान अपने को नही जानता, उसकी प्रवृत्ति अन्य विषयो में हो ही नही सकती, क्योकि, पूर्व-पूर्व के ज्ञेय रूप ज्ञान का निश्चय करने के लिए उत्तरोत्तर जो भी ज्ञान होंगे, वे भी ज्ञेय ही होगे। अतः जब वे ज्ञान-स्वरूप के निश्चय करने मे ही चरितार्थ हो जायेंगे तब उनकी प्रवृत्ति दूसरे विषय मे नही हो सकती।

दूसरा तर्क यह है कि यहां पर जो ज्ञान अज्ञात है, वह ज्ञान प्रथम ज्ञान का बोध कराने वाला नहीं हो सकता और यदि ऐसा नही मानते तो अनन्त अनवस्था दोष रूपी लता फैल कर समस्त आकाश को व्याप्त कर लेगी। इस कारण पदार्थ का ज्ञान अप्रत्यक्ष ठहरा और उसके अप्रत्यक्ष होने पर पदार्थ की भी वही स्थिति होगी। यदि अप्रत्यक्ष ज्ञान से भी विषय का निश्चय स्वीकार करते हैं तो दूसरे का जाना हुआ विषय भी अपने को विदित हो जायगा। इस प्रकार जीव अपने शरीर मे अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष सिद्ध है और अन्य के शरीर मे अनुमान से सिद्ध है। अत एव तत्त्वोपप्लववादी द्वारा निरसन किया गया जीव स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है[८]।

इस प्रकार तत्त्वोपप्लववादी ने जीव, तत्त्व के उपप्लव के लिए जो युक्तियां दी है तथा जिन व्याघातक कारणो का निरूपण किया है, उन सब का निरसन जीव तत्त्व की सिद्धि से हो जाता है। वस्तुत. तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक् प्रमेय तत्त्व मे जीव को और प्रमाण तत्त्व मे अनुमान को प्रमुखता देता है। वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभ चरित मे पूर्व पक्ष के पश्चात् उत्तर पक्ष मे जिन तर्कों को उपस्थित किया है, उन तर्कों मे जीव तत्त्व सिद्धि सम्बन्धी तर्क ही प्रमुख हैं। इस स्थल के अध्ययन से सामान्यत. भूत-वादी चार्वाक की युक्तिया ही प्रतीत होती हैं, पर संदर्भ के अन्त मे वीरनन्दी ने प्रमेय और प्रमाण तत्त्व की सिद्धि के लिए जिन युक्तियो का निरूपण किया है, उनका सम्बन्ध तत्त्वोपप्लववादी के साथ घटित होता है और पूर्व पक्ष मे उठाये गये समस्त विकल्पो का समाधान भी प्राप्त होता है।

हम यहा वीरनन्दी द्वारा प्रस्तुत जीव सिद्धि-सम्बन्धी युक्तियो को उपस्थित करने के अनन्तर तत्त्वोपप्लववादी के अन्य तर्कों का चन्द्रप्रभ की शैली मे ही आलोचन प्रस्तुत करेंगे। बताया गया

है कि गर्भ में आने से लेकर मरण पर्यन्त स्वानुभव द्वारा जीव का अस्तित्व माना भी जा सकता है[९]। पर गर्भ में आने के पूर्व और मरण के पश्चात् किस प्रमाण से जीव का अस्तित्व सिद्ध होगा[१०]। जीव के अभाव मे अजीवादि तत्त्व भी उपप्लुत हो जायेंगे। यह तर्क भी असमीचीन है। भौतिक जगत में प्रत्यक्षतः दृष्टि गोचर होने वाले वायु, अग्नि और जल-आदि जिस प्रकार अनादि अनन्त हैं, उसी प्रकार जीव भी अनादि अनन्त है। यह स्वयं सिद्ध है कि नित्य वस्तु का कोई कारण नहीं होता। नित्य की कारण हीनता किसी हेतु या प्रमाण के द्वारा असिद्ध नहीं की जा सकती है। क्योकि इस कारण हीनता को असिद्ध सिद्ध करने वाला कोई हेतु या प्रमाण नहीं है।

हम तत्त्वोपप्लववादी से यह जानना चाहेंगे कि जीवादि तत्त्वो का उपप्लव कैसे करते हो? प्रमाण के द्वारा या बिना प्रमाण के द्वारा। प्रमाण से तो उपप्लव हो नहीं सकता, क्योकि प्रमाण तो तत्त्वो का सद्भाव ही सिद्ध करता है। प्रमाण के अभाव मे किसी वस्तु का सद्भाव या असद्भाव माना नही जा सकता। अत एव वायु आदि तत्त्वो को जीवका कारण मानने वाला देहवादी चर्वाक् भी तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक् के समान असमीचीन है। यहाँ यह विकल्प होता है कि वायु आदि तत्त्व मिलकर जीव का कारण होते हैं या पृथक्-पृथक्? प्रथम पक्ष असमीचीन है, यतः तत्त्वाभाव मे जड़ तत्त्वों का अस्तित्व ही संभव नहीं। जब तत्त्वो का उपप्लव माना जाता है तो जड़ तत्त्वो का भी उपप्लव मानना ही पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जड तत्त्वो से चेतन जीव की उत्पति संभव नहीं। प्रसिद्ध है कि सजातीय से सजातीय की उत्पत्ति होती है, विजातीय की नहीं[११]। अन्यथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति और पृथ्वी से वायु की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि वायु आदि तत्त्वो को पृथक्-पृथक् जीवो की उत्पत्ति का कारण मानते हैं तो भूतों के समान जीवों की सख्या भी हो जायगी।

यदि यह माना जाय कि भूत तत्त्व भी उपप्लुत है, अतः चेतनजीव के उपादान कारण नहीं सहकारी कारण है।[१२] यह तर्क भी निराधार है। क्यो कि उपादान के अभाव में केवल सहकारी कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतएव तत्त्वोपप्लववादी का **"जीवो नास्ति, अनुपलब्धेः।"** यह कथन असमीचीन है। यतः उपलब्धि हेतु द्वारा स्वसवेदन ज्ञानरूप जीव की सिद्धि होती है। जो यह कहा गया था कि **"जीवाभावे अजीवः कथ वक्तुं युज्यते, जीवाजीवयोः सापेक्षत्वात्"**। यह कथन भी तत्त्वोपप्लववादी के लिए उचित नहीं। जो तत्त्वों का उपप्लव स्वीकार करता है, उसके यहां हेतु या अनुमान की चर्चा करना असंगत है।

आत्मा और पृथ्वी आदि तत्त्वो की एकता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। आत्मा चेतन है और भूतादि तत्त्व अचेतन हैं। दोनो पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होते हैं और दोनो के लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं।[१३]

अतएव तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक् ने जो जीव तत्त्व का अभाव सिद्ध किया था और व्याघातक तर्क सिद्धान्त के आधार पर अजीवादि तत्त्वो का अभाव प्रतिपादित किया था, वह सर्वथा असमीचीन है, क्योंकि स्वानुभव प्रत्यक्ष द्वारा जीवतत्त्व की सिद्धि की जा चुकी है। अब प्रश्न यह है कि जीव एक है या अनेक? इन विकल्पों के उत्तर मे तत्त्ववादी जैन अनेक जीवो का अस्तित्व स्वीकार करता है। सुख दु.खादि परिणाम जीव से सर्वथा भिन्न नही हैं, क्यों कि यदि ये पर्याय जीव से भिन्न होते, तो ये जीव के हैं-इस प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नही हो सकती थी। यदि यह माना जाय कि भेद रहते पर भी समवाय सम्बन्ध के निमित्त से उक्त कल्पना सम्भव हो सकती है तो यह भी ठीक नहीं। यतः नित्य उपकारी

नहीं होता और सब प्रकार के सम्बन्धों की स्थिति उपकार के आधार पर ही पायी जाती है। आचार्य वीर नन्दी ने उक्त विचार को निम्न प्रकार उपस्थित किया है—

> नित्यस्यानुपकारित्वात्समवायो न युज्यते,
> उपकाराश्रया सर्वा सम्बन्धानामवस्थितिः।
> उपकारोऽपि भिन्नत्वात्तस्येति कथमुच्यते,
> उपकारान्तरापेक्षा विदध्यानवस्थितिम्।[१४]

अतएव समवाय-सम्बन्ध की कल्पना भी अयुक्त है।

यदि नित्य को उपकारी माना जाय तो वह उपकार भिन्न है या अभिन्न? भिन्न विकल्प स्वीकार करने पर सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यदि किसी अन्य प्रकार की अपेक्षा करके सम्बन्ध स्थापित किया जाय तो अनन्त सम्बन्धों का जाल बिछ जाने से अनवस्था दोष आयेगा और कहीं भी व्यवस्था नहीं हो पायेगी। अतएव जीव को सुख-दु:खादि पर्यायों से सर्वथा न भिन्न माना जा सकता है न अभिन्न ही। पर्याय पर्यायी का व्यपदेश होने से कथंचित् भिन्नता है और पर्यायी में ही सुख-दु:खादि पर्यायों के रहने से कथञ्चित् अभिन्नता है।

वीरनन्दी ने तत्त्वोपप्लववाद का निरसन करते हुए जीवसिद्धि के प्रकरण में आत्मा को स्वदेह प्रमाण, कर्त्ता, भोक्ता, चैतन्य एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध माना है। इसी प्रसंग में उन्होंने कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भावों की सिद्धि की है। जो आत्मा को चित्-सन्तति मात्र मानते हैं, उनका भी समालोचन करते हुए चैतन्य ज्ञानदर्शन रूप जीव की सिद्धि की है। बताया गया है—

> तस्मादनादि निधनः स्थितो देह प्रमाणकः,
> कर्त्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धो जीव प्रमाणतः।[१५]

जीव के सिद्ध होने पर जीवतत्त्व की अपेक्षा रखने वाले अजीवादि तत्त्व भी प्रमाण सिद्ध हैं, क्योंकि इनके बिना बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। वीर नन्दी ने पूर्णतः जीव तत्त्व की सिद्धि के पश्चात् अजीव आदि तत्त्वों को सिद्ध करते हुए तत्त्वोपप्लव को मिथ्या या भ्रम बतलाया है। यथा—

> येऽप्यजीवादयो भावास्तदपेक्षा व्यवस्थिताः,
> तेऽपि संप्रति ससिद्धास्तन्न तत्त्वमुपप्लुतम्।[१६]

प्रमाण तत्त्व के निरसनार्थ जो युक्तियां दी गयी हैं, वे भी निःसार हैं, क्योंकि स्याद्वाददर्शन में ज्ञान की प्रमाणता न निर्दोष-कारण-समूह के उत्पन्न होने से, न बाधाओं के उत्पन्न होने के कारण है, न प्रवृत्ति-सामर्थ्य के द्वारा ही है और न अविसंवादित्व के कारण ही है, अतः इन चारों पक्षों में पूर्वोक्त दोष, जिनका निर्देश तत्त्वोपप्लववादी ने किया है, आते हैं, पर स्याद्वाद दर्शन में प्रामाण्य की व्यवस्था बाधकों की संभावना का सुनिश्चित अभाव होने से ही घटित होती है। समस्त देशों और समस्त कालों के पुरुषों की अपेक्षा अभ्यस्त दशा में उत्पन्न प्रमाण में बाधकों की संभावना का अभाव स्वयं ही प्रतीत होता है, जिस प्रकार प्रमाण का स्वरूप अपने में निश्चित प्रतीत होता है, उसी प्रकार अभ्यस्त विषय में प्रामाण्य में बाधकों की संभावना का अभाव भी निश्चित रूप से प्रतीत होने लगता है।

अनभ्यस्त दशा में उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रमाणता पर के द्वारा बाधकों की सम्भावना का निराकरण करने पर सुनिश्चित होती है। स्याद्वाद-दर्शन में वस्तु-व्यवस्था और प्रमाण-व्यवस्था अनेक दृष्टिकोणों द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से निरूपित है। अत एव अन्योन्याश्रय अनवस्था अति प्रसंग एवं चक्रक आदि दोष नहीं आते।

तत्त्वोपप्लववादी समस्त वस्तुओं के ज्ञापक प्रमाण-विशेषों का अभाव प्रत्यक्ष से करता है या

अनुमान से ? प्रथम पक्ष असमीचीन है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार न करने से अति प्रसग दोष आयेगा। जिसने प्रमाण तत्त्व स्वीकार ही नहीं किया, उसके यहा प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करना गगनारविन्द की गन्ध-चर्चा के समान निरर्थक है।

अनुमान से भी वह ज्ञापक प्रमाण-विशेषो का अभाव सिद्ध नही कर सकता, क्योकि तत्त्वोपप्लववादी के यहा अनुमान-प्रमाण का अस्तित्व है ही नही।

यदि स्वय असिद्ध प्रमाण द्वारा वस्तु की व्यवस्था मानो जाय तो समस्त प्रमाण सभी वादियो के अपने-अपने इष्ट तत्त्व के भी साधक हो जायेंगे। अत तत्त्वोपप्लव की सिद्धि किसी भी प्रकार सभव नहीं है। यह सर्वमान्य और अनुभूत सिद्धान्त है कि किसी भी प्रकार के ज्ञान को प्रमाणभूत मानकर ही प्रवृत्ति-निवृत्ति संभव होती है। जो समस्त प्रमाणो का उपप्लव स्वीकार करता है, उसके यहा उसका स्वय का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था मानना लोक-व्यवहार के निर्वाह की दृष्टि से भी आवश्यक है।

आचार्य वीरनन्दी ने अनुभव और युक्तियो से जीव तत्त्व की सिद्धि कर उससे सम्बद्ध अन्य अजोवादि तत्त्व एवं तत्त्वो के प्रतिपादक और साधक प्रमाणों की सिद्धि की है। तत्त्वोपप्लववादी चार्वाक ने जो पूर्व पक्ष उपस्थित किया था, उसकी सम्यक् आलोचना कर प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था प्रतिपादित की है।

१—केचिदित्थं यतः प्राहुर्नास्तिकागमाश्रिताः।
न जीवः कश्चिदन्योऽस्ति पदार्थो मानगोचरः॥
अजीवश्च कथ जीवापेक्षयास्त्यात्यये भवेत्।
अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माविव स्थितौ॥
कथञ्च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः।
सति धर्मिणि धर्मी हि भवन्ति न तदत्यये॥
तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु सवृत्तम्।
प्रसार्यमाण शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत्॥—चन्द्रप्रभचरितम् २/४४-४७

२—जीवमन्ये प्रपद्यापि तद्धर्मं प्रतिवादिनः।
विवदन्ते प्रबन्धेन विविधागमवासिताः॥—चन्द्रप्रभ चरितम् २/४८

३—परस्य सिध्द प्रमाण तदभावविषयमिति चेत् तत् परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणान्तरेणवा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिध्द नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मना वादि प्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात्।........अष्ट सहस्री, पृ० ३७

४—किमदुष्ट कारक सन्दोहोत्पाद्यत्वेन, आहोस्विद्बाधा रहितत्त्वेन, प्रवृत्ति सामर्थ्येन, अन्यथावा ?
—जयराशि—तत्त्वोपप्लवसिंह, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन १९४०, पृ० २

५—जीवो नास्तीति पक्षोऽयं प्रत्यक्षादि-निराकृतः,
तत्र हेतु मुपन्यस्यन् कुर्यात् कः स्वविडम्बनाम्।—चन्द्रप्रभचरितम् २/५४

६—प्रतिजन्तु यतो जीवःस्वसंवेदन गोचरः,
सुख दुःखादिपर्यायै राक्रान्तः प्रतिभासते ।—चन्द्रप्रभाचरितम् २/५५

७—नचास्वविदितं ज्ञानं वेद्यत्वात् कलशादिवत्,
स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टे र्दीपादेः स्वप्रकाशनात् ।
विषयान्तर संचारो न च स्यादस्ववेदिनः,
अपरापर बोधस्य वेदनीयस्य संभवात् ।
अनवस्था लता च स्यान्नभस्तत्र विसर्पिणी, यदेवाविदित तेषु तन्न पूर्वस्य वेदकम्,
तस्माद् विषय विज्ञान मप्रत्यक्षमवस्थितम्, तदप्रत्यक्षताया च विषयस्यापि सा गति ।
परोक्षादपि चेज्ज्ञानादर्थाधिगतिरिष्यते, परेण विदितोऽप्यर्थस्तथा स्वविदितोभवेत् ।
वही २/५५-५०

८—तस्मात्स्वसंवेदने सिद्धे प्रत्यक्षे सति युक्तितः, प्रत्यक्षबाधान भवेत् कथं नास्तित्ववादिनाम् ।
वही २/६१

९—चन्द्रप्रभचरितम् २/६२-६३

१०—वही २/६४

११—वही २/६६

१२—वही २/६८

१३—वही २/७३

१४—चन्द्रप्रभचरितम्, २/७७-७८

१५—वही , २/८८

१६—वही , २/८९

जग जीवन के पद

"......जगजीवन मनुष्य जीवन की सार्थकता आत्म स्वरूप में लय होजाने में ही मानते हैं। यदि मनुष्य जीवन में भी मन विषय और कषायों में लीन रहा, पत्नी, पुत्र और धन के मोह में फंसा रहा तथा मन, वचन और कर्म से अनीति और अभिमान में रत रहा तो जीवन निष्फल ही खोया।......"

डा० गंगा राम गर्ग
एम० ए० पी० एच० डी०, आर० ई० एस०
प्राध्यापक हिन्दी, रा० म० विद्यालय, टोंक

पद रचना मध्ययुगीन हिन्दी काव्य की प्रमुख शैली है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दादू आदि सभी निर्गुण और सगुण भक्तो ने पर्याप्त पद लिखे हैं। जैन कवियों में द्यानत राय, बुधजन, पार्श्वदास, भूधरदास, दौलतराम और भागचन्द का पद साहित्य विपुल मात्रा मे है। जगजीवन हिन्दी के उन जैन कवियो में से हैं जिनके पद तथा अन्य रचनाएं यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती हैं। अतः उनकी रचनाओ के सम्बन्ध में अभी निर्णयात्मक ढंग से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

डा० प्रेमसागर जैन ने आगरा निवासी जगजीवन का जीवन-परिचय देते हुए अजमेर, बडौत और जयपुर के शास्त्र भंडारो में उपलब्ध उनके अनेक पदो और एक छोटी सी रचना 'एकीभाव स्तोत्र' की चर्चा की है।[1] पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने इनकी एक और रचना चतुर्विंशतिका का भी परिचय दिया है।[2] चौधरियान मंदिर टोंक में उपलब्ध एक गुटके में हमें जगजीवन को एक अन्य रचना 'आत्म संबोधरासा' मिली है। पं० परमानन्दजी शास्त्री के अनुसार कवि की दो रचनाएं 'एकीभाव स्तोत्र' और 'चतुर्विंशतिका' हीर कवि के साथ मिलकर लिखी गई है[3]। किन्तु टोंक मे प्राप्त 'आत्म संबोधरासा' अकेले जगजीवन ही का है। इस में १६ छंद हैं। इस आध्यात्मिक रचना मे कवि ने संसार की

स्वार्थपरता, कष्ट आदि की चर्चा करते हुए आत्म-स्वरूप जानने को प्रेरित किया है। इस ग्रन्थ में सर्वत्र उद्बोधन के स्वर हैं।

तन धन लाज कुटंब के काजे,
इत उत नित भटकानां वे।
पूरब संचित करम सुभासुभ,
सुख दुख रूप निदानां वे।
कबहूं सेवक ह्वै करि धाया,
कबहूं राजा रानां वे।
भिक्षुक धनीय गृही वनवासी,
नाना विधि बहकाना वे।

चौधरियान मन्दिर, टोंक के गुटके में पृ. ११७-१२८ पर उपलब्ध जगजीवन के पदो में दो-चार पद ऐसे भी हैं जो उनकी अन्य रचनाओ की भाति हीर कवि के साथ लिखे गए प्रतीत होते हैं। विषय की दृष्टि से जगजीवन के पदो को तीन भागो मे बाटा जा सकता है-१. आध्यात्मिक। २. भक्ति परक। ३. नैतिक। अपने आध्यात्मिक पदों मे जगजीवन ने नानारूप दिखाने वाली पर परणति को छोडकर स्वपरणति को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

जियरे तू ध्रौघू ध्रौघू भाव,
जातै उपजै आतम भाव।
वस्तु स्वरूप अनादि निधन है,
निज गुण मंडित भाई।
सो ध्रुव पद सद्गुरुनि बताया,
अध्रुव परिणति गाई।
चेतन पुदगल दोइ दरव मैं,
प्रगटै भाव विभावा।
सहजरूप परणति मैं सेती,
नानाकार लपावा।

कवि की दृष्टि में आत्मानुभव का आनंद अमृत पान से अलग नहीं है।

जगतजन निज अनुभौ हित कीजै।
भव्य विपाक निकट जौ आयौ,
तौ अमृत रस पीजै।

जगजीवन मनुष्य जीवन की सार्थकता आत्म-स्वरूप मे लय हो जाने मे ही मानते है। यदि मनुष्य जीवन मे भी मन विषय और कषायो मे लवलीन रहा, पत्नी, पुत्र और धन के मोह मे फंसा रहा तथा मन, वच, कर्म से अनीति और अभिमान मे रत रहा, तो जीवन निष्फल ही खोया। बुद्धिमानी तभी है जब आत्मा की कलुषता को दूर कर उसको सहज स्वरूप प्रदान किया जाय।

मनुषभाव धरि धरि निरफल खोयोरे।
विषय कषाय मगनता मानी,
निज पर रूप न जोयो।
मे घर मे घरणी, सुत मे धन,
मे मे ममता मोयो।
इष्ट वियोग अनिष्ट समागम,
उदय भये दुख रोयो।
मन वच काय अनीति चलाई,
मद मदिरा रस मोयो।
जगजीवन तब ही कलवन्तौ,
जब अतरमल धोयो।

जगजीवन के भक्तिपरक पदो मे आराध्य का गुण-गान और आत्म-निन्दा की भावना का प्राधान्य है। उनके प्राप्त पदों मे से किसी भी पद मे तीर्थकर विशेष का नाम न होने से स्पष्ट है कि उनका भक्ति भाव किसी एक तीर्थकर के प्रति न होकर सभी के प्रति समान रूप से था। उनका आराध्य 'जिनेन्द्र' अखड, परमात्मा, सर्वज्ञ, अनत गुणों से युक्त, अनुपम, जगतपति और अभेद है। देवता उसका यश-गान करते हैं।

जिनवर जस कछु सुरपति गावै।

उपज्यौ हरषि निरषि जिन जगपति,
याही तै आतम हित प्रगटावै।
द्रव्य विचार अभेद अमूरत,
मूरत मो पै कहि कछु नावै।
पर्याय विधि सिधि रूप अनुपम,
त्रिभुवन जनम न नयन सुहावै।
'जगजीवन' चिरजीव जिनेसुर,
परमातम पद सब जग भावै।

जगजीवन को पुनर्पुनः जन्म लेते और मरते रहने के कारण स्वयं पर बडा क्षोभ है। मोह अभिमान और ममता मे लिप्त अपने मन की भी उन्होने बडी निन्दा की है।

जीवना बहुत करि भाना।
मोह मगन सब जग भरमाना।
देखें जनम मरन बहु जनको।
तौ बन होइ विरागी तनको।
अहनिसि मेरी मेरी करतौ,
डोलें मूढ करम मरमिटतौ।
अब हम याके मरम पिछानौ,
आपहि भूल आप लटकानौ।
जो इहु जगजीवन निज जानै,
तौ अविचल सिव सुख मानै।

जगजीवन के नीतिपरक पद्यो का प्रतिपाद्य ससार की स्वार्थपरता, असारता एवं सप्तव्यसनों को निन्दा अधिक है। संसार की असारता के सम्बन्ध मे उन्होंने परम्परागत विचार ही प्रकट किए हैं।

सब जग दीखत जैसा सपना।
दरसन मोह गये जब जागा।
कोऊ रूप न अपना।
पुत्र कलित्र मित्र तन संपति,
इह सब झूठी थपना।

कवि ने जुआ, मांस, मदिरा, शिकार, चोरी, परतियगमन की निन्दा इसके सेवन से नष्ट होने वाले पाण्डव, चारुदत्त, ब्रह्मदत्त, रावण आदि का उदाहरण देकर की है।

जगजीवन के पद भैरव, बिलावल, गान्धार, आसावरी, धनाश्री, मल्हार, नट, गौरी, काफी, कान्हडो, अडाणो, केदारौ, विहाग और परज रागो मे मिलते हैं। पावस और होली के सागरूपक सुन्दर बन पड़े हैं। साग रूपक के अतिरिक्त अन्य अलकार भी उनकी रचनाओ मे दृष्टिगोचर होते है।

रूपक

पर को दुख करि हरख बढ़ायो,
अपनो दुख द्रुम बोयो।

उपमा

सब दीसत जैसा सपना।

अनुप्रास

जगतजीवन जीव सहाय त्रिभुवन ईस।
कर्मकुठारि केवल कलधारी।

श्लेष

या तै जगजीवनि महि होउ।
नित नित आतम अनुभवति मोहु।

उदाहरण

जो उपजै सो विनसै, पर जै जगत रीति है सारे।
ज्यों तड़िता परकास छिनक है, त्यो षट् दरव विचारै

जगजीवन जहा जैन दर्शन के तत्ववेत्ता थे, वहां वे कुशल कवि भी थे। चिन्तन और काव्य कला पर उनका समान अधिकार था।

---

१ हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २१२ पृ० १७
२. अनेकान्त, वर्ष २० कि. ४ पृ. ११७
३. वही वही वही

भजन

राग-पैरवा

श्री महावीर भगवान की, सब मिलकर जय जय बोलो,
ध्यान लगाओ वीर प्रभू का, करो गान गुण महा ऋषी का।
वह है ईश्वर सुखी दुखी का, उस महान गुण खान की,
महिमा गा के अघ धोलो ।। १ ।।
जब दुनिया में पाप समाया, वीर प्रभु झट पट यहा आया,
विश्व प्रेम का पाठ पढाया, रीति बता कल्याण की।
बोले—अब नैना खोलो ।। २ ।।
ऊँच नीच का भेद मिटाया, देव मनुज पशु सभी बुलाया,
वीर प्रभु ने यह सिखलाया, जीवात्मा महान् की।
है अनन्त शक्ति तुम तोलो ।। ३ ।।
पंच पाप हिरदै से छोडो, विषय कषायों से मुख मोडो,
सबकी सेवा में मन जोडो, यह शिक्षा भगवान् की।
निज आतम में तुम घोलो ।। ४ ।।
आज बनी दुर्दशा हमारी, पाप करम करते हम भारी,
गई एकता मन से सारी, करे मरम्मत मान की।
घुण्डी दिल की अब खोलो ।। ५ ।।
गई गई अब कहना मानो, वीर की शिक्षा हिरदै ठानो,
समय गये पर बहु पछतानो, "नानू" उस शक्ति महान की।
फिर सब मिल जय जय बोलो ।। ६ ।।

जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय और उसके प्रमुख आचार्य

वर्तमान में जैन धर्म को मानने वाले दो ही सम्प्रदायों में विभक्त पाये जाते हैं-१. दिगम्बर और २. श्वेताम्बर। इतिहास से यह प्रमाणित हो चुका है कि इनके अतिरिक्त यापनीय नाम से एक और सम्प्रदाय का अस्तित्व विक्रम की १६वीं शताब्दी तक था जो वर्तमान के दोनों ही सम्प्रदायों की बहुत सी बातों को स्वीकारता था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी क्यों नाम शेष हो गये यह आज तक भी खोज का विषय है। आवश्यक नहीं कि लेख की प्रत्येक बात से सम्पादक सहमत हो। —सम्पादक

डा० नाथूलाल पाठक
(राजकीय महाविद्यालय, कोटा)

अन्य धर्मों की भाति जैन धर्म भी अनेक शाखाओं एवं उपशाखाओं में विभक्त है। इसके कई सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय इस समय जीवित नहीं हैं। उनका उल्लेख या तो अन्य सम्प्रदायो के ग्रन्थो में मिलता है अथवा उन्ही के साहित्य द्वारा उनका परिचय प्राप्त होता है। जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों से ही प्रायः लोगों का परिचय है। यापनीय, जैन धर्म का एक तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे बन चुके थे। दोनों सम्प्रदायों की भाँति यापनीय सम्प्रदाय का अस्तित्व भी अति प्राचीन है। इस सम्प्रदाय को 'आपुलीय' या 'गोप्य'' संघ के नाम से भी पुकारते थे। इस धर्म संघ के जैन साधुओ की प्राचीन समय में बडी प्रतिष्ठा थी। प्राचीन लेख माला[1] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कदम्ब, राष्ट्रकूट तथा अन्यान्य राजवंशों ने पुष्कल दान देकर इसके साधुओं को सम्मानित किया था। इस सम्प्रदाय की परम्परा सोलहवीं शताब्दी तक प्राप्त होती है। इसके पश्चात् किसी ग्रन्थ मे इसके प्रचार-प्रसार का उल्लेख नहीं मिलता।

यापनीय सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदाय के अधिक निकट है। इसका कारण यह है कि दोनों संघो की कुछ मौलिक बातें एक जैसी हैं। उदाहरण

के लिए इस संघ की प्रतिमायें भी दिगम्बर संघ की भांति निर्वस्त्र होती थीं। इसके साथ ही साथ उनका साहित्य भी दिगम्बरियो के साहित्य जैसा था। यापनीय संघ के मुनिजन भी शरीर पर कोई वस्त्र धारण नहीं करते थे। दिगम्बर मुनियों की भांति मोरका और पिच्छि अवश्य धारण करते थे। यापनीय संघ के मुनि लोग भी करतल भोजी होते थे, वे निर्वस्त्र प्रतिमाओं का पूजन करते थे तथा उनकी आचार सम्बन्धी बातें भी दिगम्बर सम्प्रदाय से साम्य रखती हैं। इनका विस्तृत उल्लेख जैन हितैषी[२] मे मिलता है।

'जैन साहित्य और इतिहास' में यापनीय सम्प्रदाय का विस्तृत विवरण मिलता है। इसके साहित्य को जैन धर्म के दोनो ही प्रमुख सम्प्रदायो के विद्वानों ने आदर की दृष्टि से देखा है। इस सम्प्रदाय के विलुप्त हो जाने पर इसका सारा साहित्य श्वेताम्बरीय ग्रन्थ भंडारो मे चला गया है।

इस सम्प्रदाय मे अनेक आचार्य हुए हैं। उनमें प्रमुख आचार्य उमास्वाति, शिवाचार्य, शाकटायन, स्वयंभु, त्रिभुवन स्वयंभु और वादिराज हैं।

उमास्वाति—आचार्य उमास्वाति इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हुए है। उनका स्थितिकाल विक्रम की चौथी शताब्दी माना जाता है। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वे मुण्डपाद के प्रशिष्य और वाचकाचार्य के शिष्य थे। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम वात्सी था। न्यग्रोधिका मे उनका जन्म हुआ था और उन्होने कुसुमपुर में भी कुछ दिन निवास किया था।

आचार्य उमास्वाति विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। बौद्ध साहित्य मे जो स्थान आचार्य वसुबंधु का है, वही स्थान जैन साहित्य के इतिहास में आचार्य उमास्वाति का है। वसुबंधु ने बौद्ध त्रिपिटको और अन्य पालि ग्रन्थो मे विशीर्ण बौद्ध तत्त्व ज्ञान को समेटकर जिस प्रकार अपने 'अभिधर्म कोश' मे वैज्ञानिक ढग से व्यवस्थित कर स्वय ही उस पर भाष्य लिखा है, ठीक उसी प्रकार आचार्य उमास्वाति ने अर्धमागधी प्राकृत के आगम ग्रन्थो मे अस्त-व्यस्त जैन तत्त्व ज्ञान को अपने 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ मे सजोकर एक स्वरूप प्रदान किया और उस पर स्वयं ही भाष्य की योजना भी की। आचार्य उमास्वाति पहिले विद्वान हुए हैं, जिन्होने जैन तत्त्व ज्ञान को योग, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन पद्धतियो के अनुरूप वैज्ञानिक ढग से व्यवस्थित किया है।

यह आचार्य भी बौद्धाचार्य वसुबन्धु के समान क्रांतदर्शी थे। वसुबन्धु ने सर्वप्रथम संस्कृत भाषा को अपने ग्रन्थो का माध्यम बनाकर बौद्धाचार्यों की संस्कृत-विरोधी भावनाओं को दूर किया। इसी प्रकार की स्थिति आचार्य उमास्वाति से पूर्व जैन साहित्य के क्षेत्र मे विद्यमान थी। उनसे पूर्व संपूर्ण जैन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत मे था। उमास्वाति को ही सर्वप्रथम यह आभास हुआ कि संस्कृत अतरदेशीय विद्वत्समाज की भाषा का रूप प्राप्त कर चुकी है और किसी भी भारतीय धर्म का साहित्य तभी विकास और प्रकाश को प्राप्त हो सकता है, जबकि उसको रचना का माध्यम संस्कृत हो। उमास्वाति का यह संस्कृतानुराग संभवतः ब्राह्मण होने के नाते भी रहा हो, किन्तु शोध के द्वारा पता चलता है कि जैन-दर्शन मे संस्कृत भाषा का प्रथम विधान उन्ही के द्वारा सम्पन्न हुआ।

उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' उन्ही के द्वारा रचित भाष्य द्वारा सवलित है। जैन साहित्य के क्षेत्र मे यह ग्रन्थ इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनो सम्प्रदायो के विद्वानो ने इस पर एक साथ टीकाए प्रस्तुत की है।

शिवाचार्य—यापनीय संघ के द्वितीय प्रसिद्ध आचार्य शिवाचार्य हुए हैं, जिनकी काव्य कृति 'आराधना' उल्लेखनीय है। यह कृति शौरसेनी प्राकृत मे है और उसमें २०१७ गाथायें हैं। इस गाथाकृति का एक विशेषण 'भगवती' भी है। शिवाचार्य ने इस ग्रन्थ की पुष्पिका मे सकेत किया है कि पूर्वाचार्यों की रचना के आधार पर उन्होने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

इनका स्थितिकाल विक्रम की पाचवीं या छठी शताब्दी माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध कथा कृति 'आराधना' पर सातवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक प्राकृत और संस्कृत में अनेक टीकाए लिखी गई है। इस समय भी इस पर नौ टीकाए उपलब्ध बतलाई गई हैं। इस प्रकार वे अवश्य ही आचार्य शाकटायन (९०० वि०) से पूर्व हुए हैं।

शाकटायन— जैन शिलालेखो [3] मे जैन शाकटायन का वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति मिलता है। नदी सूत्र की टीका मे वे यापनीय यतियो मे अग्रगण्य माने गये हैं। इनसे पूर्व इस सम्प्रदाय के श्रीकीर्ति, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति, इन्दु आदि अनेक आचार्य हो चुके थे। अभयचंद कृत 'शाकटायन प्रक्रिया संग्रह' के सम्पादक श्री गुस्तव आपर्ट ने उसकी भूमिका मे पाणिनी के पूर्ववर्ती, यास्काचार्य द्वारा निरुक्त मे सकेतित वैयाकरण शाकटायन और जैन शाकटायन पाल्यकीर्ति को एक ही व्यक्ति बता दिया था, किन्तु इस सम्बन्ध में डा. श्री पादकृष्ण बेलवल कर[4] तथा अन्य विद्वानो[5] ने स्पष्टीकरण कर दिया है कि दोनों सर्वथा भिन्न थे। इनका स्थितिकाल विद्वानो ने ७७१-८२४ वि० के बीच माना है। इनकी तीन कृतिया-शब्दानुशासन अमोघ वृत्ति और सिद्धमुक्तिकेवलि मुक्ति प्रकरण उपलब्ध है। इनके शब्दानुशासन पर इस समय तक सात टीकाएं लिखी जा चुकी हैं।

स्वयंभु—अपभ्रंश मे लिखित जैन साहित्य के पहिले कवि एवं आचार्य स्वयंभु है। कुछ दिन पूर्व चतुर्मुख और स्वयभु को एक ही व्यक्ति माना गया था, किन्तु इस भ्रम का निवारण हो चुका है। चतुर्मुख स्वयंभु के पूर्ववर्ती विद्वान थे, जिनका उल्लेख स्वयं स्वयंभु द्वारा हुआ है। चतुर्मुख की कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

महापुराण मे उल्लेख आया है कि स्वयभु यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे छन्द चूडामणि विजय शेषित और कविराज की उपाधियो से विभूषित थे। इन उपाधियो से ज्ञात होता है कि वे एक काव्यकार होने के साथ ही साथ छन्द शास्त्री और वैयाकरण भी थे। उनके पिता मारुत देव थे। उनके दो ग्रन्थ 'पउम चरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' प्रसिद्ध हैं। प्रथम को उन्होने धनजय और द्वितीय को उन्होने धवलइया के आश्रय मे रह कर लिखा है, ऐसी प्रसिद्धि है।

त्रिभुवन स्वयंभु— ये आचार्य स्वयंभु के पुत्र थे। नाम करण की शैली से प्रतीत होता है कि दोनों ही पिता और पुत्र दाक्षिणात्य थे। त्रिभुवन स्वयभु वैयाकरण थे और जैनागमों के अच्छे ज्ञाता थे। पउम चरिउ मे इनकी स्तुति में कहा गया है कि ये अपने पिता के काव्य और कुल का उद्धार करने वाले सुयोग्य पुत्र थे। इनका स्थितिकाल विक्रम की आठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध (७३४) से नवी शती के पूर्वार्द्ध (८४०) के बीच का माना जाता है।

'पउम चरिउ' (पद्म चरित) और 'रिट्ठनेमिचरिउ' (अरिष्ट नेमिचरित) ये दोनो ग्रन्थ इन पिता पुत्रो की सयुक्त कृतिया हैं। एक तीसरी कृति 'पंचमि चरिउ' (पचमी चरित) भी इनके द्वारा रचित बताई जाती है, जो उपलब्ध नही है। 'स्वयभु छन्द' की भी एक प्रति प्राप्त हुई है जो अपूर्ण है। इन्होने एक व्याकरण ग्रन्थ भी रचा था, वह भी सम्प्रति उपलब्ध नही है।

वादिराज—वादिराज पदवी से विभूषित इन आचार्य का नाम विदित नहीं है। मल्लिषेण प्रशस्ति में ये महान् तार्किक, शास्त्रार्थ के विजेता और कवि के रूप में स्मरण किये गये हैं। वैयाकरण समुदाय और तार्किक विद्वान् उन्हें अपना अग्रणी मानते हैं। उन्हें धर्म कीर्ति, बृहस्पति, गौतम आदि की उपमा दी गई है।

वादिराज, श्रीपालदेव के प्रशिष्य थे और मतिसार के शिष्य थे। शाकटायन व्याकरण की टीका 'रूपसिद्धि' के कर्ता दयापाल मुनि के ये सतीर्थ्य माने गये हैं। ये चालुक्य नरेश सिंहचक्रेश्वर जयसिंह देव (श० सं० ६३८-६४५) की राजसभा में विद्यमान थे और उनके द्वारा सम्मानित हुए थे। अतः इनका स्थितिकाल दसवीं शक शताब्दी माना गया है।

इनकी पांच कृतियां उपलब्ध हैं-१. पार्श्वनाथ चरित, २. यशोधर चरित, ३. एकीभाव स्तोत्र, ४. न्यायविनिश्चय विवरण तथा ५ प्रमाण निर्णय इन कृतियों के अतिरिक्त त्रैलोक्यदीपिका और अध्यात्माष्टक रचनाओं के कृतित्व का श्रेय भी इन्हें ही दिया जाता है।

१— भाग १ पृ० ६८-७२

२—भाग १३ अंक ५-६

३— जैन शिला लेख संग्रह भाग २ पृ० ४००

४— सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर

५— द्रष्टव्य जैन साहित्य का इतिहास

६ — द्रष्टव्य पउम चरिउ, संधि १ कड़वक २

भ० महावीर के जीवन से ग्रथित एक अप्रकाशित ग्रन्थ का परिचय रयधु-विरचित महावीर चरित

जिन कवियों ने अपने अथक परिश्रम से अपभ्रंश भाषा के साहित्य भण्डार को भरा है उनमें महाकवि रयधू का स्थान शीर्षस्थ कवियों के साथ है। वे विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान हैं। खेद है उनकी बहुत सी रचनाएं आज तक भी अप्रकाशित हैं। महावीर चरित भी उनमें से एक है। विद्वान लेखक ने कवि की इस रचना के कुछ स्थानों से भाषार्थ सहित पाठकों का परिचय कराया है। काश इस से प्रेरणा ग्रहण कर कोई श्रीमान कवि की रचनाओं को वर्तमान हिन्दी भाषा में उसके अर्थ सहित प्रकाशित कराने के प्रेरणा ग्रहण कर सके ! मां जिनवाणी की सच्ची भक्ति का तो केवल एक यह ही मार्ग है। —सम्पादक

पं० हीरालाल
सिद्धान्त शास्त्री, ब्यावर

रयधू कवि ने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थो की रचना की है। उनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी है। यद्यपि अपने से पूर्व रचे गये महावीर चरितो के आधार पर ही उन्होने अपने इस चरित की रचना की है, तथापि उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का उनकी रचना मे स्थान स्थान पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहा पर उनके चरित के कुछ विशिष्ट स्थलो के उद्धरण दिये जाते हैं।

(१) भ० ऋषभदेव के द्वारा अपने अन्तिम तीर्थंकर होने की बात सुनकर मरीचि विचारता है—

घत्ता—णिसुणेवि जिण वुत्तउ मुणिवि णिरुत्तउ, सतुट्ठउ मरीइ समणी।
जिण-भणिओ ण वियलइ, कहमवि ण चलइ,
हं होसमि तित्थयरु जणी ॥१५॥

जहिं ठाणहु वियलइ कणयामलु, जइ जोइस गणु छंडइ णहयलु।
जइ सत्तच्चिसिहा हुइ सीयल, जइ पण्णय हवति गय विस-मल ॥
एयहं कहमवि पुणु चल चित्तउ, ण उ अण्णारिसु जिणह पउत्तउ।
किं कारणि इंदियगणु सोसमि, किं कारणि उववासें सोसमि ॥
किं कारणि उड्ढवुड्ढउ अच्छमि, किं कारणि ज्जयत्तू उण पेच्छमि।

वेदना, संज्ञान संस्कार और विज्ञान रूप पांच अनुभवो या स्कन्धों से भिन्न आत्मा कोई नित्य पदार्थ नही है।

३-सांख्य आत्मा को पुरुष कहता है। पुरुष चेतन, अतः विवेकशील और ज्ञान का विषयी, अतीन्द्रिय, त्रि गुणातीत प्रकृति का उपयोक्ता, उपभोक्ता ज्ञाता और अधिष्ठाता, मुक्ति के लिए अभिलाषी और उसकी प्राप्ति मे तत्पर है। बद्ध पुरुष अज्ञान से युक्त और उपाधिग्रस्त हो जाता है। अपने मूलरूप तथा मुक्तावस्था मे आत्मा शुद्ध, चैतन्यमात्र, निष्क्रिय, नित्य, सर्वज्ञ और सदा मुक्त है। पुरुष सख्या मे अनेक हैं। ये पुरुष या जीव प्रलयावस्था मे निश्चेष्ट रहते हैं। प्रकृति के सम्पर्क से पुरुष शरीर प्राप्त करता है और कर्म कर जन्म-मरण को प्राप्त करता है। इन कर्मों के कारण ही सृष्टि का विकास होता है। प्रकृतिजन्य सूक्ष्म शरीर ही पाप-पुण्य का धारक है और आत्मा को व्यक्तित्व आदि गुण देता है। ये पाप और पुण्य कर्म आत्मा को जन्मचक्र-मृत्यु मे जन्म, जन्म से मृत्यु मे बान्धे हुए है। मृत्यु होने पर यह विभिन्न योनियो मे जन्म लेता है। मुक्ति मे आत्मा अचेतनावस्था मे रहता है। यह आत्मा न किसी का कार्य है न किसी का कारण।

४-योगदर्शन सांख्य के आत्मा या पुरुष के स्वरूप को यथावत मानते हुए एक पुरुष विशेष या ईश्वर की भी उद्भावना करता है। यह पुरुष-विशेष सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा, अविद्या (=मिथ्याज्ञान), अस्मिता (=अहकार), राग, द्वेष, अभिनिवेश (=मृत्यु का भय) नामक पांच क्लेशो, कर्म और उनके फल (=विपाक) और वासना सस्कार (=आशय से रहित सर्वज्ञ, काल के भागो से मुक्त और प्राचीनो का भी गुरु है। यह न सृष्टि का निर्माता है और न नियन्ता। इसका वाचक प्रणव या 'ओइम्' है।

५-न्याय और वैशेषिक मे आत्मा इच्छा, द्वेप प्रयत्न, सुख और दुःख के लिंगो वाला एक पदार्थ मात्र है। इस में ज्ञान, भाव और कर्म का आश्रय है। पीछे के न्याय मे यह केवल ज्ञान का ही आधार है। आत्मा इन्द्रिय आदि से भिन्न होते हुए भी उनका ज्ञाता, अधिष्ठाता और कर्म प्रेरक है। चैतन्य इसका आगन्तुक गुण है, जो मोक्षावस्था मे समाप्त हो जाता है। आत्मा के ज्ञान और भोग का आधार शरीर है। साख्य के समान यहा भी जीवात्माएं असख्य हैं।

६-योग दर्शन का ईश्वर जीवात्मा का ही परिष्कृत, विकसित और ऊर्ध्वीकृत रूप था। न्याय और वैशेषिक इस ईश्वर को और अधिक विकसित, शक्तिमान् और महत्त्वशाली बनाते है। यहा ईश्वर नित्य, सत्य, परमआत्मा, सर्वोपरिसत्ता, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा और नियन्ता, सर्वज्ञ, सब कुछ का द्रष्टा है। यह जगत् का निमित्त कारण पालक और विनाशक है। यह ही अपने अनन्त ज्ञान और शक्ति से जीवो के कर्मफल आदि के अनुसार जन्म-जन्मान्तरो की व्यवस्था करता है। यह परम गुरु समस्त ज्ञान और कलाओं का आदिम आचार्य है। इसका ज्ञान अनन्त है।

७-यद्यपि आपदेव आदि ने यज्ञपति, मोक्षदायक श्रुतिसिद्ध ईश्वर की अवतारणा की है तथापि पूर्व-मीमासा ने ईश्वर को कोई महत्त्व नही दिया है। वह जीव या आत्मा के ही स्वरूप और अस्तित्व पर बल देती है। यहा जीव का स्वरूप बहुत कुछ न्याय वैशेषिक के समान है। जीव और जगत् दो ही चरम सत्ताए है। जीवमूलत. चैतन्य-रहित है। चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। जो मुक्तावस्था मे विलीन हो जाता है। आत्मा नित्य, अमर, कर्त्ता और भोक्ता है। अपने कर्मफल के अनुसार जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहता है। जीवो की सख्या अनन्त है। एक शरीर मे एक ही आत्मा रहती है, परन्तु शरीर और आत्मा का सम्बन्ध नित्य और अनिवार्य नहीं है। सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष आदि गुणो का आत्मा से समवाय सम्बन्ध है,

तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। कुमारिल के मत में आत्मा ज्ञान का कर्त्ता भी है और कर्म भी।

–शाकर अद्वैत वेदान्त मे जीव की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है। ऊपर के दर्शनो मे तो जीव मूलभूत आत्मा है। ईश्वर या ब्रह्म उसी का परम शक्ति आदि से सम्पन्न विकसित रूप है, परन्तु वेदान्त मे निर्गुण और निर्विशेष एक ब्रह्म ही परम सत्य है। वह ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप है। जीव इसी ब्रह्म का स्वरूप है और इसी का अंश है। मूलत: तो यह जीव भी अपने स्रोत के समान चैतन्य और निर्विशेष है। व्यवहार काल मे वह ज्ञान का विषयी और नाना हो जाता है। पारमार्थिक अवस्था मे जीव या आत्मा या ब्रह्म अनन्त और असीम चैतन्य और आनन्द वाला है। वह शाश्वत सत्ता और अनन्तज्ञान है। ये अनन्तज्ञान और आनन्द जीव के सारमात्र हैं, गुण या धर्म नहीं हैं। अविद्या के कारण व्यवहार-काल मे ही जीव का पृथक अस्तित्व और परिच्छेद सत्य मालूम पड़ता है। इस अवस्था मे वह अन्त:-करण नामक उपाधि के वशीभूत हो जाता है तथा कर्त्ता, कर्मफल भोक्ता और बन्धनग्रस्त हो जाता है।

९–रामानुजी विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मत मे जीव और ब्रह्म दो अलग-अलग चरम सत्य सत्ताएं हैं। दोनो के गुण आदि मे भेद है। जीव ज्ञान को प्राप्त करने वाला ज्ञाता है। चैतन्य जीव का अविभाज्य गुण है, जो सीमित या परिच्छिन्न है। जीव अणु, वास्तविक सत्ता वाला, ईश्वर का एक अंश, परन्तु ईश्वर मे नित्य भिन्न, ईश्वर के अधीन अपृथक् और अस्वतन्त्र सत्ता है। ईश्वर की प्रेरणा से ही यह कर्मों को करता है। ईश्वर या ब्रह्म का चैतन्य असीम है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य किसी भी अवस्था और काल मे सम्भव नहीं। ईश्वर के अनुग्रह से ही जीव, अहकार, भोक्तृत्व और कर्तृत्व आदि बन्धनो से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

१०–हिन्दु तन्त्रों ने ईश्वर या ब्रह्म की विभिन्न नामों मे अवतारणा की है। जीव को इस ईश्वर का अंश माना है। यहां ईश्वर से जीव का सम्बन्ध अनेकविध बताया गया है। इस वर्णन मे वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं से कोई मौलिक और महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है[1]। आनन्दमार्ग पर भी वेदान्त और तन्त्रो का प्रभाव है। यहा जीव या आत्मा का नाम अणुचैतन्य है। ये अमरूप हैं। इनका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर नहीं है –निरपेक्ष है। आत्मा मे चैतन्य और चैतन्य का गुण –ये दो सत्ताएं रहती हैं। प्रकृति के प्रभाव से ही आत्मा भिन्न-भिन्न कार्य करने वाला रूप धारण करती है। प्रकृति और आत्मा का साहचर्य या सम्पर्क अविभाज्य है। प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के बन्धन से अणुचैतन्य मे अस्तित्व, बुद्धितत्त्व, अहतत्त्वका बोध होता है। अणुचैतन्य ही अपने को अहतत्त्व के कर्म के फल के रूप-चित्त मे विकसित करता है। अणुचैतन्यो का ही सामूहिक नाम परमात्मा या पुरुष या भूमा चैतन्य या भगवान् है। यह पुरुष अव्यक्त और अवस्तु सत्ता है। पुरुष और प्रकृति का सामवायिक नाम ही ब्रह्म है। यह सर्वनिरपेक्ष शाश्वत अनादि और अनन्त सत्ता है। अणुचैतन्य मे गुण या धर्म सीमित है, परम पुरुष मे असीम। प्रकृति के गुण बन्धन से ब्रह्म का कुछ अंश सगुण हो जाता है, शेष निर्गुण रहता है। इस निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। ब्रह्म ने अपने को अनन्त अणुचैतन्यो के रूप मे प्रतिफलित किया है। जब तक ये सब आत्माएं मुक्त नहीं हो जाती, सृष्टि चलती रहेगी[2]।

११–ब्रह्माकुमारी सम्प्रदाय मे जीव का स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट नहीं हो पाया है। ये जीव को परमात्मा –शिव का अंश मानते मालूम पड़ते हैं। सत्य-युग मे आत्माए निष्पाप और निष्काम थी, परन्तु अब कलियुग मे वे तामस, दुखी, अशान्त, अपवित्र आसुरी, धर्म और कर्म से भ्रष्ट, योगभ्रष्ट

और हिंसक हो गई हैं। मन, बुद्धि और चित्त भी अभौतिक हैं और आत्मा से अलग नहो हैं। मनुष्यो और पशुओं की आत्माएं पृथक-पृथक हैं। परमात्मा की शरण में जाने-सब कुछ उन्हे समर्पण कर देने और तीनों कालों के इतिहास और भूगोल के सक्षिप्त ज्ञान से ही आत्मा कल्प के अन्त मे मुक्त हो जाती है। परमात्मा पौराणिक ईश्वर के समान रक्षक और तारक है[२]।

१२ पारसी, ईसाई और मुस्लिम दर्शनो में ईश्वर और जीव को पृथक् माना गया है। जीव ईश्वर की मानसिक सृष्टि है। जो मनुष्य और स्त्री आदि के रूप मे उत्पन्न होती है। मृत्यु के बाद यहा न मोक्ष की कल्पना है, न पुनर्जन्म की। निर्णय दिवस के बाद जीव अनन्तकाल तक स्वर्ग और नरक मे रहता है। पशु-पक्षी आदि की मृत्यु के बाद गति के विषय मे ये दर्शन मौन है।

१३. दयानन्द सरस्वती ने अपने दर्शन मे सांख्य आदि छै दर्शनो का समन्वय प्रस्तुत किया है। अतः इनकी जीव की कल्पना मे साख्य, न्याय और मीमासाओ के विचारो का सम्मिश्रण पाया जाता है। इन दर्शनो के आपातिक विरोधो का यहा परिहार किया गया है। ईश्वर, जीव और प्रकृति-तीन अनादि और सत्य सत्ताए है। जीव असख्य हैं। जीव और ईश्वर का तादात्म्य कभी नही होता। जीव कर्म फल प्राप्ति के लिए ईश्वर के अधीन है और अपने समस्त पाप और पुण्य कर्मों के फलो का भोक्ता है। जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता किञ्चित् वर्तमान और भविष्यत् के कर्म करने मे है। ईश्वर और जीव दोनो चेतनस्वरूप स्वभाव से पवित्र, अविनाशी और धार्मिक हैं। जीव इच्छा और द्वेष आदि न्याय मे बताए लिङ्गो से युक्त है। यह शरीर मे परिच्छिन्न अल्पज्ञ, अल्प या सूक्ष्म है। सृष्टि को रचना, धारण और प्रलय आदि परमेश्वर ही करता है जीव का इन मे सामर्थ्य नही है। जीव सन्तान की उत्पत्ति और पालन तथा शिल्प विद्या आदि के ज्ञान की प्राप्ति परमेश्वर द्वारा बनाए गए शरीर और इन्द्रियो के माध्यम से करता है। ईश्वर की आज्ञा के पालन, धर्म, सत्य बोलने, परोपकार आदि उत्तम आचार, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, विद्या के धारण तथा अविद्या, कुसग, कुसस्कार और बुरे व्यसनो के त्याग से मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था मे वह ईश्वर से पृथक रहता है, उस मे अव्याहत गति विज्ञान आनन्द पूर्वक स्वतन्त्र विचरण करता है। यहा इसमे सत्य सकल्प आदि स्वाभाविक गुण और सामर्थ्य रहते है। शरीर केवल सकल्प मात्र रहता है। इस अवस्था मे जीव अपनी चौबीस प्रकार की शक्तियो से ही सब आनन्द भोग लेता है।

१४ जैन दर्शन आत्मा को सब तत्त्वो और द्रव्यो मे परम उत्तम तत्व और द्रव्य मानता है। जिस मे अनेक गुण और पर्याय है। जीव अमूर्त, चेतनस्वभाव, विज्ञाता, सुख-दुःख को अनुभव करने वाला और इन्द्रियों के विषय का ज्ञाता है। यह सकल्पमय है। शरीर से एक मालूम पड़ने पर भी यह शरीर से नितान्त भिन्न है। यही एक मात्र अन्तस्तत्त्व और ज्ञानवान् है। ज्ञान इसका स्वभाव ही है। वह आगन्तुक ज्ञान का आधार नहीं है। यह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से हीन, लिङ्गो से हीन, और अनिर्दिष्ट आकार या सस्थान वाला है। यह निरुपाधि, इन्द्रियातीत, असहाय अर्थात प्रत्येक वस्तु मे व्यापक है। मुक्तात्माएं स्वभाव-पर्याय हैं और शेष आत्माए मनुष्य, नारकी तिर्यंच और देव कर्माधीन पर्याय हैं।

१५. जीव का परिमाण अपनी देह ही है। वह शुभ और अशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। जीव जब क्रोध, मान और लोभ आदि अति तीव्र कषायो से युक्त होता है तब वह 'पाप कहलाता

है। जब उसके ये कषाय शान्त हो जाते हैं तब वह "पुण्य" हो जाता है।

१६. शरीर और इन्द्रियो की दृष्टि से जीवों के पाच भेद किए गए हैं। इन्हें दो वर्गो एकेन्द्रिय और अनेकेन्द्रिय मे रखा जा सकता है। एकेन्द्रिय जीव केवल स्पर्श का अनुभव करते हैं और बुद्धि के व्यापार से हीन होते हैं। शंख, सीपी आदि कीडे रस और स्पर्श रूप दो इन्द्रियो वाले, खटमल, बिच्छू आदि रस, स्पर्श और घ्राण रूप तीन इन्द्रियो वाले मच्छर, मक्खी आदि रस, स्पर्श, घ्राण और दर्शन रूप चार इन्द्रियो वाले तथा मनुष्य आदि पांच इन्द्रियो वाले जीव है।

१७. शरीरसहित आत्माओ के ज्ञान की दृष्टि से तीन भेद किये गये हैं। अपने शरीर और आत्मा को एक मानने वाले, अहभाव और ममत्व से ओत प्रोत, क्रोध आदि तीव्र कषायो से युक्त जीव बहिरात्मा होते हैं। शरीर, और आत्मा के भेद को जानने वाले, आठ प्रकार के दुष्ट भयो के विजेता, जिन वचनो के ज्ञाता, गुण ग्रहण मे तत्पर, जिन-भक्त, अविरत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, गृहत्यागी, आत्म-गुणरत, आत्मचिन्तक पचमहाव्रती,, अन्त-रात्मा हैं। केवल ज्ञानी, सर्वज्ञ, ज्ञानरूप शरीर वाले, सर्वोत्तम अतीन्द्रिय सुख की सम्पदा से युक्त आत्माएं सिद्ध परमात्मा कहलाती हैं। मुक्त आत्मा ही सिद्ध कहलाती हैं। ये जीवित अवस्था मे शरीर सहित होती हैं। शरीर छोडने पर ये शरीर कषाय और वासनाओ से रहित, कर्मोपाधि से वियुक्त तथा अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न हो जाती हैं तथा निःसंग, विशुद्ध स्वरूप, परमेष्ठी, परम जिन, शिवंकर और शाश्वत बन जाती हैं। इस स्थिति की प्राप्ति सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करने, अपनी आत्मा को 'अहम्' के रूप मे क्रोध आदि कषायो से हीन, राग आदि लेश्याओ से मुक्त, अजर, अमर, निरंजन, इन्द्रिय विषय आदि से हीन और शुद्ध चेतन स्वरूप सोचने और मानने से हो सकती है। इस प्रकार सब विकल्पों के शान्त हो जाने, शाश्वत भाव उत्पन्न होने पर आत्मा स्वभावस्थ हो मोक्ष को प्राप्त हो जाती है—

सयल वियप्पे थक्के उप्पज्जइ
को वि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स,
य कारण सो हु ॥[3]

१८. उपर्युक्त विवरण से यह सुव्यक्त है कि जैन दर्शन ने सशरीर आत्मा के विश्लेषण पर विशेष बल दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित भी है। इस सशरीर आत्मा का लक्ष्य शरीर हीन शुद्ध आत्म रूप को प्राप्त करना है।

१९. जैन दर्शन के आत्मा के इस स्वरूप पर साख्य की गहरी छाप है। दोनो के आत्मस्वरूप मे गहरी समानता है। जैन दर्शन ने परमात्मा को श्रेष्ठ आत्मा मात्र माना है। साख्य ने इस रूप मे कोई कल्पना नही की है। मुक्त होकर आत्मा अपने मूल रूप को प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था मे यद्यपि वह बद्ध आत्माओ से ऊची हो जाती है, परन्तु मूलतः तो दोनो मे कोई भेद नहीं है। जैनो ने मुक्त आत्मा को परमात्मा कह कर अद्वैत वेदान्त के अप्रत्यक्ष प्रभाव को व्यक्त किया है जिसमे जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है और मुक्त होने पर जीव परमात्मा मे लीन हो ब्रह्म हो बन जाता है। इस प्रकार वेदान्त भी मुक्त आत्मा और बद्ध आत्मा—दो ही मानता है। वेदान्त की मुक्त आत्मा जैनो के परमात्मा से बहुत भिन्न और शक्तिशाली है। जैनो की मुक्तात्मा का ईश्वरत्व भी बद्ध जीवात्मा की अपेक्षा से ही है क्योकि यह ईश्वर सृष्टिरचना आदि के सामर्थ्य से हीन है। बद्ध रूप से मुक्त होने के कारण इसकी मुक्ति और सर्वज्ञत्व आदि नित्य नही रह सकते। उसे पुनः

उसी प्रकार बन्धन मे आना पडेगा जिस प्रकार सम्प्रति बद्ध परन्तु आदि मे मुक्त आत्माए बन्धन ग्रस्त हुई।

२०. जैन दर्शन ने आत्मा को सुख-दु ख आदि का अनुभव करने वाला मानकर न्याय दर्शन का मार्ग अपनाया है। न्याय ने आत्मा को सुख दु:खादि लिगो वाला और साख्य ने सूक्ष्म शरीर के योग से सुख दु ख आदि के अनुभव वाला माना है। अन्य दर्शनो मे सकल्प और विकल्प आदि मन के व्यापार माने गए है। जैनो ने आत्मा को ही सकल्पमय मान लिया है। यह मान्यता सम्भवत. इसलिए आवश्यक हुई कि इस के बिना मुक्त या सिद्ध जीव परमेष्ठी और शिवकर नही हो सकता था। यदि यह कल्पना ठीक हो तो सकल्प को शिवकर सकल्प मे सीमित करना आवश्यक होगा।

२१-जैन दर्शन ने जीव को "असहाय" कहा है। प० चैनसुखदासजी ने इसका भाव "प्रत्येक वस्तु मे व्यापक" लिया है। [४]इसका भाव आत्मा की सर्वव्यापकता नहीं है यदि ऐसा भाव होता तो यह आत्मा वेदान्तियो का ब्रह्म ही बन जाता है अतः यह अपनी देह मे ही व्यापक है क्योकि यह स्वदेहपरिमाण वाला है। [५]वैदिक दर्शन भी जीव को शरीर मे विभु अर्थात् व्यापक मानते है।

२२-आत्मा के स्वरूप के विषय मे विभिन्न दर्शनो के कुछ विचार सक्षेप मे यहा प्रस्तुत किए गए है। प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसका चिन्तन और विवेचन किया है। इस विवेचन की चार प्रमुख समस्याएं है। १. आत्मा मे चैतन्य स्वभाविक है या आगन्तुक। २. क्या आत्मा सुख दु ख आदि के लिग वाली है? ३ आत्मा (जीव) और ईश्वर मे कौन सा मूल है? दोनो मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? प्रकृति से इन दोनो का क्या सबध है? ४. मुक्त आत्मा का स्वरूप क्या है? इन समस्याओ का समाधान सरल नही। ईश्वर और जीव की परीक्षानली मे परीक्षा नहीं हो सकती है। न इन के प्रकृति या जगत् से सम्बन्ध की यह परीक्षा की जा सकती है। मुक्तात्मा का कोई साक्षात्कार सम्भव नही। अत. कल्पना, युक्ति, लोकदर्शन और अनुभव के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी विचारधारा बनाने मे स्वतन्त्र है। इस निर्माण मे तर्क, सृष्टि के नियमो और घटनाओ का विशेष महत्त्व है। जो विचार जितना अधिक तर्कसगत, विरोधो और आक्षेपो का समाधान करने वाला, सृष्टि के नियमो के अनुकूल और दैनिक अनुभवो से मेल खायेगा वही सत्य के अधिक समीप होगा। इस कसौटी पर दयानन्द का समन्वित रूप पर्याप्त हृदयगम होता प्रतीत होता है।

१—इस कारण यहा इस का विस्तार प्रस्तुत नही किया गया है। इस की जानकारी के लिये लेखक की रचना 'भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय' परिच्छेद ८ देखें।

२—विशेष विस्तार के लिये देखो वही, परिच्छेद ६।

३—तत्त्वसार ६१ (अर्हत् वचन, प चैन सुख दास, २.५६ पृ० १६ से उद्धृत)।

४—अर्हत वचन, पृ. ७ उद्धरण सख्या १४ का हिन्दी अनुवाद

५—पचास्तिकायसंग्रह, ३३, अर्हत् वचन, २, २६, पृ १०

आत्मा

प्रायः प्रत्येक धर्माचार्य ने आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु उसका स्वरूप क्या है इस सम्बन्ध में उनके विचार आपस में नही मिलते। विद्वान् लेखक ने विभिन्न धर्मचार्यों की आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत लेख में कराया है जो निश्चय ही पाठकों की ज्ञान वृद्धि करेगा। —सम्पादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त
एम. ए. पी. एच. डी., बी. ए. (आनर्स) शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपद की प्रवाचक संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, भारती अनुसंधान शाला, जयपुर—३

१—"आत्मा" भारतीय दर्शन मे एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। इसके स्वरूप के विषय मे विभिन्न दर्शनो की मान्यता भिन्न-भिन्न है। नास्तिक दर्शनो मे चार्वाको की मान्यता है कि यह भौतिक शरीर ही आत्मा है। शरीर के निर्माणकाल मे ही कत्था और चूना के मिश्रण से उत्पन्न लालिमा के समान विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वो के मेल से स्वत. हो शरीर मे चैतन्य रूप आत्मा का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस शरीर के नाश के साथ ही आत्मा का नाश हो जाता है। इस कारण ये पुनर्जन्म और मोक्ष का खण्डन करते हैं। आत्मा को सुख और दु.ख स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। धर्म, अधर्म आदि कोई अन्य कारण इनका जनक नही है। अतः यहाँ न ईश्वर को आवश्यकता है, न धर्म और अधर्म के भेद की। देश का राजा ही परम सत्ता है।

२-बौद्धो के मत में जगत् में हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। जगत् और जीवन मे वस्तु और अनुभव अस्थायी, परिणामशील और क्षणिक हैं। यहां कोई आत्यान्तिक सत्य पदार्थ नहीं है। यहां जो कुछ भी है, वह एक काल-विशेष में ही विद्यमान रहता है। अतः जगत् और आत्मा विज्ञान-सन्तान या विचारों की परम्परा मात्र हैं। अपने अन्दर होने वाले विचार, भावना, कल्पना, वेदना, क्षणिक और परिवर्तनशील अनुभवो का समूह ही आत्मा है। रूप,

किं कारणि लुंचमि सिर-केसइं,
किं कारणि दुह-तण्ह किलेसइं ॥
किं कारणि णग्गउ जणि वियरमि,
किं विणु जलिए महाणइ पइरमि ।
जेण कालि भवियव्वु हवेसइ,
तेण समइं त सइं णिरु होसइ ॥
जिह रवि उयउं ण को वि णिवारइ,
भणहु तउ ण उ वेण वि कीरइ ।
जिहं फल कालवसेणपक्कहि,
णिय कालहु परिपुण्णइ थक्कहि ॥
तेम जीउ पुणु सइं सिज्झेसइ,
मूढु णिरत्थउ देहु किलेसइ ।
इय भासिवि समवसरणहु बाहिरि,
णिग्गउ जहु खणि छंडेप्पिणु हिरि ॥
जणि मणाय पविखविहि दसिय,
कुमय-पसर बहुभेए भासिय ।
धत्ता—ण वि कम्महं कत्त, ण वि पुणु भुत्त,
ण उ कम्मेहि जि छिप्पइ ।
णिच्चु जि परमप्पउ अत्थि अदप्पउ,
एम संखु मउ थप्पइ ॥१६॥
(पत्र १७)

—जिनेन्द्र-भाषित बात कभी अन्यथा नहीं हो सकती है, सो मैं निश्चय से आगे तीर्थंकर होऊंगा। यदि कदाचित् कनकाचल (सुमेरु) चलायमान हो जाय, ज्योतिषगण नभस्तल छोड़ दें, अग्नि-शिखा शीतल हो जाय, सर्प विष-रहित हो जाय, ये सभी अनहोनी बातें भले ही संभव हो जायें, पर जिन भगवान् का कथन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। फिर मैं क्यों उपवास करके शरीर और इन्द्रियों को सुखाऊं, क्यों कायोत्सर्ग करूं, क्यों वन में रहूँ, क्यों केशों की लौंच करूं क्यों भूख-प्यास की वेदना सहूं, क्यों नग्न होकर विचरूं और क्यों बिना शरीर-सन्ताप के महा नदियों में रमूं ? जिस समय जो होने वाला है वह होकर ही रहेगा। उदय होते सूर्य को कौन रोक सकता है ? जैसे फल समय आने पर स्वयं पक जाता है, वैसे ही समय आने पर जीव भी स्वयं सिद्ध हो जायगा। ऐसा कहकर मरीचि समवशरण से बाहर निकलकर कुमतों का प्रचार करने लगा। और कहने लगा कि न कोई कर्त्ता है न कोई कर्म ही है और न कोई भोक्ता ही है। जीव कभी भी कर्मों से स्पृष्ट नहीं होता है, वह तो सदा ही निर्लेप परमात्मा बना हुआ रहता है। इस प्रकार मरीचि ने सांख्य मत की स्थापना की।

(२) रयधू ने त्रिपृष्ठ के भव का वर्णन करते समय युद्ध का और उसके नरक में पहुँचने पर वहां के दुःखों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

(३) मृग घात करते सिंह को देखकर चारण मुनि-युगल उसे संबोधन करते हुए कहते है—

जग्गु जग्गु रे केत्तउ सोवहि,
तउ पुण्णे मुणि आयउ जोवहि ।
एक्क जि कोडाकोडी सायर,
गयउ भमंते कालु जि भायर ॥
(पत्र २५)

अर्थात्—हे भाई, जाग-जाग। कितने समय तक और सोवेगा। पूरा एक कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण काल तुझे परिभ्रमण करते हुए हो गया है। आज तेरे पुण्य से यह मुनि-युगल आये है, सो देखो और आत्म-हित में लगो।

इस स्थल पर रयधू ने चारण-मुनिके द्वारा सम्यक्त्व की महिमा का विस्तृत वर्णन कराया है और कहा है कि अब हे मृगराज, इस हिंसक प्रवृत्ति को छोड़कर सम्यक्त्व और व्रत को ग्रहण कर।

(४) भ० महावीर का जीव स्वर्ग से अवतरित होते हुए संसार के स्वरूप का विचार कर परम

वैराग्य भावों की वृद्धि के साथ त्रिशला के गर्भ मे आया, इसका बहुत ही मार्मिक चित्रण रयघू ने किया है।

(५) जन्माभिषेक के समय सौधर्मइन्द्र दिग्पालों को पांडुक शिला के सर्व ओर प्रदक्षिणा क्रम से अपनी-अपनी दिशामे बैठाकर कहता है—

णिय णिय दिस रक्खहु सावहाण
मा को वि विसउ सुरु मज्झ ठाण।

अर्थात्—हे दिग्पालो. तुम लोग सावधान होकर अपनी-अपनी दिशा का सरक्षण करो और इस मध्यवर्ती क्षेत्र मे किसी को भी प्रवेश मत करने दो।

इस उक्त उद्देश्य को भूल कर लोग आज पचामृताभिषेक के समय दिग्पालो का आह्वानन करके उनकी पूजा करने लगे हैं।

(६) रयघू ने भी जन्माभिषेक के समय सुमेरु के कम्पित होने का उल्लेख किया है। साथ ही अभिषेक से पूर्व कलशो मे भरे जल को इन्द्र के द्वारा मन्त्र बोल कर पवित्र किये जाने का भी वर्णन किया है।

इस प्रकरण में गन्धोदक के माहात्म्य का भी सुन्दर एव प्रभावक वर्णन किया है।

(पत्र ३७ A)

(७) जन्माभिषेक से लौटने पर इन्द्राणी तो भगवान को ले जाकर माता को सौपती है और इन्द्रराज सभा मे जाकर सिद्धार्थ को जन्माभिषेक के समाचार सुनाता है।

(पत्र ३८ B)

भगवान् के श्री वर्धमान, सन्मति, महावीर आदि नामो के रखे जाने का वर्णन पूर्व-परम्परा के अनुसार ही किया है।

(८) महावीर जब कुमार काल को पारकर युवावस्था से सम्पन्न हो जाते हैं, तब उनके पिता विचार करते हैं:—

अज्जवि विसय आलि ण पयासइ,
अज्ज सकामा लावे ण भासइ।
अज्ज जि तिय तुवँ ण उ भिज्जइ
अज्ज अणग करणिहि ण दलिज्जइ॥
णारि-कहा-रसिमणु णउ ढोवइ
ण उ सवियारउ कहव पलोवइ।
घत्ता—इय चिंतिवि णिवण जिणु भणिउ
सहहि परिट्ठिउ णिय भवणि॥
तउ पुरउ भणमि हउ पुत्त किहा,
तुहु पवियाणहि सयलु मणि॥ २५०
कि पाहणि ण कणउ णोवज्जइ,
कद्दमि कमलु किण्ण उपज्जइ।
वप्प पुत्त को अंतरु दिज्जइ,
परइ मोहे किंपि भणिज्जइ॥
तिह करि जिह कुल-सतति वड्ढइ,
तिह करि जिह सुय-वसु पवट्टइ।
तिहं करि जिह सुय मज्झु मणोरह
हुँति य पुण्ण तियस वइ सय मह॥

(पत्र ४१ A)

महावीर युवा हो गये हैं, तथापि आज भी उनके हृदय मे विषयो की अभिलाषा प्रकट नही हो रही है, वे आज भी काम-युक्त आलाप नहीं बोलते हैं, आज भी उनका मन स्त्रियो के कटाक्षो मे नही भिद रहा है, आज भी काम की कणिका उन्हे दलन नही कर रही है, स्त्रियों की कथाओ में उनका मन रस नही ले रहा है और न वे विकारी भाव से किसी स्त्री आदि की ओर देखते ही हैं। ऐसा विचार कर सिद्धार्थ राजा भ० महावीर के पास पहुंचते है, जहा पर कि वे अपने सखाओं से घिरे

हुए बैठे थे, और उनसे कहते हैं—हे पुत्र, मैं तुम्हारे सामने अपने मन की बात कह तुम तो सब कुछ जानते हो। देखो—क्या पाषाणों में सुवर्ण नहीं उत्पन्न होता और क्या कीचड़ में कमल नहीं उपजता? पिता और पुत्र में क्या अन्तर किया जा सकता है? (कभी नहीं।) फिर भी मैं मोह-वश कुछ कहता हूँ। तो तुम ऐसा काम करो कि जिससे कुल-सन्तान बढ़े और पुत्र का वश प्रवर्तमान रहे। हे इन्द्रहात-वश पुत्र, तुम ऐसा भाव करो कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

पिता के ऐसे अनुराग भरे वचनों को सुनकर अवधि विलोचन भगवान् उत्तर देते हैं।

त णिसुणेप्पिणु अवहि-विलोदणु,
पडि उत्तरु भासइ मल-मोयणु।
ताय ताय ज तुम्ह पउत्त,
मण्णमि त णिरु होइ ण जुत्त॥
चउगइ पह व विहिय ससारं,
मोक्ख महापह तु थियदार।
दुत्तर दुग्गइ पारावारं,
कवणु ताय बुहु वच्छइ दार॥
सव्वत्थ वि अयणेण विछण्णं,
सधि बध विसमहिं विच्छिण्णा।
सव्वत्थि जि किमिउल सपुण्णा,
सव्वत्थ जि णव दारहिं जुण्णं॥
सव्वकाल पयडिय णिरु मुत्त,
सव्वकाल वस-मस-विलित्त।
सव्वकाल लालारस-गिल्लं,
सव्वत्थ जि रुहिरोह जलुल्ल॥
सव्वकाल बहु मल कयकलुस,
सव्वकाल धारिय जि पुरीस।
सव्वकाल बहु कुच्छियगंधं,
सव्वकाल अतावलि बध॥
सव्वकाल महु दुक्खारीण,
……… …… ……… … ।
एरिस अगं सेयंताण,
होइ ण मोक्खु, दुक्खु, धुव ताणं॥

घत्ता—परमभउ पवड्ढिय सभउ,
खण-खण बाहासय-सहिउ।
आरभे महुरउ इदिय-सुहु धुउ,
कोणु सेवइ गुण अहिउ॥
ससारि भमतइ जाइं जाइ,
गिण्हियउ पमेल्लिय ताइ ताइ।
केत्तियइ गणेसमि आसि बस,
णिच्च च्चजि जगि लद्ध सम॥
केत्तियइ भणमि कुल-सतईउ,
जणणी-जणणई पिय सामिणीउ।
पूरेमि मणोरह कामु कासु,
त णिसुणिवि णिउ मेल्लिवि उसासु॥
होएवि विलक्खउ मोणि थक्कु,
जाए ण उ पडि उत्तरु असक्कु।

अर्थात्—हे तात, हे पिता, तुमने जो कहा, सो वह युक्त नहीं है। यह दार-परिग्रह (स्त्री-विवाह) चतुर्गति रूप ससार-मार्ग को बढ़ाने वाला है और मोक्ष के महान् पन्थ का रोकने वाला है। यह ससार रूप सागर दुस्तर दुर्गति रूप है, इसका कोई आदि अन्त नहीं है, कौन बुद्धिमान इसमे डूबना चाहेगा? यह सर्वत्र अज्ञान से विस्तीर्ण है और विषय सन्धि-बन्धों से व्याप्त है। यह मानव-देह कृमि-कुल से भरा हुआ है, नौ द्वारों से निरन्तर मल-स्राव होता रहता है, सदा हो, मूल-मूत्र प्रकट होता है, सदा ही यह वसा (चर्बी) और मांस से लिप्त रहता है, मुख से सदा ही लार बहती रहती है और सर्वांग मे रक्त-पुज से प्रवाहित रहता है। सदा ही यह नाना प्रकार के मलों से कलुषित रहता है, सदा ही विष्टा को धारण किये रहता है। इससे सदा ही

दुर्गन्ध आती रहती है और सदा ही यह आंतों की आवली से बधा हुआ है। सदा ही यह भूख-प्यास से पीडित रहता है। ऐसे अनेक आपदा मय शरीर का सेवन करने वालो को कभी भी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। हा, उनके दु.खो की प्राप्ति तो निश्चय से होती ही है। पर से उत्पन्न होने वाले, मल-मूत्रादि को प्रवाहित करने वाले, क्षरण-क्षरण में सैकडो बाधाओ से व्याप्त और प्रारम्भ में मधुर दिखने वाले इस इन्द्रिय-सुख को कौन गुरणी पुरुष सेवन करना चाहेगा ? ससार मे परिभ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म,जाति और वंशो को ग्रहण कर करके छोडा है। जगत् मे कौनसा वश सदा नित्य रहा है और कौन से कुल की सन्तान, माता, पिता और प्रियजन नित्य बने रहे है। मनुष्य किस-किस के मनोरथो को पूरा कर सकता है। इसलिए इस दार-परिग्रह को स्वीकार नही करना ही अच्छा है। पिता महावीर का यह उत्तर सुनकर और दीर्घ श्वास छोडकर चुप हो प्रत्युत्तर देने मे अशक्य हो गये।

(९) महावीर के वैराग्य उत्पन्न होने के अवसर पर रयधू ने बारह भावनाओ का बहुत सुन्दर एव विस्तृत वर्णन किया है।

(१०) रयधू ने दीक्षार्थ जाते हुए भगवान् के सात पग पैदल चलने का वर्णन इस प्रकार किया है—

ता उट्ठिवि सिंहासरगहु जिरगु,
चल्लिउ पय धरंतु धरहि।
पय सत्त महीयलि चलियउ जाम,
इदे पए णंपिणु देउ ताम।
ससि पह सिविर्माहि मंडिवि जिरिंगदु,
आरोविवि उच्चायउ अरिगदु॥
(पत्र ४६ ए)

अर्थात्—भगवान सिंहासन से उठकर जैसे ही भूतल पर सात पग चले, त्यो ही इन्द्र ने शशिप्रभा पालकी मे भगवान को उठाकर बैठा दिया।

(११) इन्द्र जब गौतम को साथ लेकर भगवान् के समवशरण में आने लगे, तो उनके दोनो भाई भी अपने शिष्यो के साथ पीछे हो लिए। तब उनका पिता शाडिल्य ब्राह्मण चिल्ला करके कहता है—अरे तुम लोग कहा जा रहे हो ? क्या ज्योतिषि के ये वचन सत्य होंगे कि ये तीनो पुत्र जिन शासन की महती प्रभावना करेंगे। हाय, हाय यह मायावी महावीर यहा कहा से आ गया।

ता संडिल्ले विप्पे सिट्ठउ,
हा हा हा कहु काइं विराट्ठउ।
ए र्याह जम्मरण दिरिग मइ लक्खिउ,
रोमित्तिएरग मज्झु रिगउ अक्खहु।
ए तिण्णि वि जिरग समय पहावरण,
पयड करेसहि सुहगइ दावरण।
तं अहिहाणु एहु पुणु जायउ,
कुवि मायावी इहु रिगरु आयउ॥
(पत्र ५० ए)

१२. गौतम के दीक्षित होते ही भगवान की दिव्यध्वनि प्रकट हुई। इस प्रसग पर रयधू ने षट् द्रव्य और सप्त तत्त्वों का श्रावक और मुनि धर्म का विस्तृत वर्णन किया है।

अन्त मे रयधू ने भगवान् के निर्वाण कल्याण का वर्णन करके गौतम के पूर्व भव एव भद्रबाहु स्वामी का चरित्र भी लिखा है।

भजन

सिख सीखो मेल मिलाप की, जल और दूध से भाई ।।टेक।।

पय ने पानी को अपनाया,
पानी ने पयमान बढाया,
हिल मिल एक भाव दर्शाया,
तुलता गोरस सग आपही,
समता के साथ बिकाया ।।जल।।

यों स्नेह की बेल बढाई,
हित पर हित की हुई चढाई,
प्रेम कसोटी बनी कढाई,
जाच आच के ताप की
ढूंढता परखन को भाई ।।जल।।

नीर ने प्रिय क्षीर बचाया,
दीन दुग्ध व्याकुल अकुलाया,
पावक में गिरने को धाया,
मसि कृतघ्नता पाप की
गुण कोर्ति कुल न लगाई ।।जल।।

मरती बार मिला पुनि पानी,
मग्न भया और अग्नि शमानी ।
एसे संकट शक्ति सयानी,
सभा रहेगी आपकी ।
मत डालो कपट खटाई ।।जल।।

धर्मशर्माभ्युदय और रामायणीय कथाएँ

जैन काव्य साहित्य में धर्मशर्माभ्युदय अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसके कर्ता हरिचन्द कायस्थ होते हुए भी जैन धर्मावलम्बी थे किन्तु सिवाय इसके कि ये विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से पूर्व हुए, इनके निश्चित समय का आज तक भी परिज्ञान नहीं हो सका ई ये जैन होते हुए भी साम्प्रदायिक कट्टरता से मुक्त थे अतः इन्होने जैनेतर कथा प्रसगो का भी अपने काव्य में खुलकर प्रयोग किया है। प्रस्तुत लेख इम काव्य की पुष्टि करता है।

डा० कु० स्वप्न बनर्जी
अध्यापिका संस्कृत विभाग, मारवाड़ी कालेज, रांची

जैन कवि हरिचन्द ने अपने महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय का महत्त्व पौराणिक संकेतो के बाहुल्य के कारण बढ़ा दिया है। कुछ कथाएं रामायण से हैं, कुछ महाभारत से एवं कुछ विभिन्न पुराणों से। अत्यन्त प्रसिद्ध रामायणीय या पौराणिक व्याख्यानों के अतिरिक्त उन्हो ने अत्यन्त अपरिचत कथाओ का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। एक ही कथानक कई रूपों मे कई स्थान पर उल्लिखित है। ये आख्यान प्रायः विभिन्न अलंकारों के साथ आये हैं। साधारण समाज मे पौराणिक कथाएं अत्यन्त प्रिय और अतिप्रचलित होने के कारण उनके द्वारा कवि को भाव-बोध कराने में अत्यन्त सुविधा होती है। प्रस्तुत निबन्ध मे हम धर्मशर्माभ्युदय में आये रामायणीय कथाओ को देखेंगे।

आदिकवि-वाल्मीकि[1] –देवर्षि नारद के रामायण की मूलकथा सुनाकर चले जाने पर महर्षि बाल्मीकि तमसा नदी के किनारे शिष्य भारद्वाज के साथ स्नान करने चल दिये। वहा तट के वन मे उनके देखते २ एक व्याध ने क्रौञ्च के जोड़े मे से एक को मार डाला[2]। क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन से मुनि का हृदय द्रवित हो गया। शोकाभिभूत उनके कण्ठ से अकस्मात यह श्लोक निकल पड़ा–

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।. वा. रा., बाल. २/१५

यह विश्व की मानव-रचित प्रथम कविता थी। स्वयं मुनि को यह अद्भुत वस्तु प्रतीत हुई। उन्होंने भरद्वाज से कहा भी।[3] इसके बाद आश्रम मे उनके पास ब्रह्मा आये और उस नूतन रचना के लिए उनकी प्रशंसा करते हुए राम का सम्पूर्ण चरित्र रचने का उन्हे आदेश दिया।

हरिचन्द ने आदिकवि के प्रथम श्लोक की प्रशंसा करते हुए लिखा है-बड़े पुण्य से किसी की ही वाणी, शब्द और अर्थ दोनो की विशिष्ट रचना से युक्त होती है"[४]।

गङ्गावतरण[५] —सगर पुत्रो के उद्धार के लिए भगीरथ ने गङ्गावतरण कराने का निश्चय किया। उन्होंने ब्रह्माजी के दर्शनार्थ तप करना प्रारम्भ किया। ऊर्ध्वबाहु करके पाँच प्रकार से तप करते हुए बहुत वर्ष बीत गये। उनकी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी उनके सामने प्रकट हुए। भगीरथ की प्रार्थना सुनकर पितामह ब्रह्मा ने कहा कि उनका मनोरथ सफल होगा पर हिमवान् की पुत्री का भार सहने मे पृथ्वी समर्थ नही केवल शिव ही उसे धारण कर सकते हैं।[६] ब्रह्मा जी के इस प्रकार कह कर चले जाने पर भगीरथ ने पुनः शिव की तपस्या करनी प्रारम्भ की। एक सवत्सर तक कठिन तप करने के बाद शिवजी प्रसन्न हुए और उन्होंने गङ्गा को अपनी जटा मे धारण करने का वचन दिया। शिव की जटा मे गङ्गा अनेक सवत्सरो तक रुकी रही। भगीरथ ने पुन. तप किया तब शिव ने गङ्गा को पृथ्वी मे प्रवाहित होने के लिए छोडने का वचन दिया। उनके द्वारा मुक्त की हुई गङ्गा ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, सीता, सिन्धु, महानदी और अलकनदा इन सात धाराओं में दिशाओं मे प्रवाहित हुई।[७]

ब्रह्मपुराण के अन्तर्गत 'गौतमीमहात्म्यवर्णन' में भी गङ्गावतरण की कथा आती है। ब्रह्मा के कमण्डलु के जल से पूरित भगवान् के चरण से निकलकर गगाजल ने महादेव की जटाजूट मे प्रवेश किया।[८]

धर्मशर्माभ्युदय मे हरिचन्द ने गंगा की शुभ्रता का वर्णन करते हुए उसके जनको को ही इसका कारण ठहराया है। वे कहते है-"जो गङ्गानदी दूध समान कान्तिवाली है जिससे ऐसी जान पडती है मानो विष्णु के चरणनखो की किरणो से ही व्याप्त है अथवा महादेव जी के मस्तक पर चन्द्रमा की किरणो मे ही ललित है अथवा हिमालय की ऊँची-ऊँची वर्फ की चट्टानो से ही मिश्रित है।[९]

रामचन्द्र द्वारा सेतु-बन्धन-[१०]रावण से युद्ध करने के लिए रामचन्द्र की सम्पूर्ण वानर-सेना समुद्र के किनारे आकर ठहर गई। लङ्का जाने के लिए समुद्र पार जाना आवश्यक था। अत. रामचन्द्र ने समुद्र मे तीक्ष्ण बाणो का प्रहार करना प्रारम्भ किया। जिन से समुद्र का जल सूख जाय और शीघ्र से उसे पार करने का मार्ग मिल जाय। कई बाणो को छोडने के बाद उन्होन ब्रह्मास्त्र छोडने का विचार किया। उनके द्वारा धनुष की प्रत्यञ्चा खीचे जाते ही चारो ओर हाहाकार मच गया। तब सागर स्वय मूर्तिमान होकर प्रगट हुआ।[११]विनीत होकर उसने कहा कि वह ऐसा परामर्श देगा जिससे वानर-सेना पार चली जाय और समुद्रवासी जीवो को भी कष्ट न हो।[१२] सागर ने तब रामचन्द्रजी को जल मे पुल बाँधने की सलाह दी। सागर के परामर्श और रामचन्द्रजी की आज्ञा से सारी वानरसेना पर्वत, पेड आदि उखाडने मे और पुल निर्माण करने मे लग गई। अन्त में वह सेतु पूरा हो गया और पुल निर्माण करने हुए ही सारी वानर सेना उस पार पहुच गई।[१३]

रामायण की इस कथा का सकेत हरिचन्द्र ने एक बार धर्म शर्माभ्युदय मे किया है—"जिसकी तृष्णा समाप्त नही हुई ऐसे समुद्र के विषय मे

याचकजन 'यह बाधा गया' आदि क्या-क्या अपवाद नही करते ।"[१४]

वानर-सेना के साथ राम का दक्षिण-प्रस्थान-हनुमानजी के मुख से सीता की दयनीय स्थिति तथा लका दहन का आखो देखा हाल सुनकर रामचन्द्रजी ने कहा—"मैं तुम से सच कहता हू—तुमने उस भयानक राक्षस की जिस लकापुरी का वर्णन किया है उसे मैं शीघ्र ही नष्ट कर डालूँगा ।"[१५]तदनन्तर राम ने प्रत्येक को यथायोग्य आज्ञा दी और यात्रा की तैयारी प्रारम्भ हो गई। वानरराज्य सुग्रीव और लक्ष्मण के सादर अनुरोध करने पर सेना सहित धर्मात्मा श्री रामचन्द्रजी ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया ।[१६]

धर्मशर्माभ्युदय मे कवि ने धर्मनाथ के प्रस्थान को रामचन्द्रजी की तरह बताते हुए श्लेष युक्त वर्णन किया है—"जिस प्रकार रामचन्द्रजी हरि-सेना-वानरो की सेना से युक्त होकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहे थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी हरिसना—घोडो की सेना-से युक्त होकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहे थे ।"[१७]

सीता का निर्दोष होना[१८]लवकुश से रामायण की कथा सुनकर रामचन्द्रजी को सीता की याद आई। उन्होंने सीता की पतिव्रतता को पुनः प्रमाणित करने के लिए उनको शपथ लेन का सन्देश कहलवा भिजवाया। दूसरे दिन सभी महर्षिगण उपस्थित हुए। वहा शपथ ग्रहण करने के पूर्व ही वाल्मीकि जी ने सीता की शुद्धता सिद्ध करने के लिए निम्न-लिखित वचन कहा—"मने दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सीता का भाव परम पवित्र है। आपको भी यह प्राणो से अधिक प्यारी है। आप यह भी जानते हैं कि सीता सर्वथा शुद्ध है तथापि लोकापवाद से कलुषित चित्त होकर आपने इसका त्याग किया है।[१९]

हरिचन्द्र ने वनस्थली का वर्णन करते हुए कहा है—"जिस प्रकार सीता स्वयं अकल्मषा थी उसी प्रकार वह वनस्थली भी पङ्क आदि दोषों से रहित है। चूकि आप राजाओ में रामचन्द्र हैं अतः सीता की समानता रखने वाली इस वनस्थली को स्वीकृत कीजिए।"[२०]

सीता-पुत्र-लव-कुश—रामायण के उत्तर-काण्ड मे सीता पुत्र लव-कुश का वर्णन भी आया है। [२१] जिस रात को शत्रुघ्न ने पर्णशाला मे प्रवेश किया था उसी रात को सीताजी ने दो पुत्रो को जन्म दिया। [२२]उन पुत्रो का नाम मुनि ने लव एवं कुश रखा।[२३]

धर्मशर्माभ्युदय मे भी एक स्थान पर कुशोपरूढा और द्रुतमालपल्लवा सीता का नाम आया है।[२४]

दूषण—वध-[२५]रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मण के साथ जब पञ्चवटी मे कुटी बनाकर रहने लगे। तो एक दिन रावण की भगिनी शूर्पणखा वहां आई। कामवशीभूत होकर उसने राम और लक्ष्मण से विवाह-प्रस्ताव रखा और सीता को खाने दौडी। तब लक्ष्मण ने खड्ग उठाकर उसका नाक-कान काट डाला। इसी रूप मे रोती हुई वह अपने भाई खर के पास पहुँची। खर शूर्पणखा से सारा वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुआ और चतुर्दश राक्षसो को राम-लक्षमण को मारने के लिए भेजा। वहा इन राक्षसो का राम के साथ घोर युद्ध हुआ जिसमें चौदहो राक्षस मारे गये। शूर्पणखा पुन. रोती हुई खर के पास पहुँची और उसे नाना प्रकार से राम का वध करने के लिए उत्तेजित करने लगी। क्रोधित खर ने उससे कहा-अपने आसू पोछो, सम्भ्रम का त्याग करो। मैं राम को उसके भाई सहित यमलोक मे पहुँचाता हू। तब तुम मारे गये राम का उष्ण रक्त पान करना। [२६]यह कह कर खर ने दूषण नाम के अपने सेनापति को चतुर्दश

सहस्र सैनिको को सुसज्जित करने की आज्ञा दी। दूषण के सेनापतित्व में वह सेना राम की कुटी की ओर चली। वहा घोर युद्ध हुआ और अकेले राम ने समस्त सेना को मार डाला। अपनी समस्त सेना को नष्ट देखकर दूषण युद्ध भूमि मे आया। दूषण ने राम को तीक्ष्ण शरो से चारो ओर से घेर लिया। तब क्रोधित होकर राम ने उसके रथ के चारों अश्वो को और तदनन्तर उसके सारथि को भी मार डाला। तत्पश्चात दोनों बाहु काटकर दूषण को भी पृथ्वी पर गिरा दिया।[२७]

इस घटना को लेकर हरिचन्द्र ने धर्मनाथ और रामचन्द्र जी की तुलना करते हुए लिखा है —"जिस प्रकार रामचन्द्र दूषण नामके राक्षस का बध कर चुके थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी अस्तदूषण मद-मात्सर्यादि दोषो से रहित थे।[१८]

रावण द्वारा पर्वत का उठाया जाना— एक बार रावण ने कुबेर पर क्रोधित होकर उसके साथ खूब युद्ध किया। युद्ध मे कुबेर हार गये। रावण तब इन्द्र को जीतने स्वर्ग लोक गया। वहा वह इन्द्र द्वारा बाधा गया। समाचार पाकर रावण-पुत्र मेघनाथ ने देवताओ से घोर युद्ध किया और अपने पिता को छुडा ले आया। तब विजयी रावण ने सभी लोको को जीतकर अपनी बडी-बडी भुजाओ से कैलाश पर्वत को उठा लिया।[२९]

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय मे एक बार इस कथा का स्मरण किया है—"पर्वत को उठाने वाला रावण उसी के लिए आनन्ददायी हो सकता है जिसने कि पृथ्वी का भार वहन करने वाले शेषनाग को नही देखा और जिसने तीनो जगत का भार वहन करने वाले धर्मनाथ जिनेन्द्र को देख लिया था उसे वह दोनो ही आश्चर्यकारी थे।[३०]

---

१ —बाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड–अ० २।

२—तस्मात् मिथुनादेक पुमास पापनिश्चय :।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यत :॥ वही, २। १०

३—पादबद्धो ऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वित :।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ वही, बा० का०, २।१८

४—वाणी भवेत्कस्य चिदेव पुण्यै : शब्दार्थ सन्दर्भ विशेषगर्भा। १। १६ धर्म०

५—बाल्मीकि रामायण, बा० का० सर्ग ४२–४३।

६—गङ्गायाः पतन राजन् पृथ्वी न सहिष्यति।
ता वै धारयितुं वीर नान्यं पश्यामि शूलिन :॥ ४२। २४ बा० रा० बा० का०

७—४३। १२—१४ बा० का०—वही।

८—ब्रह्मणा कमण्डलुवकेन पूजितात् भगवच्चरणान्तर्गतस्य गगातोयस्य हरजटाजूट गमनश्च।
ब्रह्मपुराण (गौतमी महात्म्य वर्णन), अ० ४–८।

९—विष्णोरिवाङ् घ्रे र्नखरश्मिरञ्जिता करैरिवान्द्रोर्भवमूर्धि लालिता।
भिन्ना हिमाद्रेस्तु हिनै रिवोच्च कैश्चकास्ति या क्षीरसहोदरद्युतिः। ९। ७१ धर्म०

१०—बा० रामायण, सु० का९ सर्ग २२

११—ततो मध्यात्समुद्रस्य सागरः स्वयमुत्थित :। २२। १७ सु० का०

१२—२२ । २६ सु० का०

१३—तानि कोटि सहस्त्राणि वानराणाम् महौजसाम् ॥
बन्धतः सागरे सेतु जग्मु. पारं महोदधे : । २२ । ७८ । ७६ सु० का०

१४—त्वमत्र पात्रीप समीहितं ददत्प्रसिद्धिपात्रं परमं भविष्यसि ।
प्रभिन्न तृष्णे जलधौ कर्मधिनो न बद्धपीताबपवादमादधु : ॥ १८ । ३६ धर्म०

१५—यन्निवेदयसे लका पुरी भीमस्य रक्षस : ।
क्षिप्रमेना वधिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ वा० रामा०,सु० का० ४।४२

१६—ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजित ।
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणा दिशम् ॥ वहीं, ४ । २३

१७—क्रमान्न पाची हरिसेनयावृतौ बभौ सकाकुत्स्थ इव''''''॥ ६ । ५ धर्म०

१८—वा० रामा०, उत्तर का । ६५–६६ सर्ग

१९—तस्मादिय नरवरात्मज शुद्ध भावा दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रविष्टा ।
लोकापवादकलुषीकृत चेतसा या त्यक्ता त्वया प्रियतमा विदितापि शुद्धा ॥६६ २४ उत्तर काण्ड

२०—नृपेषु रामस्त्वमितोररीकुरु प्रसीद सीतामिव काननस्थलीम् ॥ १०।५६ धर्म०

२१— बा० रामा०, उ० का० सर्ग ६६

२२— यामेव रात्रिं शत्रुघ्न : पर्णशालां समाविशत् ।
तामेव रात्री सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ॥ वही ६६ १

२३—तत्स्वयो पूर्वजो जात : स कुशैर्मन्त्रसत्कृतै ः।
निर्माजनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत् ॥ यश्चावरो भवेत तम्या लवेन सुसमाहित ः।
निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लं वेति च स नामतः ॥ ६६ ७–८, वा० रा० उ० का० ।

२४—कुशोपच्छा द्रुतमालपल्लवा । १० । ५६ धर्म०

२५—वा रामा०, प्ररण्य का० १८ २६

२६—वास्यः सहितायमेष सभ्रमस्य विमुच्यताम् । अहं राम सह भ्रात्रा नयामि यम सादनम्
हतस्याथ मन्द प्राणस्य संयुगे । रुधिरं रस्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ वही २२ । १५

२७—परिच्छिन्न हस्तस्प शक्रध्वज इवाग्रत : । स कराभ्या विकीर्णाभ्या पपातभूमिदूषण ।२२ ४०५

२८—बयौ स काकुत्स्थ इवास्तदूषण । ६।५१ धर्म०

२९—रावण विजमी लोकान्सर्वान् जित्ता क्रमेण तु ।
कैलास तोलयामास बहुभिः परिघोपमः ॥ उत्तर का० २ २५५ भ्रध्याम राम

३०—तस्योद्धताद्रिद्व राकचरा युदे वहन्न येनैक्षि महीमहीश्वर ।
नाश्चर्य कृतस्य बभूव तद्वयं स येन हस्टस्त्रिजगत्करंधर ।६ १७ धर्म ०

भजन

पुजारी ! हृदय के पट खोल !
कोई गावें, कोई रोवें उनसे तू मत बोल ।। पुजारी ।।

तू न किसी का कोई न तेरा ।
नाहक करता मेरा तेरा ।।
तुझे पड़ी है क्या दुनियां की, मत रस में विष घोल ।।

तेरी सूरत सुन्दर प्यारी ।
उसकी विमल छटा है न्यारी ।।
इधर उधर मत फिरे भटकता, व्यर्थ बजावत ढोल ।।

तेरे घट में है परमातम ।
बना मूढ मत भूले आतम ।।
तेरे घट में छिपा हुआ है, तेरा रतन अमोल ।।

ज्ञान दीप से तिमिर भगादे ।
आतम शक्ति पुनः सरसादे ।।
भक्ति तुला से मन के मन से, मन के मन को तोल ।।

चारों वर्णों के कर्म

प्रो० रमेशचन्द जैन
प्राध्यापक-वर्धमान जैन डिग्री कालेज,
बिजनौर (उ० प्र०)

"आचार्य सोमदेव ने इस क्षेत्र में एक अनोखा प्रयोग किया। समय के अनुसार उन्होंने गृहस्थ धर्म के दो भेद किये एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म का आधार लोक है और पारलौकिक धर्म का आधार है आगम"।

जैन पुराण साहित्य से पूर्ववर्ती परम्परा का जहां तक सम्बन्ध है, वरांगचरित के रचयिता जटासिंहनन्दि ने ब्राह्मण वर्ण का मुख्य कर्म दया, क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कर्म अभिरक्षा, वैश्य वर्ण का मुख्य कर्म कृषि और शूद्र वर्ण का मुख्य कर्म शिल्प बतलाया है।[1] इसके बाद सर्व प्रथम पद्मचरित में शूद्रो को नीच कर्म का करने वाला बताया गया है। पद्मचरित के कर्ता के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने जिन्हें आपत्ति से रक्षा करने में नियुक्त किया वे अपने इस गुण के कारण इस लोक में क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध हुए जो वाणिज्य कृषि और गोरक्षा आदि व्यापार मे नियुक्त किए गए ये लोक में वैश्य इस नाम से सम्बोधित किए गए तथा जो इन सब बातों को सुनकर लज्जित हुए और नीच कर्म करने लगे वे शूद्र कहे गए। एक अन्य स्थान पर वैश्यो का कर्म शिल्प कहा गया है साथ ही यहां पर इस बात का भी निर्देश है कि श्रुत अर्थात् सदागम से जो दूर भाग खड़े हुए वे शूद्र इस नाम को प्राप्त हुए।[2] पद्मचरित का शूद्रो के विषय में यह उल्लेख हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन को अभिमत नहीं हुआ अतः अपने से निकट पूर्ववर्ती के कथन को न मानकर प्राचीन परम्परा के अनुसार इन्होने भी शूद्रों का प्रमुख कर्म शिल्प प्रतिपादित किया।[4] जिनसेन के इस प्रयत्न के बावजूद भी शूद्रों के विषय में इतर परम्परा

में जो धारणा की उसने जबर्दस्त प्रभाव डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि महा पुराणकार आचार्य जिनसेन ने पद्मचरित के रचयिता से एक कदम और आगे बढ़कर शूद्रों का मुख्य कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की शुश्रूषा बतलाकर उनके कारू अकारू भेद करके स्पृश्यता की भी भेद रेखा खीच दी।[४] इसका परिणाम यह हुआ कि लौकिक दृष्टि से शूद्रों का समान स्थान न रहकर वे निम्नकोटि में आ गिरे जिसके कारण क्षत्रिय और वैश्यो को भी ब्राह्मण वर्ण के क्रमिक नीचे स्तर पर आना पडा। वैश्यो ने तो इस निर्धारित व्यवस्था को स्वीकार कर लिया लेकिन क्षत्रियो ने स्वभावत अपनी शूरता के कारण अपने को ब्राह्मणो से निचले स्तर पर मानना स्वीकार नहीं किया। फलतः ब्राह्मण और क्षत्रियो मे अपने अपने श्रेष्ठत्व को लेकर दीर्घकाल तक सघर्ष चलता रहा। अतः धार्मिक परम्परायें भी विभाजित सी हो गई। ब्राह्मण प्रमुख रूप से यज्ञ तथा अन्य वैदिक क्रियाकाण्डो के पोषक हो गए जबकि क्षत्रिय आत्मविद्या या ब्रह्म विद्या को ही श्रेष्ठ स्थान देकर वे उसके सरक्षक बने रहे। छान्दोग्य उपनिषद मे एक कथा आती है कि किसी ब्राह्मण का लडका बहुत सारी विद्या ग्रहण कर अपने पिता के घर आया। पिता के पूछने पर कि बेटा तुमने क्या क्या पढ़ा है। उसने उत्तर दिया कि पिताजी मैंने सभी विद्याओ को सीखा है। पिता बोला कि तुम्हारी बात पर मैं इस तरह विश्वास नही करता हूं। अमुक व्यक्ति अत्यधिक ज्ञानी है यदि उसकी बात का उत्तर दे दोगे तो मैं मान लूंगा कि तुमने सभी विद्यायें सीख ली हैं। वह पुत्र उस व्यक्ति के पास जाता है। उसके द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर कि यह तो बताओ कि यह आत्मा इस शरीर में कहां से आती है और मृत्यु के बाद इस शरीर को छोड़कर कहा चली जाती है। यह पूछे जाने पर पुत्र चुप होकर पुन. पिता के पास वापस लौट जाता है। वस्तु स्थिति का पता लगाकर पिता कहता है कि जाओ उन्ही से प्रार्थना करो वे ही तुम्हे उक्त शका का समाधान देंगे। पिता की आज्ञानुसार पुत्र पुन. उस व्यक्ति के पास जाता है। वहां पर वह व्यक्ति उसकी प्रार्थना स्वीकार कर कहता है कि क्षत्रियो की यह विद्या सर्वप्रथम मैं तुम्हें देता हूं। कहने का तात्पर्य यह कि आत्मविद्या के स्वामी क्षत्रिय माने जाते थे। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से तथा गार्गी ने अनन्त आत्म से ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त किया। राजसूय यज्ञ मे राजा का स्थान तथा आसन ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एव उच्च होता था। ऐसा मालूम पडता है कि यह स्थिति बाद तक कायम न रह सकी। वैदिक क्रियाकाण्डो की भरमार होने के कारण तथा साधारण जनता का उसके प्रति आकर्षण होने के कारण ब्राह्मण का श्रेष्ठ स्थान स्वीकार कर लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कई क्षत्रिय तथा अन्य जातिया भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति की कोशिश करने लगे। रामायण तथा अन्य ग्रथो मे निर्दिष्ट विश्वामित्र आदि का क्षत्रियादि से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करने की कोशिश के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जन्मना वर्ण स्वीकार करने की परम्परा अभी उतनी दृढ नही हुई थी। महाभारत मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिन्होंने पहले क्षत्रियो से जन्म लिया था, वे भी ब्राह्मण हुए है। देखो, विश्वामित्र आदि ने क्षत्रिय कुल मे जन्म लेकर अनश्वर अव्यय ब्राह्मण का पद प्राप्त किया था। अधमीकरण से तथा अपने वर्ण के लिए उचित कर्तव्यो का पालन न करने से उच्च वर्ण का व्यक्ति भी अपने से निम्न वर्ण को प्राप्त होता था अतः स्पष्ट है कि शूद्र कुल मे उत्पन्न होकर भी कर्मानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण को प्राप्त किया जा सकता था तथा कर्तव्य से च्युत होकर ब्राह्मण भी शूद्रत्व को प्राप्त होता था। मनुस्मृति से भी इस बात की

पुष्टि होती है। इतना होने पर भी जन्मना वर्ण व्यवस्था तथा उसके आधार पर ऊंच-नीच ठहराने पर विशेष बल दिया गया। यहां तक कहा गया कि ब्रह्मा ने मुख, बाहु, उरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की सृष्टि की। इसका प्रभाव कुछ अच्छा नही पडा। ब्राह्मण कि जो अहिंसा प्रेमी, सत्य वचन बोलने वाला, क्षमायुक्त और वेदाभ्यासी माने जाते थे वे अब भयंकर क्रोधी के रूप में माने जाने लगे या जन्मना श्रेष्ठ ठहराए जाने के कारण अन्य वर्णों के प्रति वे उतने नम्र न रहे फिर भी समाज ने उनके प्रति उदारता ही रखी। महाभारत कहता है—ब्राह्मण सर्व जीवों के अवध्य हैं, क्योंकि वह अग्नि के समान है। ब्राह्मण सब भूतों के गुरु हैं। वह क्रोधित होने से अग्नि सूर्य विष और अश्व के समान बन जाते हैं। साधु लोग इसी हेतु ब्राह्मण को पूजन करते हैं, बेटा! क्रोध से उछल उठने पर भी तुम कभी ब्राह्मण वध मत करना, कभी ब्राह्मण को हानि न पहुंचाना, हे अनघ! व्रतशील ब्राह्मण क्रोधित होकर जिस प्रकार भस्म करते है, अग्नि और सूर्य भी इस प्रकार भस्म नही करते। इन्ही कारणों से ब्राह्मणों का सम्मान करना, ब्राह्मण सर्व भूतों के अग्रज वर्णों में श्रेष्ठ, पिता और गुरु हैं। एक तरफ तो विश्वामित्र से पीडित शरण मे आई हुई नन्दिनी के प्रति वशिष्ठ का यह उपदेश कि क्षत्रिय का बल तेज और ब्राह्मण का बल क्षमा है, सो मैं क्षमा गुण से आकृष्ट हो रहा हूं। यदि तुम चाहो तो जाओ। दूसरी ओर ययाति और देवयानि का संवाद। ययाति बोले कि ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि क्रोधपूरित विषयुक्त सर्प और तेज शस्त्र से भी ब्राह्मण कठोर होते हैं। देवयानी ने पूछा की पुरुषर्षभ! क्यों कर यह कहा कि तेज विषयुक्त सर्प और तेज शस्त्र से ब्राह्मण कठोर होते हैं। ययाति बोले कि सर्प काटने से एक मनुष्य मरता है और शस्त्र से भी एक मनुष्य मारा जाता है पर ब्राह्मण क्रोधित होकर राज्य, नगर सम्पूर्ण के साथ एक ही काल में नष्ट कर डालते हैं। हे भद्रे! मैं इन कारणों को कठोर समझता हूं, सो मैं बिना दान किए तुमसे विवाह नहीं कर सकता हूं। इन सब बातों से जन्मना वर्ण व्यवस्था स्वीकार करने के परिणाम का स्पष्ट दिग्दर्शन मिल जाता है।

इस प्रकार के विचारों और परिवर्तन का प्रभाव जैन परम्परा पर भी पडा। जहां तक वैदिक परम्परा का सम्बन्ध है, इस परम्परा के सभी शास्त्रकारों ने शूद्रों का मुख्य कर्म सेवा ही बतलाया है– उदाहरणार्थ—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(गीता १८।४४)

शूद्रस्य सन्ततिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया
अमन्त्र यज्ञो ह्यस्तेय सत्यं गो-विप्र रक्षणम्॥
(श्री मद्भागवत ७।११।२४)

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
(मनु० १।६१)

शूद्रस्य द्विज शुश्रूषा तया ऽजीवन् वणिग्भवेत।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजाति हितमाचरन्॥
(याज्ञवल्क्य स्मृ० १।१२०)

इन सबसे स्पष्ट पता चलता है कि वैदिक परम्परा मे प्रायः सभी ने शूद्रो का कर्म सेवा कर्म बतलाया है। याज्ञवल्क्य स्मृति भी यही कहती है, लेकिन इसमे इतना विशेष है कि शूद्रो का कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सेवा के साथ साथ शिल्प भी बताया है। प्राचीन जैन परम्परा शिल्प को ही शूद्र का मुख्य कर्म स्वीकार करती है, वरांगचरित के कथन से यह स्पष्ट है। महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्रों का कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सेवा बताया। इस स्थान पर महापुराणकार वैदिक परम्परा के मनुस्मृति आदि ग्रन्थो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

जिस प्रकार रविषेणाचार्य के उत्तरवर्ती हरिवंश पुराणकार जिनसेन को अपने पूर्ववर्ती का शूद्र विषयक यह मन्तव्य कि नीच वृत्ति के आश्रय से शूद्र कहलाए, मान्य न होकर उन्होने पुनः शूद्रों का कर्म शिल्प निर्धारित किया उसी प्रकार आदि पुराणकार के शिष्य आचार्य गुणभद्र को भी अपने गुरु का किया हुआ वर्ण विभाग स्वीकार नही हुआ। इस मामले में तो वे हरिवश पुराण के कर्ता जिनसेन से भी बहुत आगे निकल गए। उन्होने तो यहां तक कह दिया कि जिनके जाति नाम कर्म और गोत्र कर्म शुक्लध्यान के कारण है जो त्रिवर्ण हैं और शेष शूद्र कहे गए हैं। विदेह क्षेत्र मे मुक्ति के योग्य जाति सन्तति का विच्छेद नही होता क्योकि वहां मुक्ति योग्य जाति सन्तति के योग्य नाम कर्म और गोत्र कर्म से युक्त जीवो की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र मे चतुर्थकाल मे ही मुक्त योग्य जाति सन्तति पाई जाती है। जिनागम मे मनुष्यो मे वर्ण विभाग इस प्रकार बतलाया गया है। इस प्रकार तो भरत और ऐरावत क्षेत्र मे चतुर्थ काल के सिवा अन्य कालों में सब मनुष्यमात्र शूद्र होते है। इसके बाद के आचार्य सोमदेव ने इस क्षेत्र में एक अनोखा प्रयोग किया। समय के अनुसार उन्होने गृहस्थ धर्म के दो भेद किए-एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। सब जातियो और उनका आचार व्यवहार अनादि है यह लौकिक विधि है लेकिन पारलौकिक दृष्टि से तो जैन आगम की विधि ही सर्वोत्तम है. क्योंकि ससार भ्रमण से मुक्ति का कारण वर्ण भ्रम धर्म मानना उचित नही है। और ससार का व्यवहार स्वत सिद्ध होते हुए भी उसमे आगम की दुहाई देना भी व्यर्थ है। ऐसी सब लौकिक विधि जिसमें सम्यक्त्व की हानि नही और व्रतो में दूषण नही आता, जैना को प्रमाण है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से वर्ण व्यवस्था और तदनुसार आधारित कर्म को स्वीकार करते हुए भी आचार्य सोमदेव पारलौकिक दृष्टि मे उसे कुछ भी महत्व नही देते हैं जो कि जैन परम्परा का मूल है।

---

१. वरागचरित २५/११
२. पद्मचरित ३/२५५-२५६
३. वही ११/२०२
४. हरिवशपुराण ६/३६
५. महापुराण १६/१८५-१८६
६. भारतीय संस्कृति के मूल तत्व पृ० ३७
   ले० —सत्यनारायण पाण्डेय तथा डा आर. वी. जोशी
   (साहित्य निकेतन कानपुर)
७. वही पृ० ३८
८. महाभारत आदिपर्व सभवपर्व अध्याय १३६/१४
९. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्।
   क्षत्रियाज्जातमेव तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥
१०. मनुस्मृति १/३१ पुरुषसूक्त, याज्ञवल्क्य स्मृ० प्रायश्चिताध्यायः प्रश्न १२६
११. महाभारत आदिपर्व १२/१३-१६
११. महाभारत-आदिपर्व २८/३-८
१३. महाभारत आदिपर्व अ० १७७/२८
१४. वही अ० ८१/२४-२६
१५. उत्तरपुराण—७४/४६२-४१५
   यशस्तिलक चम्पू आश्वास ८ पृ० ३७३

पीठिकादि मंत्र और शासनदेव

स्व. श्री पं० मिलापचन्द कटारिया
केकड़ी (राजस्थान)

> इस लेख के लेखक समाज के जाने माने विद्वान् हैं। जैन शास्त्रों का उनका तलस्पर्शी अध्ययन सर्व विदित है। उनका यह लेख विद्वानों को इस दिशा में चिन्तन और मनन की ओर प्रेरित करेगा इस पवित्र भावना और ध्येय से इसे हम प्रकाशित कर रहे है। समाज में इससे किसी विवाद का जन्म हो ऐसा इसका उद्देश्य कतई नही है। आशा है हमारे पाठक भी इस ही भावना से इसे पढ़ने का कष्ट करेंगे।
>
> —सम्पादक

कुछ पंडितों का कहना है कि आदि पुराण मे भगवज्जिनसेन ने पीठिकादि मंत्रो में "सौधर्माय स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वाहा" "अनुचराय स्वाहा" इत्यादि सुरेन्द्र मंत्र लिखे हैं। तथा अग्निकुमारों के इन्द्र और कुबेर का भी मत्रो मे उल्लेख किया है। ऐसा कथन करके आचार्य जिनसेन ने देवगति के देवो की पूजा करने का संकेत किया है उससे शासन देवों की पूजा करना सिद्ध होता है।

नीचे हम इस लेख में इसी बात पर ऊहापोह करते हैं—

आशाधर जी आदि कृत प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे चक्रेश्वरी आदि २४ यक्षियो को शासन देवता और गोमुख आदि २४ यक्षों को शासन देव के नाम से लिखा है। इसके अलावा नवग्रह, दशदिग्पाल, क्षेत्रपाल, जयादि देवियें और रोहिणी आदि विद्या देवियें इत्यादि देवदेवियों की यागमडल मे स्थापना कर उनकी प्रतिष्ठादि ग्रन्थो में पूजा करने का कथन आता है। उनमें से भी किसी देव देवी का नाम इन पीठिकादि मंत्रो में नहीं है। जब कि क्रियाकाडी ग्रन्थो में अधिकतर इन्हीं की पूजा–आराधना लिखी है तब जिनसेन का पीठिकादिमंत्रों में उनमें से किसी एक का भी उल्लेख न करना यह बताता है कि आचार्य श्री जिनसेन उक्त देव-देवियों की पूजा आराधना करने के पक्ष मे कतई नहीं थे।

रही बात सुरेन्द्र मंत्रों की सो इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि भगवज्जिनसेन ने आदि पुराण में गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यंत ५३ गर्भान्वय क्रियायें कही हैं। उनमे से सब से उत्तम ७ क्रियाओं को परमस्थान बताते हुये उनका कर्त्रन्वय नाम करण किया है।

अगले तीसरे भव में तीर्थंकर होने वाला जीव जब उच्चवर्ण के शुद्ध जाति कुल मे जन्म लेकर गर्भाधानादि संस्कारों से युक्त होता है तब उसके सज्जाति नामक प्रथम परमस्थान माना जाता है। सज्जाति ही आत्मोन्नति का मूल आधार है। वह सज्जाति का धारी सम्यग्दृष्टि श्रावक जब इज्या, वार्ता, दति, आदि षट्कर्मों को करता हुआ धर्म मे दृढ़ रहता है, अन्य गृहस्थों मे न पाई जाव ऐसी शुभ वृत्ति का धारी होता है और पाप रहित आजीविका करता है तथा शास्त्र ज्ञान और चरित्र मे विशिष्ट होता है तब वह गृहस्थो का स्वामी गृहस्थाचार्य कहलाता है इसे ही गुहीशिता नामकी २० वी क्रिया कहते है और यही सद्गृहित्व नामका दूसरा परमस्थान कहलाता है। वर्णोत्तम, महादेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इन नामो को कहकर लोग उसका सत्कार करते हैं। (आदिपुराणपर्व ३८ श्लो० १४७) उक्त सद्गृहस्थ जब वस्त्रादि परिग्रहो का त्यागकर जिन-दीक्षा धारण करता है तब उसके जिनरूपता नाम की २४ वो क्रिया होती है। यह ही पारिव्राज्य नामक तीसरा परमस्थान कहलाता है। इस क्रिया का धारी ही आगे चलकर सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बध करता है। वह मुनि समाधिमरण से प्राण त्याग कर जब स्वर्ग मे उत्पन्न हो इन्द्रपदवी का धारी होता है तब उसके इन्द्रोपपाद नामकी ३३वीं क्रिया होतो है और वह ही सुरेन्द्रत्व नामक चौथा परमस्थान कहलाता है। फिर वह इन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर गर्भ-जन्म-कल्याणक से युक्त तीर्थंकर हो चक्रवर्तिपद का धारी होता है तब उसके साम्राज्य नामकी ४७वीं क्रिया होती है और वही साम्राज्य नामक ५ वां परमस्थान माना जाता है। तदनतर वे तीर्थंकर दीक्षा ले मुनि हो तप कर कैवलज्ञान पा अर्हंत अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनके अष्टप्रातिहार्य, बारहसभायें, समवशरण आदि विभूतियें होती हैं, इसे ही ५०वी आर्हंत्य क्रिया कहते हैं और यही ६वां परमार्हंत्य नामक परमस्थान माना जाता है। इस अर्हंत अवस्था के बाद जब उन तीर्थंकर की मोक्ष होती है तब वह ५३वी अग्रनिर्वृत्ति नाम की क्रिया कहलाती है और यही "परंनिर्वाण" नामक ७वा परमस्थान माना जाता है।

यद्यपि ये क्रियायें गर्भान्वय की ५३ क्रियाओ के ही अतर्गत है तथापि जब ये क्रियाये किसी तीर्थंकर होने वाले जीव के होती हैं तब उनकी कर्त्रन्वय नाम से जुदी सज्ञा कही जाकर वे स्थान परमस्थान माने जाते है। जैसे गर्भ से सबधित क्रियायें गर्भान्वय कही जाती है, और दीक्षा से सबधित क्रियायें दीक्षान्वय कही जाती है। उसी तरह किसी विशिष्ट कर्ता से (तीर्थंकर जीव से) सबध रखने वाली क्रियाये कर्त्रन्वय कहलाती हैं। नही तो कर्त्रन्वय सज्ञा का अन्य क्या अर्थ हो सकता है? अतिनिकट काल मे तीर्थंकर होने वाले ऐसे जो कोई पुण्यशाली जीव हैं उन्ही के ये कर्त्रन्वय क्रियाये होती हैं। आदिपुराण मे लिखा है कि—

अथात. सप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रिया.।
याः प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयु र्भव्यदेहिनः ॥८१॥
पर्व ३९

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुन्यकर्तृभि.।
फलरूपतया वृत्ता. सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये।
अर्हन्वाग्मृता स्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम्॥ ६८॥
पर्व ३८

अर्थ—अथानंतर हे द्विजो मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओं को कहता हूं जोकि अतिनिकट भव्यप्राणी ही के हो सकती हैं।

कर्त्रन्वय क्रियायें वे हैं जो पुन्य करने वालो को प्राप्त होती हैं। और जो समीचीन मार्ग की (सोलह-कारण की) आराधना करने के फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं। उनके नाम-सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, परमार्हंत्य और परंनिर्वाण। ये तीन-जगत मे ७ परमस्थान माने गये हैं। ये स्थान अर्हंत के वचनामृत से जीवो को मिलते हैं। अर्थात् जिनवाणी के अभ्यास से मिलते हैं।

ये ही सात परमस्थान पीठिकादि सात जाति के मन्त्रो मे गर्भित हैं। वे इस तरह कि-पीठिका मन्त्रो मे परनिर्वाण स्थान, जातिमंत्रो मे सज्जाति स्थान, निस्तारक मन्त्रो मे सद्गृहित्व, ऋषिमन्त्रो मे पारिव्राज्य, सुरेन्द्रमन्त्रो में सुरेन्द्रस्थान, परमराजादिमन्त्रो मे साम्राज्य स्थान और परमेष्ठिमन्त्रो मे परमार्हंत्य स्थान। इस प्रकार सातो जाति के मन्त्रो मे सातो परमस्थान गर्भित हो रक्खे हैं।

इन परमस्थानो के जिस अनुक्रम से ऊपर नाम लिखे हैं उसी अनुक्रम से ही वे तीर्थंकर होने वाले जीव के होते हैं। ऐसा आदिपुराण के निम्नपद्यों से प्रगट होता है—

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां
　　　　　　जातस्ततः सद्गृही।
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य
　　　　　　यातो दिवम्॥
तत्रैन्द्री श्रियमाप्तवान्
　　　　　　पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां।
प्राप्तार्हंत्यपदः समग्रमहिमा
　　　　　　प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम्॥२११॥ पर्व ३९

अर्थ—वह भव्य पुरुष प्रथ म ही योग्य जाति सज्जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है। फिर गुरू के पास से उत्कृष्ट परिव्रज्या (मुनि दीक्षा) धारण कर स्वर्ग जाता है। वहां उसे इन्द्र की संपदा मिलती है। तदनंतर वहां से च्युत होकर चक्रवर्ती पद को प्राप्त होता है। फिर अर्हंत पद को पाकर समस्त महिमा का धारी होता है। और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त करता है।

इस विवेचन मे साफ तौर पर यही सिद्ध होता है कि पीठिकादि सप्तविधमन्त्रों मे केवल सप्त परम स्थानो का उल्लेख है वहा शासन देवों का कोई प्रसग ही नही है। सुरेन्द्रमत्र भी सुरेन्द्र नामक परमस्थान की वजह से समझने चाहिये, न कि शासनदेव की वजह से अथवा भाविनैगमनय की दृष्टि से तीर्थंकर पूज्यता को लेकर यह सब मत्र कल्प समझना चाहिये। खास ध्यान देने योग्य चीज यहां यह भी है कि इन सात जाति के मंत्रो में जो अर्हंत, सिद्ध और ऋषि वाचकमंत्र है। उनके आगे आचार्य ने केवल नमः शब्द लगाया है, स्वाहा शब्द भी नहीं लगाया है। और शेष मंत्रो के आगे बिना नमः शब्द के खाली स्वाहा शब्द लगाया है। इसका कारण स्पष्टतः यही मालूम होता है कि अर्हंत, ऋषि खास पूजनीय होने से उनके आगे नमः शब्द का प्रयोग किया है। और शेष परमस्थान पूजनीय नहीं होने से उनके आगे नमः शब्द नहीं लिखा है। खाली स्वाहा शब्द लिखकर आहुति देने मात्र उनका सम्मान प्रदर्शित किया है। वह भी गर्भाधान, विवाहादि सासारिक कार्यों मे ही। और अर्हंत, सिद्ध व ऋषि वाचक मन्त्रो के आगे जो स्वाहा शब्द भी नही लगाया गया है उससे आचार्य का अभिप्राय उनको यहा आहुति दिलाने का भी नही जान पडता है। क्योंकि दूसरों को आहुति देने के साथ इनको भी आहुति देने के लिये स्वाहा शब्द लिख देते तो पूजा की पद्धति सब को समान हो जाती। ऐसा होना आचार्य को अभीष्ट नही था।

इसलिये आचार्य ने अर्हन्तादिकों के आगे स्वाहा शब्द नहीं लिखा, खाली नमः शब्द लिखकर यह भाव दर्शाया है कि अर्हंतादिक को यहां आहुति नही देनी चाहिये, नमस्कार करना चाहिये।

यहां आचार्य जिनसेन ने तो सुरेन्द्र परमस्थान के धारी सुरेन्द्र तक को सुरेन्द्रमंत्रों मे नमस्कार के योग्य नही माना है। ऐसी हालत मे आशाधरादि-को का अपने-अपने प्रतिष्ठापाठादि क्रियाकांडो ग्रंथो मे भवनत्रिक शासन देवो की जो किसी तरह परमस्थान के धारी भी नहीं है अर्हंतादि को तरह नम. शब्द के साथ पूजा का कथन करना निश्चय ही जिनसेनाचार्य की आम्नाय से बहिर्भूत है। अत. मान्य नही है।

यहा ऐसा भी नही समझना कि-सुरेन्द्रमंत्रो मे स्वाहा शब्द से इद्र को आहुति देने का कथन करके ग्रंथकार ने शासन देवो की पूजा का आशय व्यक्त किया है। ग्रथकार तो सुरेन्द्रमत्रो की तरह गृहस्था-चार्य केवाचक निस्तारक मंत्रो मे भी स्वाहा लिखते है इससे यही फलितार्थ निकलता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि स्वाहा शब्द लिखने वक्त परमस्थान की तरफ थी जिससे दोनो ही परमस्थानीय होने से दोनो ही के मंत्रो मे उन्होने स्वाहा लिखा दिया है। "क्या कोई शासन देव भी होते हैं?" ऐसा तो उनके विचारो मे भी नही था।

प्रश्न— अगर ऐसी ही बात थी तो पीठिकामत्रो मे अग्निकुमारो के इन्द्र का नाम और निस्तारक मंत्रो मे कुबेर का नाम तथा सुरेन्द्रमत्रो मे "अनुच-राय स्वाहा" जिसका अर्थ होता है इन्द्र के अनुचरो को स्वाहा इत्यादि उल्लेख क्यो किये है? ये तो परमस्थान भी नही है फिर इन सब को स्वाहा कैसे लिखा?

उत्तर—पीठिकामत्रो मे से जिस मंत्र अग्नि-कुमारो के इन्द्र का नाम आया है वह मंत्र यह है- सम्यग्दृष्टे २ आसन्नभव्य २ निर्वाणपूजार्ह २ अग्नीद्र स्वाहा।" इसमें स्वाहा के पूर्व चतुर्थी विभक्ति नहीं है जैसाकि अन्य मंत्रों में है किन्तु संबोधन है। इसलिये अग्नीन्द्र के लिये "स्वाहा" ऐसा अर्थ तो यहां होता नही है। अग्निकुमारो के इन्द्र की गणना सप्त परमस्थानो मे भी नही है इसलिये भी उसके स्वाहा नही लिखा जासकता है। अनेक दूसरे मन्त्रो के देखने से ऐसा विदित होता है कि कितने ही मंत्रो मे स्वाहा शब्द का प्रयोग उस मंत्र की पूर्ति अर्थ मे किया जाता है। यानी आखीर मे स्वाहा लिखकर उस मत्र की समाप्ति की सूचना दी जाती है। इसके सिवा वहा स्वाहा का अर्थ आहुति देना या द्रव्य अर्पण करना घटित नही होता है। उदाहरण के लिये प्रतिष्ठापाठो मे शुद्धि मत्र इस प्रकार लिखा मिलता है—

ओं ह्री अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय २ झ्वी क्ष्वी हस. स्वाहा।" ऐसा बोलकर जल के छींटे देवे। तथा विघ्न निवारण मत्र ऐसा लिखा है—

ओं हूं क्षूं फट् किरिटि २ घातय........ हूं फट् स्वाहा।" बोलकर सरसो फेंके। ओं नमोर्हते सर्व रक्ष २ हूं फट् स्वाहा।" इसे ७ बार बोलकर पुष्पाक्षत परिचारको पर डाले। यह रक्षामत्र है। इसी तरह सकलीकरण विधि मे 'ओं ह्रा णमो सिद्धाणं स्वाहा" बोलकर ललाट का स्पर्श करे। इत्यादि इसी तरह से स्वाहा का प्रयोग यहा पीठिका मत्रो मे जिनसेन ने अग्नीद्र के साथ किया है। इस प्रकार के मांत्रिक प्रयोग जिनसेन ने आदि पुराण मे अन्यत्र भी किये हैं। देखिये पर्व ४० के श्लो० १२२ और १२६—

"सम्यग्दृष्टे २ सर्वमात. २ वसुन्धरे २ स्वाहा" बोलकर बालक का नाभिनाल पृथ्वी मे गाड दे। "जिस प्रकार सम्यक्त्व को धारण करने वाली जिनमाता सब की माता है उसी प्रकार सबकी आधारभूत होने से पृथ्वी भी सबकी माता है ऐसी

हे पृथ्वी" ऐसा इस मंत्र का भावार्थ है । सम्यग्दृष्टे यह विशेषण जिनमाता का है पृथ्वी का नहीं है। और सर्वमातः यह विशेषण दोनो ही का है ।

"सम्यग्दृष्टे २ आसनभव्ये २ विश्वेश्वरि २ ऊर्जितपुन्ये २ जिनमाता २ स्वाहा।" यह मंत्र बोलकर पुत्र की माता को स्नान करावे ।

सासारिक कार्यो को करते हुये पुण्य पुरुषो के नाम का उच्चारण करके यह भावना व्यक्त करना कि उन जैसे हम भी होवें या उनका स्मरण करना ऐसी इन मंत्रो की शैली मालूम देती है ।

इससे सिद्ध होता है कि-पीठिकामत्रो मे अग्नीन्द्र 'स्वाहा' का अर्थ अग्नीन्द्र के लिये पूजाद्रव्य अर्पण करने का नही है। किन्तु वहां स्वाहा का प्रयोग मन्त्रपूर्ति के लिये किया गया प्रतीत होता है।

चूंकि केवलियो के निर्वाण के वक्त उनका निर्जीव शरीर अग्निकुमारो के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि से दग्ध हुआ करता है । इसलिये पर-निर्वाण नाम के परमस्थान के सूचक इन पीठिका मन्त्रो के साथ अग्नीद्र का उल्लेख किया गया हैं। इसी से मन्त्र मे उसका एक विशेषण "निर्वाणपूजार्ह लिखा है। जिसका अर्थ होता है केवलिया की निर्वाणपूजा मे काम आने योग्य ।

इसी प्रकार वैश्रवण-कुबेर के लिये समझ लेना चाहिये। मन्त्र में वैश्रवण शब्द को भी अग्नीन्द्र की तरह ही सबोधनात लिखकर आगे उसके स्वाहा लिखा है। अतः यहां भी चतुर्थी विभक्ति न होने से कुबेर के लिये स्वाहा नही लिखा है।

तथा सुरेन्द्रमन्त्रों मे एक मन्त्र "अनुचराय-स्वाहा" आता है जिसका अर्थ इन्द्र के अनुचर के लिये स्वाहा किया जाता है। ऐसा अर्थ करना गलत है। वाक्य में अनुचराय यह चतुर्थी विभक्ति का प्रथम वचन है उससे इन्द्र का एक अनुचर अर्थ प्रगट होता है। इन्द्र के एक नहीं अनेक अनुचर होते हैं अत उक्त अर्थ स्पष्टतः असंगत है । सही अर्थ उसका ऐसा है—"भगवान् का अनुचर-सेवक जो सुरेन्द्र है उसके लिये स्वाहा।" यही अर्थ पुराणे पडित दौलतरामजी ने वचनिका मे किया है।

पुराणे पंडित श्री पन्नालालजी साहब संघी (विद्वज्जन बोधक के कर्ता) और पडित फतहलालजी (विवाहपद्धति के रचयिता) ने तथा कई आधुनिक पंडितों ने पीठिकादि सभी मन्त्रो का अर्थ अर्हत-सिद्ध-गुरु किया है। यहां तक कि सुरेन्द्र और निस्तारक मन्त्र जो स्वर्गेन्द्र और गृहस्थाचार्य के वाची हैं उनमे प्रयुक्त शब्दो के प्रसिद्ध अर्थ की भी उन्होने अवहेलना करके उनका भी अर्थ जिनदेव में ही घटाया है। ऐसा उन्होने क्यो किया ? इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह है कि-इन मन्त्रो मे प्रत्येक जाति के मन्त्र के अन्त में सेवा फलं षट् परमस्थानं भवतु" आदि काम्यमंत्र. आता है। जिसका मतलब होता है उनको सेवा करने का फल षट् परमस्थान को प्राप्ति चाहना । इस प्रकार की इच्छा पूर्ति जिनदेव और गुरु की आराधना से तो हो सकती है किन्तु स्वर्ग के इन्द्र और गृहस्थाचार्य की आराधना से नही हो सकती है वे षट् परम-स्थान आदि की प्राप्ति करा नही सकते हैं।

दूसरा कारण है आदि पुराण का वह वाक्य जो मन्त्रा की विवेचना किये बाद लिखा गया है कि-एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।" आधानादि क्रियाओ में इन मन्त्रो से सिद्धो का अर्चन करना चाहिये यहा इन मन्त्रो से सिद्धार्चन करने की बात कही है। इसलिये मन्त्रों मे आये 'ग्रामपतये स्वाहा" "षट्कर्मणे स्वाहा" कल्पाधिपतये स्वाहा" "सौधर्माय स्वाहा" इत्यादि का अर्थ सिद्ध भगवान करना चाहिये ।

इस प्रकार शब्दो के प्रसिद्ध अर्थ करने से उपरोक्त दो आपत्तियां खडी होती हैं। अतः कोई ऐसा

रास्ता ढूंढा जावे जिससे शब्दो के प्रसिद्ध अर्थ ही किये जावें और उक्त आपत्तियें भी न आने पावें।

इस दिशा मे ऐसा ही कुछ हम यहा लिखने का प्रयत्न करते हैं—

आदिपुराण पर्व ३८ श्लो० ७१ आदि मे लिखा है कि गर्भाधान आदि क्रिया सस्कारो के करते वक्त प्रथम ही वेदी बनाकर उस पर सिद्ध या अर्हंत का बिम्ब विराजमान करे। उस के सामने तीन कुन्डो मे तीन अग्नियो की स्थापना कर वहीं''''' छत्रत्रय और''''''चक्रत्रय की स्थापना किये बाद प्रथम ही सिद्धपूजा करके फिर पीठिकादि मन्त्रो से हवन करना चाहिये" यह सब विधिविधान सिद्धार्चन कहलाता है। इसमे दो बातें बताई हैं-एक तो सिद्ध भगवान की पूजा करना और दूसरी किसी क्रिया-संस्कार के निमित्त मत्रो से हवन करना। हवन करना यहा सिद्धपूजा नही है। सिद्धपूजा तो हवन के पहिले ही हो चुकती है। जैसा कि आदिपुराण मे लिखा है—

तेष्वर्हदिज्याशेषांशैः आहुतिमंत्रपूर्विका।
विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यदा ।।७३
तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यतेऽन्यत्र पर्वणि।
सप्तधापीठिकाजाति मन्त्रादिप्रविभागतः ।।७४।।
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषा मतो जिनेः।
अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकै.
।।७५।। पर्व ३८

अर्थ—अर्हत्पूजा कर चुकने के बाद बचे हुये पवित्र द्रव्यों से पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से उन अग्नियो मे मंत्रपूर्वक आहूति करनी चाहिये। उन क्रियाओ के मत्र तो यथाम्नाय आगे के पर्व मे कहे जायेंगे। वे पीठिकामत्र जाति मन्त्र आदि के भेदो से सात प्रकार के है। वे मत्र गर्भाधानादि क्रियाओ मे काम आते हैं ऐसा भगवान ने कहा है। अत: उस विषय के ज्ञाता श्रावको को प्रमाद छोडकर उनका प्रयोग करना चाहिये।

इस कथन से यही प्रगट होता है कि-ये मंत्र भगवान् की पूजा के नहीं हैं। ये तो गर्भाधानादि क्रियाओ के मंत्र हैं। भगवान् की पूजा तो पहिले हो चुकती है। फिर गर्भाधानादि क्रियाओ के वास्ते उस पूजा के बचे द्रव्यो से मंत्रो को बोलकर आहुतियें दी जाती है। इससे पूजा और मंत्राहुतियें दो जुदी २ चीजें हुई। किन्तु भगवान् की प्रतिमा के सामने उनकी पूजा पूर्वक मत्रो से आहुतियें दी जाने के कारण यह सारा ही विधान समुच्चय रूप से सिद्धार्चन के नाम से कहा जाता है। इसलिये एतैः सिद्धार्चनं" इन वाक्यो का अर्थ इन मत्रो से "सिद्धो की पूजा करे।" ऐसा नही करना चाहिये, किन्तु इन मन्त्रो के साथ सिद्धो को पूजा करे" ऐसा अर्थ करना चाहिये। उसका मतलब यह होगा कि-सस्कार करते वक्त दो काम करने चाहिये-सिद्धो की पूजा करे और मत्रो से आहुतियें देवें दोनो भिन्न २ हैं। मत्रो से आहुतिया देना सिद्धपूजा नहो है। आहुतियो के मंत्र तो गर्भाधान, विवाह आदि सासारिक क्रियाओ के काम के है। इसीलिये ग्रन्थकार ने इन्हे क्रियामत्र के नाम से लिखा है। यथा—

"क्रियामंत्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ"

यही बात इन वाक्यो से भी व्यक्त की है—

"विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषा मतो जिनैः"

तात्पर्य इसका यह है कि ये जैनमंत्र है। इन मत्रो का सासारिक क्रियाओ मे उपयोग करना यह जैनरीति कहलाती है। जो जिनेन्द्र की पूजा संसार और कर्मों के नाश करने के लिये व मोहादि विकारो को मिटाने के लिये की जाती है वह उद्देश्य इन मंत्रो का नहीं है। बल्कि ये मंत्र तो उल्टे गर्भाधान-विवाहादि ससार के बढ़ाने के काम में लिये जाते हैं। और जो ऐसे कामो में सिद्धपूजा की जाती है वह तो मांगलिकरूप से मंगल के तौर पर की जाती है।

५३ गर्भान्वय क्रियाओं में २२वीं गृहत्याग क्रिया के बाद तो हवनादि संभव हो नही है अतः वहां तो इन मंत्रों का कोई उपयोग ही नहीं होता है। गृहत्यागक्रिया से पहिले भी गर्भाधान से लेकर पाच वीं मोद क्रिया तक की क्रियाओं में नवमी निषद्या क्रिया, १०वी अन्नप्राशन क्रिया और १६वीं विवाहक्रिया इन क्रियाओं मे इन मंत्रो का प्रयोग करने का उल्लेख आदिपुराण मे किया है और ये सब क्रियायें सांसारिक हैं। अतः ये मन्त्र सासारिक कार्यों के लिये है ऐसा कहे तो संभवतः इसमे कोई अत्युक्ति नही होगी। और इसीलिये इन विवाहादि क्रियाओ के अनुष्ठान जिन मंदिर मे नहीं होते हैं, गृहस्थ के घर पर होते हैं। जैनरीति से की जाने के कारण व्यवहार मे हम इन्हे धार्मिक क्रियायें कहते हैं। जैन धर्म के गौरव को रखने के लिये ऐसे काम भी बड़े आवश्यक हैं जिससे कि हमे लौकिक कामों मे भी अजैन ब्राह्मणो के अधीन न रहना पडे। और सभवत. इसी ध्येय को लेकर जिनसेन ने यह क्रियाकाड लिखा है।

रही बात "सेवाफल षट् परमस्थानं" की सो तत्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ मे वैय्यावृत्य नाम के तप का वर्णन करते हुये आचार्य उपाध्याय मनोज्ञ आदिको का वैय्यावृत्य करना लिखा है। वहा मनोज्ञ का अर्थ असयत सम्यग्दृष्टि लिखकर उनका भी वैय्यावृत्य करने को कहा है। परमस्थान के धारी सुरेन्द्र व निस्तारक की गणना भी तो वैय्यावृत्य के भेद मनोज्ञ मे ही आती है। उनके मन्त्रों में स्वाहा बोलकर उन्हें आहुतियें देना यह उनका सम्मान है सो ही उनका वैय्यावृत्य है उनकी सेवा है और वह एक तप है। उसका फल यदि कोई षट् परमस्थान की प्राप्ति होना चाहता है तो इसमें क्या असंगतता है? आयतन सेवा भी धर्म का अंग है ही। और स्वामी समंतभद्र ने भी रत्नकरंड मे देव पूजा तक का समावेश वैय्यावृत्य में किया है।

इस प्रकार पीठिकादि मन्त्रों मे प्रयुक्त कतिपय शब्दो का अर्थ अगर सिद्ध भगवान् न करके उनका सहजरूप से होने वाला प्रचलित अर्थ भी किया जावे तो उससे भी शासनदेव पूजा की सिद्धि नही होती है। और तो क्या इस सारे ही प्रकरण में शासन देवो के नाम तक भी नहीं हैं। सुरेन्द्र मन्त्रो में जिस प्रकार सौधर्मेन्द्र को आहुति दी गई है उसी प्रकार निस्तारक मन्त्रो में सम्यग्दृष्टि गृहस्थाचार्य को भी आहुति दी गई है। दोनो ही परमस्थान के धारी होने के कारण उनके लिये आहुति लिखकर उनका सन्मान बढाया है। वह सन्मान भी लौकिक क्रियाओ तक ही सीमित है पारमार्थिक विधानो मे तो पंच परमेष्ठी की ही आराधना की जाती है। सप्त परमस्थानों में भी सब का समान पद नहो है इसी लिये मन्त्रो मे अर्हंत-सिद्ध गुरुओं को तो नमः लिखा गया है, स्वाहा आहुति भी नही और शेष परमस्थानो को खाली स्वाहा (आहुति मात्र) लिखा गया है। इसका यही मतलब निकलता है कि इनकोही आहुति देना, परमेष्ठियो को नहीं देना। उन्हे तो नमस्कार करना जिससे कि उनकी निम्नोन्नत पद की अभिव्यक्ति होती रहे। यह बात शब्द प्रयोगो से जानने मे आ रही है। शब्द प्रयोग यो ही नही किये जाते हैं उनमे भी कोई तथ्य समाया हुआ रहता है। जैनाचार्यों के कथन सदा उच्चादर्श को लिये रहते हैं उनसे हीनादर्श अभिव्यंजित करना किसी तरह योग्य नहीं। विद्वानो को इस ओर पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये।

✿

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव

"........गौतम स्वामी के तत्काल पश्चात् भगवान् कुन्द कुन्दाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने आपको उनकी परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। उनके शास्त्र आचार्य गणधर देव के वचनों के जितने ही प्रमाणित माने जाते हैं।........"

वासुदेव शास्त्री
प्राध्यापक (साहित्य)
राजकीय संस्कृत कालेज, महापुर (जयपुर)

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव अपने समय के महान् आचार्य थे। इनका प्रादुर्भाव इतिहासज्ञों के अनुसार विक्रम सवत् के प्रारम्भ मे हुआ माना गया है। दिगम्बर जैन परम्परा मे इनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

"मगल भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी। मगल कुन्द कुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।" यह पद्य प्रत्येक दिगम्बर जैन शास्त्र पठन के शुभारम्भ में मगलाचरण रूप मे बोला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतम स्वामी के पश्चात तत्काल ही भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने आपको उनकी परम्परा का कहलाने मे गौरव मानते हैं। उनके शास्त्र आचार्य गणधर देव के वचनो के जितने ही प्रमाणित माने जाते हैं। इनके बाद के आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य देव के शास्त्रो का प्रमाण देते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव के पश्चात लिखे गये ग्रन्थो मे इनके शास्त्रों मे से बहुत अवतरण लिए गये हैं। इसका कारण यह है कि सत्य रूप में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने परमागमो में तीर्थंकर देवों द्वारा प्ररूपित उत्कृष्ट सिद्धान्तों को सुरक्षित करके मोक्ष मार्ग को स्थिर किया है। इस ही लिये उनको कलिकाल

भजन

दो दिन का जग में मेला रे ।

सब चला चली का मेला रे ।।०।।

कोई चला गया कोई जावे ।

कोई गठड़ी बांध सिधावे ।

कोई खड़ा रहा अकेला रे ।। सब० ।।

धर पाप कपट छल माया ।

धन लाख करोड़ कमाया ।

संग चले न एक अधेला रे ।।सब०।।

सुत नार मात पितु भाई ।

कोई अन्त सहायक नाहीं ।

क्यों भरे पाप का ठेला रे ।।सब०।।

यह नश्वर सब संसारा ।

और भजन है इसका प्यारा ।

ब्रह्मानन्द कहे सुन चेरा रे ।।सब०।।

सर्वज्ञ कहा गया है। उनका स्थान अनेक पवित्र विशेषताओं के कारण भव्यजनों के चित्त में परम श्रद्धा के साथ सम्मान पूर्वक अंकित है। अध्यात्म शास्त्रों के कर्ता दिगम्बर जैन आचार्यों में श्री कुन्द कुन्दाचार्य का स्थान सर्वोपरि है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अनेक शास्त्र रचे हैं। जिनमें से कुछ ही वर्त्तमान में उपलब्ध हैं। उनके समयसार, प्रवचन सार, नियम सार एवं पंचास्तिकाय संग्रह नाम के परमागमों में असख्य शास्त्रों का सारभरा पड़ा है।

श्री समयसार इस भरतक्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट परमागम माना गया है। उसमें शुद्ध नय की दृष्टि से नव तत्वों का निरूपण करके जीव का शुद्ध स्वरूप सर्व प्रकार से आगम, युक्ति, अनुभव और परम्परा से अति विस्तार पूर्वक समझाया है।

श्री प्रवचन सार में उसके नाम के अनुसार जिन प्रवचन का सार संगृहीत किया गया है तथा उसे ज्ञान तत्व, ज्ञेय तत्व और चरणानुयोग के तीन अधिकारों में विभाजित कर दिया गया है।

श्री नियमसार में मोक्ष मार्ग का स्पष्ट सत्यार्थ निरूपण है। जिस प्रकार समय सार में शुद्ध नय से नव तत्वों का निरूपण किया है उसी प्रकार नियम सार में प्रमुखत. शुद्धनय से जीव, अजीव, शुद्धभाव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना प्रायश्चित, समाधि भक्ति, आवश्यक, शुद्धोपयोग इत्यादि का वर्णन है।

श्री पंचास्तिकाय संग्रह में काल सहित पांच अस्तिकायों का अर्थात् छह द्रव्यों का और नव पदार्थ पूर्वक मोक्ष मार्ग का निरूपण है।

इन पवित्र शास्त्रों के रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति श्री कानजी स्वामी की अपार भक्ति है। वे कहते हैं कि श्री समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय संग्रह आदि शास्त्रों की प्रत्येक गाथा में दिव्य ध्वनि का सन्देश है।

इनकी गहराई इतनी है कि उसे मापना असम्भव है, भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के सम्बन्ध में उल्लेख

वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्ड कुन्दः
कुन्द—प्रभा—प्रणयि—कीर्ति—विभूषिताशः
यश्चारु-चारण-कराम्बुज चञ्चरीक
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
(चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख)

अर्थ- कुन्द पुष्प की शोभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति द्वारा से दिशाएं अलंकृत हुई हैं जो चारणों के चारण ऋद्धि धारी महामुनियों के सुन्दर कर कमलों के भौंरे थे और जिस पावन आत्मा ने भरत क्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्द कुन्द इस धरणी पर किस के द्वारा वन्दनीय नहीं है।

........कौण्ड कुन्दो यतीन्द्रः ।
रजोभि रस्पृष्ठ तमत्व मन्त ।
र्बाह्येपि सव्य ञ्जयितु यतीशः
रज.पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरंगुले स . ॥
(विन्ध्य गिरि-शिलालेख)

अर्थ—यतीश्वर श्री कुन्द कुन्द स्वामी जी रजः स्थान को पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में चलते थे, उससे मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अंतरंग में तथा बाह्य में रजसे (अपना) अत्यन्त अस्पृष्ट पना व्यक्त करते थे। अन्तरंग में वे रागादिक मल से और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।

जइ पउमणं दिणा हो सीमंधर सामि दिव्यणाणेण
ण विवोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणंति
(दर्शन सार)

अर्थ—महा विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर (देव) श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त दिव्य ज्ञान के धारी श्री पद्मनन्दिनाथ कुन्दकुन्दाचार्य देव ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते।

राजस्थान की कुछ पूर्व मध्य एवं मध्योत्तर युगीन जैन देवी प्रतिमाएँ

"इस प्रकार राजस्थान की वीर भूमि जैन धर्मावलम्बियों द्वारा उनके अहिंसारूपी मूल-मंत्र से अभिषिक्त होते हुए भी देवी पूजा को सम्मान दिलाने में सफल हुआ । यह इस प्रदेश की परम्परा के अनुकूल रहा और प्रदेश की राष्ट्रीय एकता में इसका योग मानना अनुचित न होगा ।"

डा० सत्यप्रकाश
एम० ए० पी० एच० डी०
भू० पू० प्रधान संपादक-'प्राकृति'
डायरेक्टर सालारजंग म्यूजियम, हैदराबाद, दक्षिण

सिरोही क्षेत्र के पिन्डवाडा नामक स्थान को ७ वी शताब्दि की जैन धातु-मूर्तिया राजस्थान की ही नहीं समस्त भारत की भारतीय कला के क्षेत्र मे अति प्राचीन अनुपम निधियां हैं । इन मूर्तियो मे एक प्रतिमा सरस्वती की भी है। एक पर वि० स० ७४४ (६८७ ई०) भी अङ्कित है। यह तिथि एक लेख के साथ है। इतनी बड़ी धातु प्रतिमायें तिथि को स्थान देती हुई बहुत कम प्राप्त हुई हैं। प्राचीनता की दृष्टि से भी इनका निजी स्थान है । इस तिथि अङ्कित प्रतिमा की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इसमे शिल्पी का नाम अङ्कित है तथा उसे साक्षात् 'ब्रह्मा' कहा गया है। यह गौरव उसे केवल इस कारण ही दिया गया कि वह एक अद्वितीय कलाकृति को जन्म देने मे सफल हुआ। 'शिल्पी' का नाम स० ७४४ को स्थान देने वालो प्रतिमा मे 'शिवनाग' है और उसे साक्षात् ब्रह्मा (पितामह) सम्बोधित किया गया है (देखें साक्षात् पितामहेन विश्वरूप विधायिना शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जित् द्वयम्)

राजस्थान की दूसरी अति प्राचीन प्रतिमा अम्बिका है । यह जैन अम्बिका प्रतिहार कालीन होने के कारण ६ वीं शताब्दि के पूर्व की या उस समय की ही हो सकती है उसके पश्चात् की नहो ।

घटियाला में एक स्थान खो की माताजी की साल है। यह कभी एक

जैन मन्दिर को स्थान देता था । इस मन्दिर के खण्डहर विद्यमान हैं। इन खण्डहरो मे एक ताक मे रखी हुई शिला पर एक २०-२१ पक्तियो का जैन लेख अङ्कित है। यह लेख प्राकृत मे है। इस शिला पर सिंहवाहिनी देवी का तक्षण है । यह प्रतिमा ऊंचाई में लगभग २२ इञ्च तथा चौडाई में १३।।। इञ्च है। देवी के एक पैर के पास ही शिशु विद्यमान है तथा देवी के सिर के दोनो ओर आम की डालियां लटक रही हैं। जैन देवी का यह अङ्कन प्रतिहार युगीन होने के कारण न केवल महत्वपूर्ण ही है वरन् कला की अमूल्य प्रति प्राचीन निधि है।

सम्भवतः यहा कभी जैन देवी अम्बिका का एक सुन्दर एवं विशाल मन्दिर रहा होगा। सिंहवाहिनी तथा कमलासना ललितासन मे स्थान पाने वाली देवी अतीव सुन्दर प्रतिमा है। राजस्थान मे प्राचीनता की दृष्टि से मारवाड़ के गगाणी नामक स्थान के जैन मन्दिर से प्राप्त एक जैन धातु प्रतिमा है। वह वि० स० ९३७ की है। यह भी प्रतिहार युगीन होने के कारण निधि की दृष्टि से महत्वपूर्ण कलानिधि है।

जालोर जिले के साचोर नामक स्थान से प्राप्त मूर्तियो में जो जोधपुर के संग्रहालय मे सुरक्षित हैं ध्यानस्थ जिन देव के केन्द्रस्थ होने पर तथा दोनो ओर स्थानक तीर्थङ्कर व उनसे भी बाहर चामरधारी व्यक्ति के स्थान पाने बाईं ओर स्थानक तीर्थङ्कर के नीचे अम्बिका देवी कमलासन पर ललितासन मे प्रदर्शित है। अम्बिका के वाम जघा एक शिशु स्पष्ट दीखता है। देवी के एक हाथ मे बिजोरा फल है। यहा न सिंह का अङ्कन है और आम्रलुम्बी का।

जोधपुर संग्रहालय मे स्थान पाने वाली यह प्रतिमा बसन्तगढ़ से प्राप्त धातु प्रतिमाओ से कला मे साम्य रखती है यद्यपि ये प्रतिमायें एक युग की नहीं हैं।

मारवाड के जालोर दुर्ग से भी एक देवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा भी घटियाले की अम्बिका से मिलती जुलती है तथा अतीव आकर्षक है। इसमे देवी का बाया हाथ देवी की बाईं जंघापर स्थित है। सव्य हस्त मे आम्रलुम्बी है देवी के नीचे सिंह है किन्तु गोद मे शिशु नहीं है। देवी के दोनो ओर आम्रफल एव पुष्पों का जाल इस प्रतिमा मे बहुत सुन्दर ढंग से दिखलाया गया है। अम्बिका के सिर पर पुष्प मुकुट भी बडा सुन्दर है । देवी का शरीर सुडौल एवं स्फूर्तिमय है।

जैन देवियो मे सच्चिका देवी का उल्लेख न करना एक बहुत बडी भूल होगी । यद्यपि ओसियो मे इस देवी का एक मन्दिर है और प्राप्त सूचना के अनुसार इस मन्दिर के अतिरिक्त इस देवी का मन्दिर अन्यत्र नहीं पाया जाता है ।

इस देवी की एक प्रतिमा जो रेवाडा से प्राप्त है जोधपुर संग्रहालय मे प्रदर्शित है । रेवाडा को हरसवाडा भी कभी कहा करते थे। यह जसवन्तपुरा परगना (जोधपुर क्षेत्र) मे है । अभाग्यवश यह प्रतिमा खन्डित है । इसका केवल नीचे का ही भाग शेष है । ऊपर का भाग पूर्णतया भग्न होकर पृथक् होगया है।

नीचे के भाग मे पैर के पास महिष, सिंह तथा पीठ पर लेख जो शेष रह गये है वे इस प्रतिमा की उत्कृष्टता पर प्रकाश डालने मे समर्थ है। झपटता हुआ सिंह अपने मुख मे महिष की दुम को पकड़े हुए है। वह उसे इतने वेग से पकड़े हुए है कि महिष की जीभ निकल पड रही है ।

मूर्ति पीठ पर जो लेख है वह हमें सूचित करता है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा एक महिला

द्वारा वि० सं० १२३६ मे कराई गई थी। वह एक गणिनी थी। 'गणिनी' से बोध जैन श्राविकाम्रो मे प्रमुख से है।

इस पीठ शिला लेख का मूल इस प्रकार है—

१. सम्बत् १२३७, फाल्गुण सुदि २ मंगल वासरे

२-३ श्रीमद् केश गच्छीया सर्वदेवा महत्तरा (म्रोशीय) लोक विख्याता सत्यशीला

३-५-६. विनेयिका गणिनी..........म्मंला तेनेय कारिता सच्चिकास्ता-यसे प्रतिष्ठित श्रीककु........

देवी का नाम सच्चिका देवी स्पष्टतया उल्लिखित है तथा इसकी प्रतिष्ठा ऊकेश गच्छीय (उपकेश गच्छ के) एक जैन गण मुख्या विनेयिका द्वारा की गई थी यह भी इससे ज्ञात हुम्रा।

महिसासुर मर्दिनी हिन्दू धर्म की हिंस देवी का जैन द्वारा प्रतिष्ठा करना तथा उसके पूजन हेतु पीठ पर म्रासीन करोना जैन धर्म की देवी भक्ति परम्परा पर रोचक प्रकाश डालता है।

म्रोसियो नामक स्थान पर स्थित सच्चिका माता के मन्दिर में चामुण्डा, शीतला तथा महिष मर्दिनी भी तक्षित है। सं० १२३४ तथा १२३६ के स्थानिक लेखो मे सचिया माता के निमित्त दान देने का भी विवरण है।

इस प्रकार से राजस्थान की वीर भूमि जैन धर्मावलम्बियो द्वारा (उनके म्रहिंसा रूपी मूल मंत्र से म्रभिषिक्त होते हुए भी) देवी पूजा को सम्मान दिलाने मे सफल हुम्रा। यह इस प्रदेश की परम्परा के म्रनुकूल रहा म्रौर प्रदेश की राष्ट्रीय एकता में इसका योग मानना म्रनुचित न होगा।

"बादलों के समान सज्जन भी जिस वस्तु का ग्रहण करते हैं उसका दान भी करते हैं।"

--कालि दास

प्रेम की चपत

गांधीजी के बारे मे उनके निकटवर्ती लोगो में यह बात प्रसिद्ध थी कि वे जिससे जितना ग्रधिक स्नेह करते हैं उसके उतने ही जोर का चपत जांघ पर या पीठ पर मारते थे।

खान ग्रब्दुल गफ्फार खाँ को जब यह बात पता लगी तो उन्होंने गाधीजी से कहा—"बापू' ग्राप ग्रपना प्रेम प्रकट करने के लिए तो कोई चपत नही मारते।"

गांधीजी बोले-"हां, इसलिए कि कही तुम भी उसी सिक्के का भुगतान करने लगो तो मेरा कचूमर ही निकल जायगा।"

व्रत और बाल व्रत

वर्तमान में जैन समाज में और वह भी स्त्री समाज में तेला, दशलाक्षण, सुगंध दशमी आदि जो व्रत किये जाते हैं उनका स्वरूप ऐसा हो गया है कि साधारण स्थिति के गृहस्थ के लिये उनके उद्यापन आदि कार्य एक भयावह आर्थिक समस्या उपस्थित कर देते है। वे आत्म कल्याण के लिये जो कि उनके करने का प्रमुख उद्देश्य हैं, न होकर मात्र प्रदर्शन की वस्तु बन गये हैं। इस प्रकार के व्रत अभीष्ट फल प्राप्ति में सहायक न होकर बाधक ही हो सकते हैं। इस सबध में विद्वान् लेखक ने जो अपने विचार प्रस्तुत किये हैं वे मननीय हैं। —सम्पादक

बंशीधर शास्त्री
M. A.

आचार्य उमास्वामी ने व्रत की परिभाषा स्वरूप निम्न सूत्र की रचना की है—

हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। अध्याय ७ सूत्र १

हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत होना व्रत है।

व्रत दो तरह के हैं—

देश सर्वतोऽणुमहती, अ ७ सू २

उक्त पाच पापो का एक देश त्याग अणुव्रत एव सर्व देश त्याग करना सो महाव्रत है।

सूत्रकार ने व्रतो का लक्षण बताते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि व्रती निशल्य होता है।' वस्तुतः निशल्य वही हो सकता है जो सम्यग्दष्टि हो। मिथ्यात्व, माया एवं निदान के शल्य का अभाव सम्यग्दष्टि के ही हो सकता है। इसका यह भी फलितार्थ होता है कि उक्त व्रत यथार्थ रूप से सम्यग्दष्टि ही पालता है।

इन व्रतों के स्वरूप एवं महत्त्व से शास्त्रो के अनेक पृष्ठ भरे पड़े है। इन व्रतों के फलो की गाथा पौराणिक साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध होती हैं।

इन व्रतों के साथ रत्नत्रय सोलह कारण भावना, दश धर्मों आदि

की भावना एवं ज्ञान प्रत्येक व्रती के लिए अनिवार्य रहे हैं किन्तु समय पाकर रत्नत्रय आदि भावनात्मक कृत्यो को उपवास का रूप दे दिया गया, उनके लिए दिन भी निश्चित कर दिए गए एवं उपवास ही व्रत के नाम से कहलाने लगे। श्रावकाचार ग्रन्थो यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, सागार धर्मामृत, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आदि मे मूलगुण, बारह व्रतो, ग्यारह प्रतिमा, सल्लेखना का वर्णन है। बारह व्रतो के अंतर्गत 'प्रोषधोपवास' का वर्णन है जिसका स्वरूप इस प्रकार है-अष्टमी और चतुर्दशी के पहले एवं पीछे के दिनो मे एकाशनपूर्वक अष्टमी एव चतुर्दशी को उपवास आदि करके, एकातवास मे रहकर सपूर्ण सावद्य योग को छोड सर्व इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होकर धर्म ध्यान मे लीन रहना मो प्रोषधोपवास है। रत्नत्रय, सोलह कारण आदि के लिए मास विशेष मे दिन निश्चित कर उन दिनो एकाशन, प्रोषधोपवास, बेला, तेला, आदि शक्ति अनुसार किए जाने का विधान किया गया फिर उसके बाद' उद्यापन' भी किए जाने का विधान किया गया। व्रत को समाप्ति के अवसर पर किए जाने वाले कृत्य यथा हवन आदि को वैदिक परम्परा मे उद्यापन कहा जाता है। जैन परम्परा मे हवन हिंसात्मक होने के कारण विधेय नही रहा इस लिए व्रतसमाप्ति पर उद्यापन के रूप मे मदिरो म उपकरण आदि देने की परम्परा रही है।

प्रारभ मे भावनात्मक, आत्मशुद्धि कारक अवसरो पर किए जाने वाले उपवासो को ही व्रत का नाम दिया गया था। पद्मपुराण और आदि पुराण मे दशलक्षण, रत्नत्रय, षोडशकारण और अष्टाह्निका व्रतो का उल्लेख है। वसुनन्दि श्रावकाचार मे पंचमी व्रत, रोहिणीव्रत, अश्विनी व्रत, सौख्य सम्पत्तिव्रत, नंदीश्वर, पक्ति व्रत, विमान पक्ति व्रत का उल्लेख है। हरि वश पुराण मे सर्वतोभद्र, वसतभद्र महासर्वतोभद्र, रत्नावली, उत्तम-मध्यम जघन्य सिहनिष्क्रीडित आदि महोपवासो का वर्णन किया गया है। आराधना कथा कोश और रविषेण कथाकोश मे महत्त्वपूर्ण व्रतो यथा रत्नत्रय, सोलहकारण आदि व्रत को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियो की कथाए उपलब्ध हैं। इस प्रकार सस्कृत प्राकृत आदि के प्राचीन एव प्रामाणिक ग्रन्थो मे इस प्रकार के व्रतो या उन्हे करने वाले व्यक्तियो का उल्लेख बहुत सीमित है। किंतु जब हम भट्टारकीय युग चौदहवी से सोलहवी शताब्दि-के साहित्य को देखते है तो व्रतो एव उनको करने वाले व्यक्तियो की कथाओ का इतना अधिक विवरण मिलता है कि यह आश्चर्य होता है कि इतने व्रतो का आविर्भाव अचानक कहा से हो गया इन कथाओ का वर्णन भी पौराणिक साहित्य की परम्परा के अनुसार राजा श्रेणिक की शका पर भगवान महावीर द्वारा कराया गया है। लगता है कि भट्टारको ने अनेक व्रतो की कल्पना अपने से ही की थी, उनकी विधि एवं उनके करने वालो को अद्भुत फल मोक्ष तक की-प्राप्ति का उल्लेख भी इन कथाओं मे किया गया है।

जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता से श्रावक व्रत कथा सग्रह प्रकाशित हुई है। पुस्तक का सपादन प श्री कस्तूर चन्द जी छाबडा विशारद ने किया है। इसमे कोई प्रस्तावना नहीं है अतः इन कथाओं का आधार आदि का ज्ञान नही होता है। इसमे व्रतो के अतिरिक्त दान से सबधित कथाए भी दी गई है। व्रतो से सबधित कथाओ को पढने के पश्चात निम्न परिणाम निकलते है—

१-इनमे दशलक्षण, पुष्पाञ्जलि, अनन्त चतुर्दशी, सुगध दशमी, मुक्तावली, रत्नत्रय, नन्दीश्वर, रविव्रत, षोडश कारण, श्रुतस्कंध, चन्दनषष्ठी, मेघमाला, लब्धी विधान, त्रिलोकतीज, आकाश पचमी, निर्दोष सप्तमी, नि.शल्य अष्टमी, द्वादशी,

मौन एकादशी, कोकिला पचमी, गरुड पंचमी, मुकुट सप्तमी, अक्षयफल दशमी, रोहिणी तथा श्रावण द्वादशी इन २५ व्रतों से संबंधित कथाएं हैं।

२–इनमे ८ कथाएं पद्य मे हैं एवं शेष १७ गद्य में हैं।

३–पद्यात्मक कथाओ में प्रायः श्रेणिक राजा के पूछने पर भगवान महावीर द्वारा व्रत, व्रत-फल आदि का विवरण दिया गया है।

४–२५ कथाओ में से केवल एक कथा अनुसार व्रत धारक पुरुष रहा है अन्य २४ में स्त्री या पति सहित पत्नी द्वारा व्रत धारण कर फल प्राप्ति बताई गई है।

५–इनमें से ६–१० कथाए मुनिनिन्दा या व्रत निन्दा आदि करने वालो की है जिन्होने ऐसा कर कुगति पाई फिर सयोग से व्रत कर अपनी स्थिति सुधारी।

६–अधिकाश कथाओ मे व्रत का फल न केवल गरीबी कुगति, व्याधि आदि का निवारण ही बताया है अपितु देव पर्याय एव अत मे मुक्ति का भी उल्लेख किया गया है।

७–व्रत के अत मे उद्यापन हेतु नानक उपकरण देने व मूर्ति प्रतिष्टापित करने की प्रेरणा दी गई है और जो उद्यापन न दे सके वह दुगुनी अवधि तक व्रत करे।

संभवतः अन्य व्रतो की भी इसी प्रकार की कथाएं हों। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

यह तो निर्विवाद है कि इनमे से अधिकाश व्रतों का प्रारम्भ भट्टारकों द्वारा किया गया था। उन्होंने इनका प्रारंभ क्यो किया इसका एक कारण समझ में आता है। (संभव है कि कुछ भाई इस कारण से सहमत न हो।)

भट्टारकों ने प्रारंभ मे संस्कृति व साहित्य की सुरक्षा के लिए अथक प्रयत्न किए थे किन्तु चूंकि वे वस्त्र धारण कर भी अपने आपको साधु मानते थे एवं साधु रूप में ही पुजवाते थे इसलिए उन्होंने प्राचीन परम्परा के शास्त्रो पर अधिकार कर लिया और साधारण श्रावक श्राविकाओ के लिए केवल पूजा, स्तोत्र, धन दौलत दाता व दुख निवारक मंत्रो एवं व्रतो का स्वरूप बताने वाले शास्त्रो की रचना की ताकि वे उनमें उलझे रहे। उन्होंने व्रतो की कथाओ मे प्रायः यह भी दिखाया कि मुनि निन्दा, या आहार दान न देने से खोटी गतिया मिलती हैं, उससे बीमारी एव गरीबी हो जाती है, फिर अमुक व्रत के करने से न केवल बीमारी एव गरीबी दूर होती है अपितु मोक्ष तक मिलता है। साधारण संसारी जीवो को इनसे बढ कर क्या चाहिए। कथाओ में प्रायः स्त्रिया ही प्रमुख रही है। इसका भी कारण रहा। मुनि निंदा का फल दुखमय दिखाकर वे अपनी निन्दा को रोके रहे ताकि उसके दुखमय परिणाम से सब कोई डरें। दूसरा स्त्रिया सहज ही दुःख से भयभीत हो जाती हैं उनसे सेवा भक्ति भी जल्दी मिल जाती है अतः उनकी करुणामय भक्ति भावना को उत्तेजित करने के लिए कथाओ में मुख्य रूप से स्त्री पात्रो का चित्रण किया गया है।

कथाओ मे 'उद्यापन' हेतु सामग्री उपकरण आदि देने का विधान किया गया है। यह सामग्री मन्दिरो के लिए ही दी जाती है किन्तु पहले भट्टारक या उनके पाण्डे भी लेते रहे हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। उन्होंने व्रत लेने या छोड़ने के लिए गुरु साक्षी भी आवश्यक बताई थी जैसा कि व्रत तिथि निर्णय मे आचार्य सिंह नदी ने लिखा है—

व्रतादान व्रतत्यागः कार्यो गुरु समक्षतः।
नो चेतन्निष्फलं ज्ञेयं शिक्षादिक भवेद् ॥

यो स्वयं व्रतमादत्ते स्वयं चापि विमुञ्चति ।
तद्व्रतं निष्फलं ज्ञेयं साक्ष्याभावात् कुतः फलं ॥

गुरु के समक्ष से ही व्रतों का ग्रहण और व्रतो का त्याग करना चाहिए । गुरु की साक्षी के विना ग्रहण किए और त्यागे व्रत निष्फल होते हैं अत. इन व्रतो से धन धान्य, शिक्षा आदि फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती । जो स्वय व्रतो को ग्रहण करता है और स्वय ही व्रतो को छोड देता है उसके व्रत निष्फल हो जाते हैं । गुरू की साक्षी न होने से व्रतो का क्या फल होगा ?

इस प्रकार के विधान के बावजूद भी लोग ऐसे तथाकथित गुरुओ के समक्ष व्रत ग्रहण-त्याग नहीं करते होंगे इसलिए ऐसा करने वालों के लिए नरक जाने की घोषणा भी करदी गई—

क्रममुल्लध्य यो नारी नरो वा गच्छति स्वयम् ।
स एव नर्कं याति जिनाज्ञा गुरूलोपत. ।

जो स्त्री या पुरुष क्रम का उल्लघन कर स्वय व्रत करते हैं वे जिनाज्ञा एव गुरु का लोप करने के कारण नरक जाते हैं ।

सवस्त्र भट्टारकजी ने नरक जाने का इसलिए विधान कर दिया है कि उद्यापन रूपी दक्षिणा प्राप्ति मे कोई कमी न रह जावे । जैसे वैष्णवो के तीर्थों मे क्रिया कर्म कराने के लिए ब्राह्मण अनिवार्य समझा जाता है वैसे ही जैन धर्म मे भी इन भट्टारकों ने भट्टारक या अपने प्रतिनिधि स्वरूपी पाडे गुरू को अनिवार्य कर दिया । इस प्रकार के व्रतो का विधि विधान भट्टारक परंपरा मे विधेय रहा होगा । जैनियो के प्राचीन शास्त्रो मे तो इस प्रकार का विधि विधान मिलता नहीं । मुकुट सप्तमी व्रत जैसे कतिपय व्रतो की ऐसी विधियां बताई गई हैं जिनका किसी प्रकार समर्थन नही किया जा सकता ।

धन संपदा, पुत्र मकान प्राप्ति या शत्रु मारण बीमारी दूर करने के उद्देश्य से ऐसे व्रतो को करने से इनकी व्रत सज्ञा ही समाप्त हो जाती है ऐसा करने से निदान शल्य बना रहता है । यद्यपि आज वस्त्रधारी भट्टारको की मान्यता समाप्त प्राय. हो रही है, आज भी कुछ लोग इन व्रतो या नए व्रतो चक्रवाल व्रत-तथा मत्रो का प्रलोभन देकर श्रावक श्राविकाओ को आत्म कल्याण से विमुख रख कर ससारी वस्तुओं के प्रति आकर्षित करते रहते हैं । यह स्थिति ठीक नहीं है ।

श्रावक के व्रतो मे प्रोषधोपवास का महत्व है किन्तु उसे आत्मकल्याण की साधना का अग ही मानकर करना आगमानुकूल होगा । उससे सासारिक सुख की प्राप्ति का साधन मानना शास्त्रानुकूल नही है । आज कल उपवास के दिन का कर्तव्य आत्मचिन्तन-मनन, शास्त्र स्वाध्याय आदि को प्राय. भुला दिया जाता है । यह भी देखा जाता है कि इस अवसर पर अपने शरीर को सजाने के लिए फूलमालाओ जैसे पदार्थों का भी उपयोग करने मे हिचकिचाहट नही रहती है ।

उद्यापन के अतिरिक्त समाज के अन्य व्यक्तियो को बरतन आदि देने का रिवाज भी बढता जा रहा है । समाज की आर्थिक स्थिति देखते हुए सोच समझ कर कार्य करना चाहिए । उपवास समाप्ति पर दान करना चाहिए किन्तु उसका प्रदर्शन नही । उस दान की दिशा भी बदलनी होगी । जैन साहित्य प्रचार एव तीर्थों मदिरो की सुरक्षा, जीर्णोद्धार की ओर दान की वृत्ति करनी चाहिए ।

हमे उमा स्वामी द्वारा वर्णित व्रतो की साधना की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए । धन, पुत्र, सपदा की आशा से किए हुए व्रतादिक 'बालतप' की सज्ञा मे आते हैं । यही कारण है कि जब किसी व्रत विशेष के करने से अभिलषित फल की प्राप्ति नही होती तो हम निराश होकर व्रत या अन्य धार्मिक कार्यों से भी आस्था खो बैठते हैं । व्रतादिक का उपयोग लोभ कषाय की पूर्त्यर्थ करना किसी भी प्रकार विधेय नही है ।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म

जैन धर्म हिन्दू धर्म अथवा किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर विशुद्ध रूपेण एक स्वतन्त्र धर्म है जिसका उद्भव काल वेदकाल से भी प्राचीन है यह बताना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

—सम्पादक

श्री कैलाश चंद जैन,
धर्मालङ्कार, जयपुर।

भारतीय धर्मों मे जैन और हिन्दू ऐसे धर्म हैं जिनका पारस्परिक बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है और उन्होने एक दूसरे को बहुत कुछ लिया है। उनके अनुयायी पडौसी की भांति रहे हैं इस नाते यद्यपि अतीत में उन्होने एक दूसरे पर प्रहार भी किये और प्रहार सहे फिर भी एक की दूसरे पर छाप पडे बिना नही रही। यहा संक्षेप मे इस विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

जैन धर्म और हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म मे हमारा तात्पर्य वैदिक धर्म से है जिसे सनातन धर्म भी कहते हैं। सर्वप्रथम हम उसके क्रमिक विकास का परिचय उन विद्वानो के साहित्य के आधार पर कराते हैं जो उपनिषदो को ही सब धर्मों का मूल आधार मानते हैं।

ऐतिहासिको ने भारतीय दर्शनो का काल विभाजन इस प्रकार किया है—(१) वैदिक काल, १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० (२) पौराणिक गाथा काल—६०० ई० पू० से २०० ई० पू० एव (३) सूत्र काल—२०० ई० के पश्चात्।

वेद हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रंथ माने जाते हैं। इनको ऋग्वेद,

यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के भेद से चार संख्या है। इनके सम्बन्ध मे पौराणिको का कथन है कि इनका संकलन वेद व्यासजी ने यज्ञो की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए किया था। मन्त्रो का उच्चारण देवताओ की प्रसन्नता हेतु किया जाता है। इनका सकलन ऋग्वेद मे, मधुर स्वर मे गाने का सकलन सामवेद मे, यज्ञानुष्ठान का सम्पादन यजुर्वेद मे तथा यज्ञ को त्रुटि से बचाने के लिये निरीक्षण के लिये मन्त्रो का सकलन अथर्व वेद मे है।

वेदो के तीन विभाग हैं --मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मन्त्रो का समुदाय ही सहिता कहलाता है, ब्राह्मण मन्त्रो की व्याख्या करते है एवं उपनिषदो में दार्शनिक तत्वो का विवेचन है।

विषय की दृष्टि से वेदो का दो भागो मे विभाजन किया गया है—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड मे मन्त्रो आदि का वर्णन है और उपनिषदो का विवेचन ज्ञानकाण्ड मे आता है।

वेदो का मुख्य विषय अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि देवताओ की स्तुति है अतः हम इन्हे प्रकृति पूजक भी कह सकते है। वेदो के अनुसार जगत का सब कार्य इनही के आधार पर चलता है। जब आर्य भारत मे आए तो अपने साथ स्तुति लेकर आए। इनही स्तुतियों के सग्रह से ऋग्वेद का निर्माण हुआ।

ऋग्वेद मे गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दस्युओं का वर्णन मिलता है। यह इसका परिचायक है कि जब आर्य भारत मे आए तो उन्हे यहा की असभ्य और जगली कही जाने वाली जातियों का सामना करना पडा। अथर्ववेद मे इन दोनों के मिलकर रहने का उल्लेख मिलता है। इस समझौते के फलस्वरूप अथर्ववेद जादू टोने का ग्रन्थ बन जाता है। यजुर्वेद और सामवेद पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यज्ञो द्वारा ब्राह्मणो का—पुरोहितो का समाज पर अधिक प्रभाव था। ब्राह्मणो के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि इस समय वेदो को ईश्वरीय ज्ञान मान लिया गया था और वद का धर्म केवल यज्ञ ही स्वीकार किया जाने लगा था और मानव का देवताओ के साथ केवल यान्त्रिक सम्बन्ध (इस हाथ दे और उस हाथ ले) रह गया था।

सर एस० राधाकृष्णन के "भारतीय दर्शन" से पता चलता है कि उपनिषद् वेदो के अनुकूल नही है। युक्ति का अनुसरण करने वाले उत्तरकालीन विचारक वेदो की दुमुखी मान्यता को स्वीकार करते है। एक ओर व वेदो की मौलिकता का स्वीकार करते है तो दूसरी ओर वे कहते है कि वैदिक ज्ञान सत्यदेवी के परिज्ञान से बहुत ही न्यून है और हमे मुक्ति नही दिला सकता। नारद कहता है—मै वेदो को जानता हू जिससे मन्त्रा और शास्त्रो को जानता हू, अपने को नही जानता। माण्डूक्य उपनिषद् मे भी लिखा है—दो प्रकार की विद्याए अवश्य जाननी चाहिये एक ऊची और दूसरी नीची, नीची विद्या वह है जो वदो से प्राप्त होती है और उच्च विद्या वह है जो अविनाशी ब्रह्म द्वारा प्राप्त होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यो के भारत आगमन के समय उनका विरोध करने वाले आदिवासी थे। कोई भी विदेशी जाति हमेशा अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करती है लेकिन हम पाते है कि यहा उनका मिलन होगया। कुछ का मानना है कि जैन धर्म का उदय बौद्ध धर्म के आस पास या उससे कुछ पहले लेकिन उपनिषद् काल के बाद कुछ उपनिषदो के आधार पर हुआ जबकि प्रायः सब ही इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि २३ वें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ ८०० ई० पू० हुए थे, वे ऐतिहासिक महापुरुष थे किन्तु वे भी जैन धर्म के संस्थापक नही थे।

सर राधाकृष्णन् अपने 'भारतीय दर्शन' मे लिखते हैं —"जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म के सस्थापक श्री ऋषभदेव थे जो कि शताब्दियो पूर्व हो गये है। इस बात के प्रमाण हैं कि ई० पू० प्रथम शताब्दी मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमे सन्देह नही कि जैन धर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ से पहले भी प्रचलित था। अथर्ववेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरो के नाम का निर्देश है। भगवत पुराण इसकी पुष्टि करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के सस्थापक थे।"

ऐसी स्थिति मे उपनिषदो की शिक्षा जैन धर्म का आधार कैसे हो सकती है। क्योकि जिसे उपनिषद काल कहा जाता है उस काल मे तो वाराणसी नगरी मे भगवान् श्री पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था जो जैनों के २३ वें तीर्थंकर थे। उनके ढाई सौ वर्ष बाद भगवान महावीर हुए। महावीर से शताब्दियो पूर्व भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर हुए अतः बड़ी सरलता से प्रमाण पूर्वक कहा जा सकता है कि जब आर्य भारत मे आए तो जिस जाति से उन्हे संघर्ष करना पड़ा वह द्रविड जाति थी और वह जैन धर्म से प्रभावित थी। जैनो मे द्रविड नाम से एक सघ अब भी पाया जाता है। द्रविड् वंश का एक मात्र घर दक्षिण भारत है। आर्य पहले उत्तर भारत मे आए अत. द्रविडो के साथ उनका सम्पर्क बहुत बाद मे हुआ होगा। यही कारण है कि ऋग्वेद के पश्चात् जो यजुर्वेद सकलित किया गया तो उसमे कुछ जैन तीर्थंकरो के नाम पाये जाते हैं।

इस प्रकार जब दोनो धर्मों के मानने वालो का सम्पर्क हुआ तो स्वभावतः एक दूसरे से आपस मे बहुत कुछ लिया दिया। एक समय वैदिक धर्म का बहुत जोर था। नरबलि तक उस समय हिंसा नहीं मानी जाती थी। देवताओ को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के बलिदान दिए जाते थे। ऐसे समय जैन धर्म के सिद्धान्त उनके सामने आए, उन्होंने जाना कि जैन धर्म कितना महान् है। बिना किसी नीच-ऊंच के प्रत्येक व्यक्ति उसका पालन कर सकता है। बहुत से हिन्दुओ ने उसकी विशेषताओ से प्रभावित होकर जैन धर्म धारण करना प्रारम्भ कर दिया। "जैन और हिन्दुओं के बीच पारस्परिक सस्कारो का आदान प्रदान" इस विषय पर गुजरात मे हिन्दू तत्व विज्ञान' इतिहास के लेखक श्री नर्मदाशकर देवशंकर मेहता ने व्याख्यान देते हुए बताया कि जैन धर्म और हिन्दू धर्म मे विचारो का काफी आदान प्रदान हुआ है। उन्होंने बताया कि सर्वप्रथम तो वे लोग जो अहिंसा के प्रति अरुचि रखते थे, हिन्दू धर्म से आस्था खो रहे थे और जैन धर्म की इस अहिंसा का इतना असर पड़ा कि उस समय कोई यह कहने वाला नहीं रहा कि यज्ञ में हिंसा करना धर्म है। यदि कोई हिन्दू वैदिक धर्म के अनुसार हिंसा को धर्म बताना चाहे तो इसे हिन्दू धर्म स्वय ही तिरस्कारपूर्वक निकाल देगा। यह हिन्दुओ ने कहा से सीखा ? उत्तर में हम कहते है कि यह सब कुछ हिन्दू धर्म ने जैन धर्म से सीखा।

मेहताजी के उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म मे अपनाने की अद्भुत शक्ति है। उसने शीघ्र ही अहिंसा को इस तरह अपना लिया कि वह उपनिषद् का एक अ ग बन गई। उपनिषदो मे इस प्रकार के आचार विचार का रूप पाया जाता है उससे यह निष्कर्ष निकालना कि जैन धर्म उपनिषदो से निकला है अतः इसका विरोधी है, सर्वथा भ्रान्त है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान ग्लजनप्पे ने अपने 'जैन धर्म' नामक ग्र थ मे लिखा है– प्रो० हर्टले का कथन है कि ब्रह्मलोक और मुक्ति विषयक जैन भावना उपनिषदो की भावना से जुदी प्रकार की है और वे दोनो समान नहीं हो सकतीं। इनमे जो समानता है वह केवल शाब्दिक है अतः कहा जा सकता है कि जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है उसके आद्य तीर्थंकर भगवान

ऋषभदेव थे जो राम और कृष्ण से भी पहले हो गये हैं और जिन्हें हिन्दुओ ने बाद में विष्णु का अवतार माना है। इन्हीं विचारो की झलक 'उपनिषद विचारण' के इन शब्दों मे भी है—जैनाना आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव प्रावर्गना. निर्ग्रन्था साधु हतो। अने पाछल थी तेमने हिन्दु धर्मी श्रोए विष्णुना अवतार मान्या है।"

हिन्दू धर्म और जैन धर्म के सिद्धान्तो मे बहुत अन्तर है। जैन वेदो को नहीं मानते, स्मृति और ब्राह्मणों को भी नही मानते जो हिन्दू धर्म के प्राणभूत ग्रंथ हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त और सारणी निश्चित और स्पष्ट है। हिन्दू धर्म मे अनेको परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं जो सब अपने को सच्चा होने का दावा करते हैं। हिन्दू ईश्वर को जगत् का कर्ता, धर्ता और हर्ता मानते हैं जबकि जैन इसे अनादि और अनन्त। हिन्दू सनातन धर्म को ईश्वर की प्रेरणा से ब्रह्मा द्वारा प्रकट किया हुवा मानते हैं जबकि जैनो के अनुसार युग युग मे तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं जो अपने अनुभवो के आधार पर शाश्वत सत्य धर्म का जनता को उपदेश देते हैं। हिन्दुओं के अनुसार देवता भी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं जबकि जैनों के अनुसार मुक्ति केवल मनुष्य भव द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। हिन्दू कर्म को अदृष्ट सत्ता के रूप में स्वीकारते हैं। जैनो के अनुसार वह सूक्ष्म पौद्गलिक तत्व हैं जो योग अर्थात् मन, वचन और काय की क्रिया से आकृष्ट होकर कषायो आदि के कारण जीव के साथ बंध जाते हैं। जैनों के अनुसार जीव स्वयं ही अपने अच्छे और बुरे कार्यों का फल भोगते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार मुक्त जीव बैकुन्ठ मे अनादि काल तक सुख भोगता है अथवा ब्रह्म मे लीन हो जाता है। जैनो के अनुसार मुक्त जीव लोक के अग्र भाग मे शाश्वत विराजमान रहते हैं और वे फिर कभी संसार मे नहीं आते। जैन धर्म मे धर्म, अधर्म द्रव्य, गुणस्थान, मार्गणा, स्याद्वाद, निक्षेप आदि ऐसे हैं जो केवल मात्र उनकी ही थाति हैं।

इन सब मत भेदो के बावजूद भी दोनो धर्मों के अनुयायियों में सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूपता है और कुछ जातिया आज भी ऐसी विद्यमान हैं जिनमे दोनों ही धर्मों के मानने वाले हैं और उनमे पारस्परिक रोटी बेटी व्यवहार चालू है।

दिगम्बर खंडेलवाल जाति और उसके गोत्र

जैनों में खण्डेलवाल जाति जिसे सरावगी भी कहते हैं अपना एक प्रमुख महत्त्व रखती है। पौराणिक किवदन्तियों के अनुसार इस जाति की स्थापना वि. सं. १ में हुई किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं होती। इस संबंध में अभी और भी खोज की आवश्यकता है।

—सम्पादक

डा० कैलाशचन्द्र जैन
एम. ए, पी. एच. डी. लिट्,
रीडर विक्रम विश्व विद्यालय, उज्जैन

दिगम्बर खंडेलवाल जाति की उत्पत्ति खंडेला से हुई है जो राजस्थान में सीकर से २८ मील की दूरी पर स्थित है। ऐसी पौराणिक मान्यता है कि अपराजित आम्नाय के किसी जैन साधु जिनसेनाचार्य ने खडेला के चौहान राजा और उनकी प्रजा को वि. सं. १ में जैनधर्मावलम्बी बनाया और खडेलवाल जाति की स्थापना की। खंडेलवाल जाति के चौरासी गोत्रों के नाम खडेला के समीप के गावों के ८२ राजपूत सामन्तों और २ स्वर्णकारों के नाम से हुए जिन्होंने भी अपने राजा के साथ जैनधर्म को स्वीकार कर लिया। दो स्वर्णकारों से आम्नाय बज और मोहनाथ बज शुरू हुए।

जैन शिला लेख और साहित्यिक प्रमाण से यह निश्चित हो जाता है कि दिगम्बर खंडेलवाल जाति की स्थापना आठवीं सदी पश्चात हुई। इसके पूर्व खंडेला में भी जैनधर्म के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सब प्रमाण बाद के ही उपलब्ध होते है। ९९८ ई. मे लिखित धर्म रत्नाकर की प्रशस्ति से पता चलता है कि उसके लेखक जयसेन ने खंडेला की यात्रा की और वहां के लोगो को अपने उपदेशों से प्रभावित किया। दसवीं शती के लेखक सिद्धसेन ने सकल तीर्थस्तोत्र मे खंडेला को एक तीर्थ के रूप मे उल्लेख किया है। खडिल्ल गच्छ को उत्पत्ति खंडेला से ही हुई है। दसवीं शताब्दी का यहां पर प्राचीन

जैनमंदिर और मूर्तिया भी मिली हैं। खंडेलवाल जाति का सबसे पहला उल्लेख संघीजी के जैनमंदिर जयपुर की ११६३ ई० की जैन प्रतिमा पर मिला है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि खंडेलवाल जाति की स्थापना आठवीं और बारहवीं सदी के बीच मे हुई। इसी समय ही अग्रवाल, ओसवाली, बघेरवाल, श्री माली, परवाल पल्लीवाल आदि जातिया बनी। राजपूतो ने राज्य भी आठवी सदी के बाद से शुरू किया।

चौरासी गोत्रो की एक ही समय मे उत्पत्ति गलत मालूम पडती है। चौरासी गोत्रो की सख्या कल्पित मालूम पडती है क्योंकि आसनो के नाम भी ८४ मिलते है तथा साथ मे वैश्य जातियो के नाम भी ८४। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे गोत्रो की सख्या कम थी किन्तु शनै. शनैः यह बढ़ती गई और उनको चौरासी बना दिया गया। इन गोत्रों की स्थापना एक प्रकार से नहीं हुई किन्तु अलग-अलग ढग से। कुछ गोत्रो के नाम स्थानीय है तथा अन्य उद्योग और व्यवसाय से भी बने है। उपाधिया और पद भी धीरे-धीरे गोत्रो मे परिणत हो गए। अभिलेखो तथा प्रशस्तियो से पता चलता है कि गोत्रो की सख्या मे अधिक वृद्धि पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी मे हुई।

कासलीवाल गोत्र, पाटनी गोत्र और पाटोदी गोत्र को स्थापना क्रमश. कासली, पाटन और पाटोदा से हुई है। ये ग्राम शेखावटी मे खडेला के समीप ही स्थित है। अजमेरा गोत्र का नाम अजमेर से, दोसी गोत्र दोसा से तथा टोग्या गोत्र टोंक से रखे जा सकते हैं। ये स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन भी है। इन स्थानीय गोत्रो के नाम हमे पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी के अभिलेखो तथा प्रशस्तियो मे बहुत मिलते हैं।

कुछ गोत्रो को स्थापना व्यवसायो से भी हुई। जो वैद्य का व्यवसाय करते थे, वे वैद कहलाए। पौराणिक विवरण से पता चलता है कि बज गोत्र वाले पहिले स्वर्णकार थे। सोनी गोत्र वालो का भी प्राचीन व्यवसाय यही ज्ञात होता है। जो लेन-देन का व्यवसाय करते थे, वे बोहरा कहलाते थे। इन गोत्रो के इतिहास की जानकारी पन्द्रहवी और सोलहवी सदी मे मिलती है।

पद और उपाधियो ने भी कालान्तर मे गोत्रों का रूप धारण कर लिया। साह गोत्र की उत्पत्ति 'साह' से हुई है जो एक प्रकार से आदर सूचक शब्द है। राज्य ने चाधरी की उपाधि उन लोगो को दी जो प्राय वसूल का कार्य करते थे। धीरे-धीरे 'चौधरी' भी गोत्र मे परिणित हो गया। छाबडा गोत्र साह बडा से बना है। पहिले यह साबडा बोला जाता था किन्तु बाद मे वह बिगडकर छाबडा हो गया। भसा गोत्र सभव है भाई + साह से बना है। जब इन लागो की सख्या अधिक हो गई तो ये बड-जात्या (बडी जात) कहलाने लगे। सेठी की उत्पत्ति श्रेष्ठि से हुई जिसका अर्थ है धनी व्यापारी। प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य मे इसका बहुत उल्लेख हुआ है।

इनके अतिरिक्त अभिलेखो तथा प्रशस्तियो से अनेक गोत्रो के बारे मे जानकारी उपलब्ध होती है। गाधा गोत्र का उल्लेख १४१३ ई० के शिलालेख मे मिलता है। अन्य प्रसिद्ध गोत्र है जमे-ठोल्या गोत्र पहाडया गोत्र बिलाला गोत्र, गगवाल गोत्र गोदिका गोत्र पाडया गोत्र रावका गोत्र और मागानी गोत्र। १५८४ ई के अभिलेख मे कुरकुरा गोत्र का नाम भी पाया जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि चौरासी गोत्रो की सूची मे इस गोत्र का नाम नहीं मिलता। अभिलेखो और प्रशस्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि खडेलवाल जाति के लोगों का अधिक सम्ब मूलसघ के आचार्यों से रहा है।

जीवन का दर्शन

> "—आत्मदर्शन बाधा नही करता और यह बाजार में आवाज लगा कर यह भी नहीं कहता कि मेरे बगैर तुम्हारा काम नहीं चलेगा। पर यदि तुम शोध करोगे तो तुमको अन्त मे खबर पड़ेगी कि इसके बिना अपना काम चलता रहे यह संभव नहीं।"

मुनिश्री चंद्रप्रभसागरजी म० चित्रभानु
प्रस्तु० हीराचंद बैद

इस ससार मे अनेक दर्शन है। हरेक यह मानता है कि वह ही मानव को सुखी कर सकता है। पहले अर्थ दर्शन अर्थात् अर्थ शास्त्र आता है जो कहता है कि जिसके पास पैसा है वही इस दुनिया मे सुखी है। पैसे से दुनिया की कोई भी वस्तु अपने मन के अनुकूल प्राप्त की जा सकती है। सत्ता भी श्रीमंताई से खरीदी जा सकती है। इसलिये सुख का साधन अर्थ ही है।

दूसरा है आयुर्वेद दर्शन यानी चिकित्सा शास्त्र आता है। वह कहता है शरीर की स्वस्थता मे ही सुख है। बीमार को क्या सुख है? खाया हुआ जहा पचता नहीं हो वहा सुख कहां? दुनिया मे तन्दुरुस्ती हो तो सब ठीक है। इस तरह से चिकित्सा शास्त्र दर्शन बन जाता है और कहता है कि तुमारी तकलीफो को मैं ही दूर करता हूं।

इसके बाद आज जिसे राजनीति कहा जाता है यह राज शास्त्र इस प्रकार कहता है कि लोगों को सत्ता का बराबर उपयोग करना आता नही इसलिये दुनिया मे अर्थ की और दूसरी अन्य उपाधियां खड़ी होती है। पर जो बराबर शासन करना आता होवे तथा राज्य सचालन बराबर आता हो और लोगों को बराबर व्यवहार दक्षता आती होवे तो यह सारे दुःख दूर हो जावें और शान्ति का प्रसार हो जावे। इस प्रकार राजनीति अपने को यह बतलाने

का प्रयत्न करती है कि जगत में यदि कोई दर्शन बन सकता है तो दूसरा कोई नहीं पर मैं ही बन सकता हूं यही सही है।

इसी प्रकार काम शास्त्र यह कहता है कि दुनिया में जितने अधिक से अधिक भोग भोग सके उतना ही मानव सुखी है ? अर्थ, शरीर, और राज्य ये सब आखिर तो भोग के सुन्दर प्रसाधनो का पूरा पटकने के मात्र साधन हैं ? सुख तो उपभोग मे है। इस प्रकार काम भी एक दर्शन बन बैठा है। अर्थ, वैद्यक, राज्य और काम ये सब सम्प्रदाय स्वय को दर्शन बनाने को तत्पर हुये हैं।

यहा ज्ञानी अपने को बताते है कि ससार मे ये सारे दर्शन मानव जाति के दुःखो के निवारण हेतु आ तो गये हैं पर ये सब कितने पंगु हैं कि एक वस्तु के मिलने के साथ दूसरी वस्तु का तुरत अभाव दिखाई देता है तो उस वस्तु को कौन पूरी कर सके इनको इसकी भी समझ नही है।

पैसा मिलने पर यदि मनुष्य का जीवन सुख शातिमय हो जावे तो आज दुनिया के बड़े बड़े उद्योग पति जो मंदिर मे जा जाकर लम्बे हो होकर नमस्कार करते हैं और नये नये मंदिर बधाते हैं यह बंधवाते नहीं। कारण कि ये लोग तो आज करोड़पति हैं, धन से पूर्ण समृद्ध हैं, इनको मंदिर बधवाने की क्या जरुरत है ? ये मंदिर बन्धवाते है, प्रार्थना करते है यह बताता है कि इनके जीवन मे अब भी कोई ऐसी वस्तु की कमी है जो इनको खटकती है उसकी कमी महसूस होती है इसलिये अर्थ शास्त्र भी पूर्ण सुख शाति प्रदान करने मे समर्थ नहीं।

इसी प्रकार राज्य चलाने वालो को पाच पाच वर्ष तक सत्ता का सम्पूर्ण अधिकार दिया जावे और कहा जावे कि कानून कायदों के हुक्म से तुम जो भी करना चाहो करके सुख लावो। पर यह सब करते हुये भी ये प्रजा के ऊपर निष्फलता का आरोप लगाकर जिम्मेवारी से निकलना चाहते है तब अपने को ऐसा लगता है कि वास्तव में राज्य शास्त्र भी दर्शन बनने के योग्य और उचित नहीं है।

भोग शास्त्र, जिसके लिये कहने मे आता है कि इन्द्रियो को तृप्त करो, भोग भोगो। पर इनकी भी मर्यादा है। तुम को चाय बहुत पसंद हो इसलिये तुम्हे एक कप चाय मिले तो तुमको आनन्द आवे फिर दो कप आवे, फिर पाच कप आवे, फिर दस कप आवे, कोई कहे कि तुम पीये जावो और सामाने वाला कहे कि जितने कप तुम पीते जावो उतनी गीनी मै देता जाऊँ। तुम मे बहोत शक्ति हो तो तुम पन्द्रह बीस कप पी जावो, फिर तो एक मर्यादा (Limit) आकर खडी हो जाती है फिर कहे कि अब दो गीनी देऊँ तो कदास गीनी के लोभ मे एक कप अधिक पी जावो, फिर वो कहे कि अब एक कप की तीन गीनी देऊँ, इस तरह तुम कितनी पीने वाले हो ? जो यह मनुष्य वहा मर्यादा न रखे तो वमन होवे, बीमार पड़े और श्मशान यात्रा भी हो जावे ? गीनिया जैसी की तैसी रह जावे।

तो दुनिया की ये सब वस्तुए अपने को बतलाती है कि ससार मे यह वैदक शास्त्र कहो, अर्थ शास्त्र कहो कि फिर राज्य शास्त्र कहो ये चाहे जितने शक्तिशाली होवे तो भी ये मर्यादित सुख ही दे सकते है। पूर्ण शास्वत नही।

पर जैन शासन बतलाता है कि अमर्यादित सुख देने वाला, शाश्वत सुख देने वाला जगत मे कोई है तो यह आत्म दर्शन है।

आत्मदर्शन दावा नही करता, और वह बाजार म आवाज लगाकर यह भी नही कहता कि मेरे वगैर तुम्हारा काम नही चलगा। पर यदि तुम जो शोध करोगे तो तुम को अन्त मे खबर पड़ेगी कि इसके बिना अपना काम चलता रहे यह सम्भव नही ? यह बोलता नही और इसलिये धर्म की भाषा मौन की भाषा है और यह मौन मे ही सब

कुछ कहता है और मौन मे ही इसका अनुभव होता है।

अतः धर्म की सारी क्रियायें शान्ति प्रधान, योग प्रधान, संयमप्रधान, समाधि प्रधान और मौन प्रधान हैं। धर्म क्रियाओ मे ये पांच वस्तुयें जितनी आती जावे, उतनी ही तुम मे गम्भीरता आवे और आत्म दर्शन का तुम मे अनुभव होने लगे।

आत्म दर्शन-आत्म शास्त्र यह शान्ति प्रधान है। अपने जो इस मार्ग पर चलेगें वहा अन्दर से प्रेरणा मिलेगी शात और धीर बनो ? तुम्हारा जो है वो तुमको कब दिखाई देगा कब जब तुम शात और धीर बन जावोगें तब नं० १ शांत और बनाने का जो कोई कहता होवे वह एक ही दर्शन कहता है और वह ही आत्मदर्शन है शान्त और धीन बन जावोगे इसका कारण क्या ? कि जब तक तुम में शांति और धीरता नही आवेगी स्वयं की वस्तु तुम्हे प्राप्त नही होगी। जब तक चंचलता है तब तक अस्थिरता है और इस स्थिति मे कोई भी वस्तु दिखाई देवे नही।

तुम नदी मे नहाने गये हो और नहाते नहाते तुम्हारी हीरे की अंगूठी हाथ मे से सरक कर गिर जावे, पानी का प्रवाह जो बहता होवे तो इस पानी के प्रवाह में तले मे पडी हुई वस्तु तुमको दिखाई देगी नहीं। पर यही पानी जो शांत होवे, तरंग बिना का होवे, स्थिर होवे, तो तले में पड़ी हुई वस्तु दिखाई पड जाती है।

ज्ञानियों ने अपने को बताया कि अन्दर सुख है, पर यह जीव समझता नहीं, ठहरता नही और भाग दौड किया करता है और भागने दौड़ने में तो सारा जीवन ही पूरा हो जाता।

ऐसा कोई मनुष्य तुम बतला सकते हो ? जो बहुत जानकारी वाला हो, बहुत पहिचान वाला हो, जिसके बहुत से दोस्त होवे, बहुत से मनुष्यों की सूची उसके पास होवे और सारी जिन्दगी तक लोगो को राजी करता गया होवे और अन्त मे आत्मा स्वयं के जीवन का काम पूरा करके गया हो ?

ज्ञानियो ने कहा है कि भौतिक वस्तुओ से किसी के भी जीवन का काम पूरा होने वाला नही है। तुमको यह विचार आवेगा कि इस वर्ष में निवृत होऊंगा, जिस वक्त निवृत होने का तुम विचार करोगे उसी वक्त प्रवृति का प्रारम्भ होगा। पर लोग अज्ञान हैं और इस विचार के पीछे क्या है इसका भी उन्हें ख्याल नहीं। इसलिये ये लोग अमुक तरह की कल्पनायें करते हैं हमको इतना रुपया मिल जावे तो सुखी हो जावें। एक लड़का होवे तो सुखी हो जावें, विवाह हो जावे तो सुखी हो जावें। अगर अमुक कार्य इस प्रकार बन जावे तो सुखी हो जावे पर पूर्ण सुख इस प्रकार मिलता नही है। ये अतृप्ति मनुष्य को खेंचती खेंचती माया के जाल की तरह खेंचती जाती है।

तुमने भी इस तरह विचार करते-करते इतने वर्ष निकाले हैं न ? कि अब सुख आता है। ये वर्ष बीतेगा अगला वर्ष आवेगा, अगला वर्ष जावेगा तब ......?

❀

डूबता सूरज

आगा खाँ महल में एक दिन शाम को गाँधीजी, सरदार पटेल और महादेव भाई आपस में बातचीत कर रहे थे। उसी समय सूर्यास्त का बड़ा सुन्दर और अद्भुत दृश्य दिखाई पड़ा। उसे देखकर गाँधीजी बोले—"जरा देखो तो सही कितना सुन्दर दृश्य है।"

वल्लभ भाई बोले—"इस डूबते हुए सूरज को क्या देखते हो? पूजन तो सदा उगते सूरज का करना चाहिए।"

गाँधीजी बोले—"हाँ हाँ, कल सुबह वही सूरज फिर नहा धोकर आ खड़ा होगा, तब हम उसकी भी पूजन करेंगे।"

चक्की पीसें, बात करें

बात तबकी है जिन दिनों बिनोबा जी गाधी जी के पास उनके आश्रम में ही रहते थे। गाधीजी, महादेव भाई और विनोबा जी तीनों बड़ी प्रसन्नता से आटा पीसने व अनाज साफ करने का काम किया करते थे। जब तीनो रसोईघर में बैठकर अनाज साफ करने या चक्की चलाने में व्यस्त होते तो बड़ा प्रेरणादायक दृश्य होता।

एक बार गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान और शिक्षा शास्त्री श्री आनन्दशकर बापू भाई ध्रुव गांधी जी से मिलने गये। गाँधीजी उस वक्त चक्की पर बैठे अनाज पीस रहे थे। गांधी जी उन्हें देखकर बोले—"आइये पधारिए!" फिर पलभर को चक्की रोककर उनको बोले—"आपको कोई आपत्ति न हो तो आप भी पीसने बैठ जाईये। हम अनाज पीसते-पीसते ही बात करेंगे।"

तृतीय खंड

इस अङ्क मे —

जैन साहित्य के महावीर प्रसाद द्विवेदी : ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद

"साहित्य के भीष्म पितामह, लेखकों के पथ प्रदर्शक, कवियों के निर्माता, सम्पादकों की ढाल, कलम के सिपाही पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शरीर जलकर क्षार हो गए, चिता की लपटें शांत हो गईं। राख का ढेर शेष रह गया और रह गई साहित्य और इतिहास के पृष्ठों पर अंकित उनकी अमर सेवाएं।"

डॉ० पवनकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०

ब्रह्मचारीजी की[1] साहित्यिक तथा राजनैतिक सेवाओं की ज्ञान पिपासा लेकर जब मैं ग्रन्थों के पन्ने उलटने लगा, द्विवेदीजी का व्यक्तित्व उसमे से झांकने लगा। जैन साहित्य तथा हिन्दी की उलझी कड़िया सुलझाने का प्रयत्न विद्वानो द्वारा होता रहा है ऐसा ही एक प्रयत्न सन् १९६४ में श्री अगरचन्द नाहटा ने किया। उन्होंने 'आचार्य और जैनाचार्य' निबन्ध में समकालीन आचार्य विजय धर्म सूरि और आचार्य द्विवेदीजी का तुलनात्मक अध्ययन किया। प्रस्तुत निबन्ध मे ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और आचार्य द्विवेदी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। स्वतंत्रता आंदोलन तथा साहित्य हमारे अध्ययन की सीमा है प्रसगवश अपर पक्षों पर भी यत्र तत्र विचार किया गया है।

अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान डा० जानसन और हिन्दी मे द्विवेदीजी का है वही स्थान जैन साहित्य में ब्रह्मचारीजी का है। ब्रह्मचारीजी का जन्म द्विवेदीजी के जन्म के ९ वर्ष पश्चात् हुआ। अर्थात् १८७९ में ब्रह्मचारीजी और १८७० में द्विवेजी ने जन्म लिया। द्विवेदीजी यदि अपने जीवन काल में एक गुरुकुल थे तो ब्रह्मचारीजी एक मिशन।

ब्रह्मचारीजी ने विधवा विवाह की समस्या को उठाकर एक क्रांतिकारी कार्य किया। इसके लिए उन्हें समाज से कड़ी टक्कर लेनी पड़ी। द्विवेदीजी भी

विधवा विवाह के पक्ष में थे। उन्होंने गांव की कई निर्धन लड़कियों के विवाह में सहायता की तथा विधवाओं का पालन किया, उन्हें वृत्तियां दीं।

स्वावलम्बन तथा स्वाध्याय दोनों ही विद्वानों के गुण थे। ब्रह्मचारीजी की सार्वजनिक सेवा के अनेक रूप थे उनमें संस्था संचालन, पत्र सम्पादन, धर्म प्रचार, पुस्तक लेखन और पतितोद्धार मुख्य थे। इनमें से ऐसा एक भी कार्य नहीं जिसे उन्होंने अपने जीवन भर न निभाया हो।

संस्था संचालन का रूप 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्' के रूप में दृष्टव्य है। इस संस्था के वे मुख्य आधार थे। इस संस्था का आज जो रूप है वह ब्रह्मचारीजी के त्याग, लगन और सच्चे परिश्रम का फल है। द्विवेदीजी ने नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रगति में जो महत्वपूर्ण योगदान दिया उसे हिन्दी संसार कभी भूल नहीं सकेगा।

द्विवेदीजी के हृदय में जैन साधु महात्माओं के लिए सम्मान और साहित्य के लिए टीस थी जो उनके शब्दों से ही स्पष्ट है :

'जैन धर्मावलम्बियों के सैकड़ों साधु महात्मा और सैकड़ों, नहीं हजारों विद्वानों ने ग्रन्थ रचना की है। उनकी इस रचना का बहुत कुछ अंश इस समय अप्राप्त है। कुछ तो अराजकता के कारण नष्ट हो गया, कुछ काल बली खा गया, कुछ कृमि कीटकों के पेट में चला गया तथा जो कुछ बच रहा है उसे भी थोड़ा न समझना चाहिए। अब भी जैन मंदिरों में प्राचीन पुस्तकों के अनेकानेक भंडार विद्यमान हैं। उनमें अनन्त ग्रन्थ रत्न अपने उद्धार की राह देख रहे हैं। ये ग्रंथ केवल जैन धर्म से ही सम्बन्ध नहीं रखते। इनमें तत्व चिंता, काव्य, नाटक, छंद, अलंकार, कथा कहानी और इतिहास आदि से भी सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथ हैं जिनके उद्धार से जैनेतर जनों की भी ज्ञान वृद्धि और मनोरंजन हो सकता है। भारतवर्ष में जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके अनुयायी साधुओं, मुनियों और आचार्यों में से अनेक जनों ने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रंथ रचना और ग्रंथ संग्रह में खर्च कर दिया है। इनमें से कितने ही विद्वान बरसात के चार महीने तो बहुधा केवल ग्रन्थ लेखन में ही बिताते रहे हैं। यह इनकी इसी सत्प्रकृति का फल है जो बीकानेर, जैसलमेर, और पाटन आदि स्थानों में हस्तलिखित पुस्तकों के गाड़ियों बस्ते अब भी सुरक्षित पाए जाते हैं।

शिक्षा :"

ब्रह्मचारीजी ने १८ वर्ष की आयु में मैट्रिक्यूलेशन की परीक्षा प्रथम श्रेणी में तथा ४ वर्ष बाद रूड़की इन्जीनियरिंग कालेज से एकाउण्टेण्ट शिप की परीक्षा पास की। इन पंक्तियों को पढ़ते ही मेरा शोध प्रेम जागृत हो गया। परिस्थितियां भी अनुकूल थीं ब्रह्मचारीजी की शिक्षा के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मैं रूड़की इन्जीनियरिंग कालेज, अब रूड़की विश्वविद्यालय के रिकार्ड रूम जा पहुँचा। दो दिन के परिश्रम के बाद मुझे १६०१ का रिकार्ड मिल गया। १६०१ में ही ब्रह्मचारीजी ने रूड़की से परीक्षा पास की थी।

इस संबंध में मैं सिविल इञ्जीनियरिंग विभाग के अध्यक्ष डा० प्रो० पी० जैन साहब से भी मिला। उन्होंने मुझे बताया कि जब मैं बरेली में पढ़ता था तब श्री ज्ञानचन्द जैन, प्रसिद्ध समाज सुधारक ने मुझे बताया था कि ब्रह्मचारीजी ने कुछ दिन रूड़की में एम० ई० एस० विभाग में भी काम किया था।

इस खोज के उपरांत मैं ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ब्रह्मचारीजी ने रूड़की इन्जीनियरिंग कालेज से एकाउन्टेण्टशिप की परीक्षा नहीं Lower Subordinate Class की परीक्षा पास की थी। जिसमें इन्हें ६१ प्रतिशत अंक प्राप्त हुए। इस परीक्षा में

Accounts के अतिरिक्त Elementary Mathematics, Mechanics आदि विषयों की भी परीक्षा होती थी। ब्रह्मचारीजी को किस विषय मे कितने अङ्क प्राप्त हुए निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :

तालिका[2] न० १ :

1—Elementary Mathematics	320 मे से 106
2—Mechanics	50 — 16
3—Applied Mechanics	80 — 26
4—Natural Science	30 — 10
5—Drawing	350 — 116
6—Surveying	350 — 116
7—Estimating	150 — 150
8—Accounts	50 — 16
9—Languages	150 — 50
10—Materials and Construction	150 — 50
11- Practical Engg.	100 — 33
12—Workshops	50 — 16
13—Process Work	20 — 6
14—Physiques	120 — 40
Grand Total :	1970 — 1204

इस तालिका को देखने से निम्नलिखित तथ्यों का उद्घाटन होता है :

१—ब्रह्मचारीजी के जीवन मे कितनी विविधता थी। वर्कशाप में कार्य करने वाले विद्यार्थी आगे चल कर कलम का सिपाही बना।

२—रूड़की कालेज मे ब्रह्मचारीजी की फीस माफ थी क्योकि कलेण्डर मे दी गई तालिका मे उन विद्यार्थियो के नाम के बाद एक तारा अकित है जो फीस दिया करते थे। किंतु शीतलप्रसाद जी के नाम के साथ तारा अकित नहीं है।

३—ब्रह्मचारीजो को सर्वाधिक अंक ११६ क्रमशः Drawing और Surveying मे प्राप्त हुए और सबसे कम अंक Process Work मे प्राप्त हुए।

द्विवेदीजी को शिक्षा प्राप्त करने की अनुकूल परिस्थिति नही मिली। यह तथ्य उनके शब्दो मे ही स्पष्ट है—अपने गाव के देहाती मदरसे में थोडी सी उर्दू और घर थोड़ी सी सस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष की उम्र मे मै छब्बीस मील दूर रायबरेली के जिला स्कूल मे अंग्रेजी पढ़ने गया। आटा दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दाल ही मे आटे के पेड़े या टिकियाये पका करके पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था।[3]

नौकरी :

ब्रह्मचारीजी तथा द्विवेदीजी दोनो ने ही रेलवे मे नौकरी की। दोनो ही विद्वानो ने जीवन मे वक्त की पाबन्दी को महत्वपूर्ण स्थान दिया। जब द्विवेदी जी ने तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे मे काम प्रारम्भ किया। उन्हे ५० रु० महीना मिलता था। ब्रह्मचारीजी तथा द्विवेदीजी से उनके अफसर बहुत खुश थे। द्विवेदीजी को एक बार के अतिरिक्त कभी भी दरख्वास्त नही देनी पडी। ब्रह्मचारीजी के अफसर उन्हे तरक्की देना चाहते थे। ७० रु० से १२० रु० तनख्वाह करना चाहते थे। किंतु आत्मीयो की मृत्यु ने उन्हें विरक्त मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया और उन्होने १६ अगस्त सन् १६०५

में नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। बाद में इस्तीफा वापस लेने के लिए द्विवेदीजी के समान इशारे ही नहीं सिफारिशें तक की गई। किंतु धर्म और साहित्य की पुकार की वे उपेक्षा न कर सके। द्विवेदीजी भी अपने माध्यम से औरों पर अन्याय होता न देख सके और त्याग पत्र दे दिया।

स्वतन्त्रता आन्दोलन

ब्र० जी में समाज धर्म, आत्मधर्म तो था ही किन्तु राष्ट्रधर्म भी था। राजनीति क्षेत्र मे उनके विचार कांग्रेस के पक्ष मे थे। ब्र० जी ने एक बार अपने भाषण मे कहा था —

आज हम पराधीनता मे प्रजा की प्रगति नही कर सकते। विदेशी शासन पद्धति आड़े आती है। न हम व्यापार बढ़ा सकते है, न अविद्या ही दूर कर सकते है न शिक्षा ही उपयोगी बना सकते है और न शिल्प का ही गम्भीर प्रचार कर सकते है। हम पराधीनता को दूर करने के लिये यदि हम सब भारतवासी मिलकर एक भाव से प्रयत्न करे तो हम अवश्य सफलता पा सकते है। सब भाइयो को एक सूत्र में बंधकर, हम हिन्दू हैं या मुसलमान, इसे भूल जाना चाहिये और जर्मनी, जापान, अमरीका, आदि स्वतन्त्र देशों के इतिहास से हमे स्वतन्त्रता के सबक को सीखकर मुस्तैदी के साथ इस मार्ग पर डटे रहना चाहिये। यदि हम दृढ़ पुरुषार्थ करें तो भारत की अवश्य कायापलट हो सकती है। [3] (अ) ५ दिसम्बर १९४० के जैन मित्र में आपने लिखा था—

"भारत की वधा वया जनक है देशसेवा धर्म है कठिन व्रत है। यह एक ऐसा यज्ञ है जिसमे अपने को होम देना होता है। जैन समाज के लिये उन्होंने लिखा था कि अपने को भारतीय समझो, कांग्रेस का साथ दो।

ब्र० जी देश को जल्द से जल्द स्वतन्त्र देखना चाहते थे। उन्होने अपने भाषणो तथा लेखो द्वारा जन जन मे स्वतन्त्रता की चेतना जागृत की। वे चाहते थे कि विद्यार्थी इस क्षेत्र मे सक्रिय भाग लें, बड़े होकर राष्ट्र की सेवा करे। जैन समाज को भी उन्होने इस क्षेत्र मे काम करने के लिये प्रेरित किया। सन् २० मे नागपुर कांग्रेस अधिवेशन मे उन्होने कांग्रेस मे जैन समाज का प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिये स्वागताध्यक्ष को एक पत्र भी लिखा था। उनके धार्मिक भाषणो मे भी राष्ट्रीयता का रग उसी प्रकार झकता था जैसे पके अन्गूरो से रस।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रसिद्ध सेठी अर्जुन लाल जी की नजरबन्दी ब्र० जी को असहनीय थी। उन्होने इसका विरोध ही नहीं किया एक आन्दोलन खडाकर दिया। उसका स्वय नेतृत्व किया। हजारो हस्ताक्षर कराकर मेमोरियल भेजे। आर्थिक सहायता के लिये जैन समाज को ललकारा, वकीलो बैरिस्टरो को तैयार किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन के इस वीर सेनानी के साथ खादी चिरसगिनी के समान रही।

उनकी शव यात्रा पर भी खद्दर के तिरंगे झन्डे उनके स्वदेशी वेश की रागिनी गा रहे थे। [६] (अ)

द्विवेदी जी के हृदय मे भी परतन्त्रता की बेडिया शूल के समाज चुभ रही थीं। वे भी देश को जल्द से जल्द स्वतन्त्र देखना चाहते थे। द्विवेदी जी की राष्ट्रभावना श्री प्रयाग दत्त शुक्ल के शब्दो मे स्पष्ट है—

देश को आदर्शवाद की आवश्यकता थी और उसी के सहारे वह गुलामी से मुक्त होने का स्वप्न देख रहा था। इसी कारण सन् १९०४ मे नौकरी छोड़ द्विवेदी जी ने सरस्वती की बागडोर सभाली। हमारे आदर्शवाद का काशी कांग्रेस से ही (१९०५)

प्रारम्भ होता है और उसमे द्विवेदी जी सम्मिलित हुये थे। द्विवेदी जी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य थे और उसके अध्यक्ष पादरी ग्रीव्स ने कांग्रेस के प्रसंग पर साफ कह दिया था कि "अंग्रेजी अक्षर ही हिन्दुस्तान के देश भर के सार्वजनिक राष्ट्रीय अक्षर होगे।" यह सुनते ही द्विवेदी जी तिलमिला उठे थे। ४

हिन्दी सेवा

जनता स्वतन्त्रता के लिये जाग गयी थी। विदेशी सरकार बन्दूक की नोक से स्वतन्त्रता की भावनाओ को कुचल देना चाहती थी, स्वतन्त्रता के साथ साथ स्वतन्त्र भारत की होने वाली राष्ट्र भाषा का प्रश्न भी नेताओ के सामने था। ५

अपने सार्वजनिक जीवन के उषाकाल मे ही दक्षिण अफ्रीका मे प्रवास के समय गान्धी जी ने राष्ट्र भाषा की समस्या तर विचार कर लिया था और हिन्दुस्तान लौटते ही उन्होने अपना मत प्रकट करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले गुजरात शिक्षा परिषद् भरोच के अवसर पर बोलते हुये उन्होने हिन्दी के महत्व का उल्लेख किया। ६

यदि लार्ड मेकोले की भाषा नीति ने अंग्रेजी को राज्य का काम चलाने के लिये अंग्रेजी पढ़े लिखे, भारतीयो का निर्माण किया तो ब्र०जी ने अंग्रेजी पढे लिखों मे धर्म की भावना फूकी उन्हे धर्म मार्ग पर लगाया। इस कार्य को करने के लिये उन्होंने हिन्दी माध्यम अपनाया। किन्तु आवश्यकतानुसार अंग्रेजी का भी प्रयोग किया। ब्र०जी यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे कि अंग्रेजी का विष भारत की नस नस मे फैल गया है। उन्होंने जहर को जहर से मारने की नीति अपनाई. उनके इस कार्य का मूल्यांकन करते हुये श्री विश्वम्भर दास गार्गीय ने लिखा है—वे अंग्रेजी पढ़े साधु थे। अंग्रेजी पढ़ी जैन जनता को जैन धर्म के संस्कारो से संस्कृत करने में जो अलौकिक कार्य उन्होने किया है वह उपकार कभी नहीं भुलाया जा सकता। ७ (अ)

क्राइस्ट ने कहा अहिंसा जनता ने उसे फांसी पर चढ़ा दिया। गाधी ने कहा हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आपस मे भाई भाई। लोगो ने उसे गोली से उड़ा दिया। कैनेडी ने कहा रंग भेद अन्याय है उसे भी चिर निन्द्रा मे सुला दिया गया। ब्र०जी ने जैन समाज में एक आवाज उठाई, शास्त्रो का प्रकाशन होना चाहिये। जैन समाज की भोहें टेढी हो गयी। उनको उपेक्षा की गयी, इतना ही नही उनका अपमान किया गया। किन्तु वे अपने मार्ग पर डटे रहे। ब्र०जी बनी बनायी लीक पर चलने वाले प्राणी नही थे। उन्होने अपना मार्ग स्वयं बनाया और उस पर दूसरो को भी चलाया।

ब्र०जी ने देवनागरी लिपि मे लिखित ग्रन्थो का प्रकाशन कर जैन साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी की जो सेवा की उसका उदाहरण जैन साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्र०जी अधिकतर हिन्दी ही बोला करते थे किन्तु जब कोई अंग्रेजीदा उनके अंग्रेजी ज्ञान की परीक्षा लेने का प्रयत्न करता तो वे अंग्रेजी भी बोलते थे। हिन्दी पुस्तकें लिखने मे उन्हें विशेष आत्मिक शान्ति मिलती थी। हिन्दी ट्रैक्ट आदि लिखने मे वे सदैव तत्पर रहते थे।

द्विवेदी जी तो हिन्दी साहित्य के उस विशाल वट वृक्ष की छाया थे जिसमे बैठकर कितने लेखक कवि और राष्ट्र कवियो ने हिन्दी भाषा को उज्ज्वल किया है। आप राष्ट्रभाषा परिष्कारक, युग निर्माता के रूप मे प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण जीवन हिन्दी के लिये सघर्ष करते रहे। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद तक पहुँचाने के लिये उनके रक्त की एक एक बून्द काम आ गई। हिन्दी की वेदी पर

द्विवेदी का यह समर्पण हिन्दी संसार कभी भूल नहीं सकेगा।

साहित्य—

ब्र० जी का सर्व प्रथम लेख २४ मई सन् १८९६ ई० के "हिन्दी जैन गजट" में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त ब्र०जी ने विभिन्न विषयो पर लगभग ७७ ग्रन्थो की रचना की जिनमे २ रचनायें काव्य सम्बन्धी हैं तथा ग्रन्थ रचना इतिहास, तारण साहित्य, जीवन चरित्र, जैन दर्शन आदि पर है। श्रावक जाति का आचार और श्रावक जाति का इतिहास ग्रन्थो का बगला और उडिया मे अनुवाद भी हुआ। तारण साहित्य लिखकर ब्र०जी ने अन्धकार मे पडे साहित्य का उद्धार किया।

ब्र०जी का ज्ञान बहुमुखी था। नये विषय पर लिखने की अपूर्व शक्ति उनमे थी। नवीन ग्रन्थ रचना तथा अनुवाद का कार्य वे रात्रि मे ३ बजे के बाद किया करते थे। ब्रह्मचारी जी ने बौद्ध और जैन साहित्य के अनुसन्धान के लिये लका और बर्मा की यात्रा भी की। उनके प्रयत्न स्वरूप पन्जाब यूनीवर्सिटी के पाठ्क्रम मे जैन पुस्तको को स्थान प्राप्त हुआ।।

ब्र०जी को जैन जनता की भलाई करने की विशेष रूचि थी। इसके लिये उन्होने मौलिक ग्रन्थो की रचना के अतिरिक्त भाषा टीकायें लिखी तथा दूसरे विद्वानो को भी इस कार्य मे लगाया। स्वर्गीय बैरिस्टर जुगमन्दर लाल, बैरिस्टर चम्पत राय और बा० अजित प्रसाद जैसे साहित्य एवं समाज सेवी प्रदान करने का श्रेय ब्र०जी को ही है।

उन्होंने ग्रन्थकार अनुवादक, लेखक और सम्पादक के नाते इस युग के जैनियो मे सबसे बढाकर प्रचुर साहित्य समाज और देश के लिये दिया, किन्तु इसके लिये जो उन्होने अपनी आत्म साधना लगाई वह लब्धप्रतिष्ठ यशस्वी साहित्य शिरोमणि बनने के लिये नही, बल्कि सफल साहित्यिक कर्मवीर होने के लिये। किन्तु इतना होने पर भी वे विद्यार्थियो से कहा करते थे कि मै न तो विद्वान हूं और न ही लेखक, तुम्हारे जैसा ही एक विद्यार्थी हू।

द्विवेदी जी ने हिन्दी कालिदास की समालोचना, मलिता विलास, रसज्ञरंजन, काव्य मंजूषा, नाट्यशाला, साहित्यसीकर, साहित्य सन्दर्भ रत्नावली आदि ५० ग्रन्थो की रचना की। इस प्रकार हिन्दी साहित्य को अमूल्यनिधियां से भरा।

साहित्यकार निर्माता—

ब्र०जी नये लेखको को प्रोत्साहित करते रहते थे। एक बार श्री कान्ता प्रसाद ने कुछ लिखा डरते-डरते उसे ब्र०जी के पास भेज दिया। ब्र०जी ने उसमे सुधार कर 'जैन मित्र" मे प्रकाशित कर दिया। बाद मे श्री कान्ता प्रसाद वीर के सहायक सम्पादक बने। श्री धर्मचन्द ने लिखा है कि १९२९ मे यूरोप से लौटा तो वे बराबर मुझे 'जैन मित्र' के लिये मेरे यूरोप के अनुभवो को लिखने के लिये उत्साहित किया करते थे। उसी उत्साह से प्रभावित होकर मैने अपने अनुभव जैन मित्र और अन्य पत्रो मे भेजने आरंभ कर दिये और चलकर वे ही 'यूरोप के सात मास' नामक ३५० पृष्ठ की पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हुए। ब०जी ने स्वतन्त्रता सग्राम के अमर सेनानी बा० लाजपत राय को भी जैन साहित्य पर लिखने की प्रेरणा दी थी।

द्विवेदी जी भी नये नये लेखको की खोज को रहते थे और उन्हे उत्साहित करते रहते थे। इस प्रकार लेखक निर्माण मे अपना महत्वपूर्ण योगदान देकर साहित्य मे वृद्धि की। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को सबसे अधिक द्विवेदी जी ने ही प्रोत्साहित किया था और उन्होने ही अन्य बहुत से कवियो और लेखको को आगे बढाया।

सम्पादक—

ब्र०जी ने वीर, जैन मित्र, जैन गजट का सम्पादन किया तथा जैन हितोपदेशक, सनातन जैन आदि को दिशा प्रदान की।

ब्र० जी चाहे सफर मे रहे अथवा तूफानी दौरे मे या रोग शय्या पर किन्तु वीर की सेवा निरन्तर करते रहे। यह निरन्तरता कभी भंग नही हुई। उन्हें सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि वीर के प्रकाशन में देर न हो।

सन् १६०६ मे पूज्य ब्रह्मचारी जी ने जैन मित्र का सम्पादन अपने ऊपर लिया। इसका सम्पादन कार्य बडी योग्यता, निर्भीकता और श्रम से किया। आपके सम्पादन काल मे समाज सुधार, सामाजिक सगठन आदि विषयो पर उच्चकोटि के लेख और सम्पादकीय प्रकाशित होते थे। प्रायः प्रत्येक अक मे धर्मात्माओ के लिये अध्यात्म रस का अमृत होता था। और साथ ही "मॉर्डन रिव्यू" आदि अग्रेजी पत्रो से इतिहास, कला, साहित्य आदि विषयो की अच्छी सामग्री सचित कर जैन मित्र मे देते थे।

सफर मे भी उनका कागजो से भरा थैला उनके साथ रहता था। गाडी मे लेटे लेटे अखबार पर निशान लगाते रहते थे। ब्र० जी मितव्ययी थे। अखबारो के लिये लेख आदि लिखने के सस्ते कागजो का प्रयोग करते थे।

ब्र० जी के समय मे सम्पादन कला फूलो की सेज नहीं, काटो का मार्ग था। आप इस कला के सफल कलाकार ही नही निर्माता भी थे। आपने २० वर्ष से भी अधिक इस कला की सेवा की। ब्र० जी ने विद्यार्थियो मे समाचार पत्र पढ़ने की प्रेरणा भी उत्पन्न किया करते थे। स्वयं जैन मित्र उन्हें पढ़ने के लिये देते थे।

द्विवेदी जी भी बड़े ही कर्तव्य निष्ठ सम्पादक थे। श्री बहूर वक्ष्या ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि हिन्दी संसार में उनके जैसा सुयोग्य और कर्तव्य साधक सम्पादक न भूत मे हुआ था, न वर्तमान में है, और न शायद भविष्य मे होगा।[८] उनकी कर्तव्य निष्ठता उनके शब्दो से ही स्पष्ट है—

"एक दफा मै एकाएक बीमार पड गया। जिगर बहुत बढ़ गया। हल्के से हल्का भोजन न पचने लगा। डाक्टरो ने डरा दिया। उनकी बातचीत में सूचित हुआ कि शायद मेरी परमाल समाप्ति के निकट है। इस पर मैंने तीन चार दिन में धीरे-धीरे सामग्री एकत्र करके "सरस्वती" की अगली तीन संख्यायो का मसाला एक ही साथ प्रेस भेज दिया। यदि डाक्टरो का अनुमान सही निकले, तो मेरे बाद भी तीन महीने तक "सरस्वती" समय पर निकलती रहे। यह सूचना न देनी पड़े कि सम्पादक के मर जाने से वह देर से निकल सकी थी, बन्द रही। तीन महीने में कोई दूसरा सम्पादक मिल ही जायेगा।[९] चाहे द्विवेदी जी को पूरा अंक स्वयं ही क्यों न लिखना पड़ा हो किन्तु "सरस्वती" का प्रकाशन समय पर ही हुआ।

सरस्वती मे वे उन ही रचनाओं को जाने देते थे जिन्हे वे पाठको के लिये उपयुक्त समझते थे। रचनाओ को तराश खराश कर, सशोधन व सुधार कर उपयोगी बना देते थे। द्विवेदी जी का यह संशोधन इतना लाभप्रद होता था कि मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द जैसे साहित्कारो ने थोड़े समय मे ही पर्याप्त प्रगति करली थी। उनके सुधारो से कभी-कभी तो रचनाओ मे इतना अधिक परिवर्तन हो जाता था कि लेखक स्वय भी न पहचान पाता था कि यह उसकी रचना है।

सम्पादकों की ढाल—

ब्र० जी सम्पादकों के लिये ढाल का कार्य भी करते थे। एक बार वृद्ध सम्पादक पं० रघुनाथ दास

जी के हटाने का प्रस्ताव सामने आया। कुछ लोग हटाने के पक्ष में थे तो कुछ उन्हें रखने के। ब्र० जी ने उनकी धार्मिक नीति की प्रशंसा कर उनकी रक्षा की। ब्र० जी जानते थे कि कौन व्यक्ति सम्पादन कार्य के लिये उपयुक्त है, उन्होने बैरिस्टर चम्पतराय जी का सहायक सम्पादक बनने के पक्ष मे मत दिया था। जब कि पण्डितदल उनके विपक्ष मे था। पं० नाथूराम प्रेमी श्री माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ माला का सम्पादन कर रहे थे। जैन गजट मे विरोधी प्रचार के कारण उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। इस पर ब्र० जी ने जैन मित्र मे मार्मिक टिप्पणी लिखकर एक और स्थिति को काबू मे किया और दूसरी ओर प्रेमी जी को आत्मिक बल प्रदान किया।

परिषद् के रुड़की अधिवेशन के अवसर पर "वीर" की आर्थिक समस्या सामने आयी। "वीर" का प्रकाशन बन्द करने की बात सुनकर ब्र० जी तड़फ उठे उन्होंने कहा—वीर अवश्य निकले, चाहे निकले एक ही पेज का चन्दे मे सबसे पहले १ रु० मैं लिखाता हूं। आप और करें। कमी न रहेगी। तो इसके लिये मैं समाज से भीख मागकर लाऊँगा।[६] (अ) इस प्रकार ब्र० जी ने ढाल बनकर सम्पादको और समाचार पत्रो की रक्षा की।

भाषा शैली—

ब्र० जी का अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, पाली, अपभ्रन्श, प्राकृत, मागधी, कनडी, गुजराती तथा मराठी पर समान अधिकार था। ब्र० जी ने अपने ही कठोर परिश्रम से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। विदेशियों अथवा देशी अंग्रेजी को उनके प्रश्नो के उत्तर देने के लिये धारा प्रवाह अंग्रेजी बोलते थे। संस्कृत से उन्हे विशेष प्रेम था। एक बार शोलापुर मे एक फंड जैन संस्कृत ग्रन्थो के पढ़ने वाले छात्रो के लिये स्थापित किया गया था। किन्तु बाद मे उसमे से कुछ छात्र-वृत्तियां अंग्रेजी के लिये दिये जाने की योजना होने लगी। ब्र० जी ने जैन मित्र के माध्यम से इसका विरोध किया और उसे उस का दुरुपयोग कहा।

गहन से गहन विषयों को सरल से सरल भाषा मे व्यक्त करने की कला मे ब्र० जी सिद्धहस्त थे। शब्द शक्ति के वे पारखी थे। भाव पूर्ण शब्दो का प्रयोग कर विषय को प्रभावशाली बना देते थे। बालक का सा कौतूहल उनकी भाषा का विदित गुण है। भाषण मे भी वे सीधी सादी अहकार शून्य किन्तु सजीव भाषा का प्रयोग करते थे। उन्होंने रचनाओ को साहित्यिकता के रंग मे रगने का प्रयत्न कभी नही किया जो भाव जिस रूप मे उनके मन मे आया उसे उसी रूप मे व्यक्त कर दिया।

उनकी लेखन कला प्रचार प्रधान रही है। वे इस दृष्टि से अपने लेखो को नही लिखते थे जिसमे शब्दालकार हो, अलकार तो उनके लेखो मे स्वय आ गये हैं। ब्र० जी को अलकारो के प्रति कोई मोह नहीं था।

द्विवेदी जी की भाषा विषयक मान्यता मन की तरग पर आश्रित न होकर निश्चित सिद्धान्तो पर प्रतिष्ठित थी। वे भाषा को अभिव्यक्ति का साधन ही मानते थे साध्य नही। उनकी निभ्रान्त धारणा थी कि यदि हिन्दी मे व्यवहृत अन्य भाषाओ के शब्दो से विचार व्यजना मे अपेक्षित सहायता मिलती है तो उन्हे अवश्य ग्रहण करना चाहिये। °

अपनी भाषा सम्बन्धी नीति स्पष्ट करते हुये द्विवेदी जी ने स्वय लिखा है।

सशोधन द्वारा लेखो की भाषा अधिक सम्यक पाठको की समझ मे आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द

या वाक्य लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।[11] एक बार उन्हे एक पी०एच०डी० महोदय का लेख प्राप्त हुआ। जिसके साथ उन्होंने लिखा था कि इसमें उर्दू शब्द एक भी न आये। द्विवेदी जी ने लेख बिना पढे ही वापस कर दिया था।

ब्र० जी के समान द्विवेदी जी के सम्बन्ध मे भी यह भ्रान्ति रही है कि उनको अंग्रेजी का ज्ञान नहीं। किन्तु अंग्रेजी पर भी हिन्दी के समान ही उनका अधिकार था। पाश्चात्य विद्वानों मे उनका सम्बन्ध रहा है। उनके समय में सरस्वती मे विदेशी विद्वानो का परिचय और संस्कृत में उनके योगदान सम्बन्धी सामग्री प्रकाशित होती रहती थी।

द्विवेदी जी की भाषा शैली ब्र० जी की तरह ही स्वाभाविक तथा सजीव है। जब तक ससार में हिन्दी और जैन साहित्य का लेशमात्र भी अस्तित्व रहेगा तब तक दोनो विद्वानों का नाम अमर रहेगा।

कलम के सिपाही:—

ब्र० जी रात्रि में लिखा करते थे। रोग ग्रस्त होने पर भी उन्होने लिखना नहीं छोड़ा। अतः दिन प्रतिदिन कमजोर होते चले गये। प्रो. हीरालाल ने लिखा है कि मैं जब भी उनसे मिलने गया, उन्हें कुछ लिखते पढ़ते ही पाया। रेलगाड़ी तक मे एक मिएट भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। वहां भी उनकी लेखनी चलती ही रहती थी। अन्त में रोग ने जब उन्हें मृत्यु के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। स्वयं लिखना कठिन हो गया। तब भी लेखनी उनके साथ नहीं छूटी। ग्रन्थ निर्माण कार्य चलता ही रहा। कवि के शब्दों में अन्त समय तक उनके कर से नहीं लेखनी छूटी। निज कर्तव्य निभाते उनकी जीवन डोरी टूटी।

जिस प्रकार युद्ध भूमि मे, सिपाही के शरीर मे रक्त की एक भी बूंद और बन्दूक में एक भी गोली शेष रहती है उसकी बन्दूक गोलियां उगलती ही रहती है। इसी प्रकार अन्त समय तक ब्र० जी की बन्दूक रूपी लेखनी शब्द उगलती रही। उन्हें अपने साहित्य के प्रशंसको की तलाश नहीं थी। यदि लिखते समय कोई उनकी प्रशंसा कर देता था तो उनके लिये लिखना कठिन हो जाता था।

आत्म प्रशंसा से दूर कलम के सिपाही ब्र०जी जैसा जैन साहित्य में अन्य दूसरा कोई नहीं।

द्विवेदी जी ने भी अपने जीवन काल से इतना अधिक लिखा है कि उनके समकालीन साहित्य का अवगाहन करने वाले जिज्ञासुओं को यह जानकर अचरज होता है कि अपने क्रियाशील जीवन के सीमित वर्षों मे द्विवेदी जी इतना कैसे लिख पाये। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गिने चुने साहित्यकारों को छोड़कर लेखनी की ऐसी कर्मठता का उदाहरण कदाचित् ही मिले।[12]

ब्र० जी को मरते दम तक साहित्य और समाज की चिन्ता रही। मरने से पूर्व उन्होने श्री मूलचन्द किशनदास कापडिया सम्पादक जैन मित्र को एक पत्र लिखा। मेरा सब साहित्य विषयक सामान आप सम्हाल लें व उसकी उचित व्यवस्था करना क्योंकि मेरे जीवन का मुझे भरोसा नही है। अन्त में १० फरवरी सन् १६४२ को प्रातः ४ बजे पूज्य ब्र० जी के प्राण पखेरू रुग्ण शरीर रूपी पिंजड़ा त्यागकर उड़ गए।

थे समाज के लिये आप तो जागृति के वरदान।
न्यौछावर कर डाले अपने साहित्य पर प्राण॥

द्विवेदी जी अपने अन्त समय में राय बरेली आ गये थे। उन्हें जलोदर रोग हो गया था।

सिविल सर्जन डा० जैन ने ४ दिसम्बर को उनको पेट से पानी निकाला भी किन्तु वे समय की गति को पकड़ नहीं सके और २१ दिसम्बर १६३८ को हिन्दी साहित्य का यह उज्ज्वल दीप सदा के लिये बुझ गया।

साहित्य के भीष्म पितामह, लेखको के पथ प्रदर्शक, कवियो के निर्माता, पत्रकारों में महान् पत्रकार के शरीर जलकर क्षार हो गये। चिता की लपटे शान्त हो गई। राख का ढेर शेष रह गया। किन्तु उनकी सेवाओं को क्या जैन और हिन्दी साहित्य कभी भूल सकेगा।

१—द्विवेदी स्मृति अक अगस्त १९६४ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार पृ० १९५
२—तालिका न० १ Thomason Civil Engineering College के १९०१ के Calendar मे दिये गये Detail and abstract Results के आधार पर बनाई गई है द्रष्टव्य १८ १९
३—भाषा मेरी जीवन रेखा—पृ १२
(अ) 'वीर' का ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद विशेषाक, १९४४-पृ० ६९
४—भाषा आचार्य को प्रणाम—पृ० २९-३०
५—रूडकी विश्वविद्यालय न्यूज बुलेटिन के गाधी विशेषाक मे प्रकाशित लेखक का लेख, गांधी जी की हिन्दी सेवा पृ० १०
६—भारतीय नेताओ की हिन्दी सेवा। शोध प्रबन्ध। डा० ज्ञानवती दरबार रन्जन प्रकाश नई दिल्ली १९६१ पृ० १८६। राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी पृ० ३ से ८ तक।
(अ) 'वीर' १९४४ पृ० ८
७—भाषा-आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व पृ० ४८
(अ) वीर १९४४-पृ० ८४
(ब) वीर १९४४ पृ० ९६
८—भाषा—कर्तव्य निष्ठ द्विवेदी जी पृ० ३८
९—भाषा—आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व बिनोद शंकर व्यास पृ० ४८
(अ) वीर १८४४ पृ० ३७
१०—भाषा—सुधारक आचार्य द्विवेदी : सुरेन्द्रनाथ सिंह पृ० १०९
११—भाषा—मेरी जीवन रेखा पृ० १६
१२—सम्पादकीय से।

आप भी पंचाग देखना सीख सकते हैं !

> "हमें जीवन में पग पग पर पंचांग धारी ज्योतिषियों की आवश्यकता होती है। लड़का हो तो, विवाह हो तो, यात्रा करनी हो तो अथवा अन्य किसी कार्य का मुहुर्त देखना हो तो ज्योतिषी के पास जाना होता है और वह १ मिनट में पंचांग उलट कर जवाब दे देता है। अगर हम भी पचांग देखना सीखलें तो हमारी ऐसी छोटी छोटी मुश्किलें तो हल हो ही सकती हैं।
>
> —सम्पादक

卐

वैद्य प्रकाश चन्द्र 'पांड्या'
आयुर्वेदाचार्य
गोपाल गंज, भीलवाड़ा

"आप कोट-पेन्ट पहिनते हैं फिर आपके पास पंचांग और जन्म-पत्र का कार्य कैसा ? पंडित भी आप नहीं और जाति से ब्राह्मण भी नहीं। आखिर, ब्राह्मणों की इस विद्या को आपने क्योंकर ग्रहण किया ?' आये दिन मेरे से ऐसे प्रश्न अपने प्रेमी बंधुओं के होते ही रहते हैं और प्रायः मैं उन्हें संतुष्ट भी करता रहता हूं।

इस समय जैन-समाज में ज्योतिष के विद्वान् बहुत ही कम हैं और दिन-प्रतिदिन समाज मे लोगो की रुचि इस ओर बहुत ही कम होती जा रही है जिसमे आधुनिक युग का शिक्षित-वर्ग तो बिल्कुल भी इस संबध में जानकारी नहीं रखता और न वह कुछ जानने का प्रयत्न ही करता है। वह तिलकधारी पंडितो और ब्राह्मणो तक के लिए ही इस विद्या को सीमित समझता है। लेकिन, इतिहास उठाकर देखा जाय और जैन भंडारो मे उपलब्ध ज्योतिष एवं अन्य साहित्य द्वारा सही मापदण्ड किया जाय तो इस विज्ञान को जितना जैनाचार्यों ने अथक् परिश्रम, अन्वेषण और असीम साधना द्वारा जिस प्रकार से चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया, उतना शायद अन्य आचार्यों ने नहीं !

दुःख है कि धीरे-धीरे समाज से यह विद्या अब लोप होती जा रही है। यहां तक कि किसी युवक को यह कहा जावे कि अमुक 'पंचाग' को

देखकर कृपया आज की तिथियां दिनांक तो बता दें ? तो उसका उत्तर 'ना' में ही होगा।

अतः युवा वर्ग को 'पंचांग' के संबंध में थोडी बहुत जानकारी हो सके, इस दृष्टि को लेकर यह लेख पाठकों के लिए प्रस्तुत है।

ज्योतिष-संबंधि प्रत्येक ज्ञातव्य गणना, फलादेश, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, कारण आदि की जानकारी के लिए मूल आधार पंचाग ही होता है। उसी से सही तिथि, वार, ज्योतिष-सबधि संपूर्ण गणना एव फलादेश निकालने मे सरलता होती है। इसलिए—

'तिथि वार च नक्षत्रं, योग कारण मेव च'

अर्थात् जिससे तिथि, वार, नक्षत्र, योग, कारण इन पांच वस्तुओ का ज्ञान हो, अथवा जिसमे इन पाचों विषयो का समावेश हो, उसे 'पचाग' कहते हैं।

इस समय देश मे विभिन्न प्रदेश एवं शहर से करीब ६०० विविध पचाग प्रकाशित होते हैं। इन पंचांगों की गणना भिन्न भिन्न सिद्धातो जैसे सूर्य सिद्धात, केतकी, ग्रह-लाघव, मकरन्द, ब्रह्म-सिद्धात, आर्य-सिद्धात, राम-विनोदिनी आदि से होती है। ये सब पंचाग अपने-अपने सिद्धात की गणना के अनुसार बनते हैं और प्रायः ठीक होते हैं।

कभी-कभी क्षेत्रीय-समय में अंतर हो जाने के कारण पंचांगो मे भी अंतर आ जाता है। एक बार एक पचाग मे भरणी नक्षत्र रात्रि के ११ बज कर ७ मिनिट तक था और दूसरे पचाग में सायंकाल ६ बजकर ५१ मिनट तक था। उस दिन यदि किसी का जन्म ६-५१ सायं से रात्रि के ११-७ के बीच हुआ तो उसके जन्म-नक्षत्र में बडा अंतर आयेगा। एक से भरणी होगा और दूसरे से कृतिका। इससे संपूर्ण जीवन के फलादेश मे ही अंतर आ जावेगा। अतः जहां तक हो 'पचांग' अपने निकटतम क्षेत्र विशेष से प्रकाशित पचाग ही लेना चाहिए। यदि दूसरा पंचाग लिया जाय तो उसमे अपने अपने शहर का समय शुद्ध बनाने का तरीका होता है, उससे समय शुद्ध बना लेना चाहिए।

तो अब आइये और पचांग देखना सीखिए। इसके लिए 'श्री विश्व-विजय 'सवत् २०२७ (सन् १९७०-७१) राज-प्रकाशन पुरानी-मंडी अजमेर से प्रकाशित को अपने पास ले लीजिए। यह पचांग श्रेष्ठ पंचागो मे गिना जाता है। इसमे प्राचीन घडी-पल के साथ भारत मे सब स्थान पर प्रचलित घंटे-मिनट का समय भी साथ मे दिया होता है।

सबसे पहिले पृष्ठ २३ निकाल्गिए। यहा से ही प्रत्येक माह का तिथि, वार आदि का विवरण आरंभ होता है। इसमे कुल २९ खाने है। इनको क्रमश. नीचे देखकर समझने का प्रयत्न कीजिए—

(१-प्रथम खाने मे)—'रा० मि०' लिखा हुआ है अर्थात् 'राष्ट्रीय-मिति' यानि इस खाने के नीचे जो अक होगे-वही उस दिन की 'राष्ट्रीय-मिति' होगी। सवत् २०२७ चैत्र शुक्ला १ को '१७' राष्ट्रीय-मिति है।

(२ खाने में)—'तिथि' लिखा है अर्थात् यह तिथि का खाना है। उसके नीचे '१' से प्रतिपदा आदि क्रमश. नीचे समझना चाहिए।

(३ खाने में)—'वार' लिखा है। अर्थात् उसके नीचे 'मंगल' आदि क्रमशः वार होंगे।

(४-५ खानें में)—'घटी-पल' लिखा है अर्थात् उसके नीचे '३ घटी ३० पल' तक प्रतिपदा रहेगी।

(६-७ खानें मे)—'घंटा-मिनिट' अर्थात् ७ घंटा १२ मिनट तक प्रतिपदा है। यह रेलवे की घड़ी के अनुसार दिया गया है। इसमे शून्य से ६ घटे तक घण्टे अर्ध रात्रि के बाद अर्थात् रात्रि के बारह बजने के बाद प्रात. ६ बजे तक समझना चाहिए। १२

तक मध्याह्न बारह बजे तक और बारह के उपरांत १२-१ से २३-५६ या २४ घंटे तक दोपहर बारह बजे से अर्ध रात्रि के १२ बजे तक समझना चाहिए।

पंचाग में कई जगह २४ घंटे के बाद २५-२६ आदि ३० घंटे तक गत वर्ष से लगाये गये हैं। वहां इस प्रकार समझना चाहिए कि २५ घंटे को रात्रि के १२ बजे के बाद १ बजे अगली अंग्रेजी तारीख में समझें। जैसे चैत्र शुक्ला ३ बुधवार दिनाक ८ अप्रेल को ५६ घ० पल, स्टैं० टा० २८।५५ लिखा है। इसका अर्थ यह है कि तृतीया तिथि बुधवार को अर्ध रात्रि के उपरात ४ बजकर ५५ मिनट तक रहेगी। अंग्रेजी तारीख के हिसाब से तारीख ६ अप्रेल गुरुवार को ४ घण्टे ५५ मिनट होगा।

(८-खाने मे)—'नक्षत्र' अर्थात् प्रतिपदा(एकम्) को 'अश्विनी' नक्षत्र है।

(९-१० खाने मे)—'घटी-पल' अर्थात् नक्षत्र की ३७ घटी ४५ पल है।

(११-१२ खाने मे)—'घटा-मिनिट' अर्थात् नक्षत्र के २१ घटा १४ मिनिट हैं।

(१३- खाने मे)—'योग' अर्थात् प्रतिपदा को उस दिन 'वैर' योग है।

(१४-१५ खाने मे)—'घटी-पल' अर्थात् योग की ८ घटी १५ पल है।

(१६ खाने मे)— 'करण' अर्थात् प्रतिपदा को 'बब' करण है।

(१७-१८ खाने में)—'घटी-पल' अर्थात् करण की ३ घटी ३० पल है।

(१९-२० खानें में) —'दिन-मान' के नीचे घटी पल लिखा हुआ है अर्थात् इस खानें के नीचे जो घटी पल होंगे-वे दिन-मान के घटी पल होंगे। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को ३१ घटी १३ पल हैं।

(२१-२२ खाने में)—'सूर्योदय' के नीचे 'घंटा मिनट' लिखा हुआ है अर्थात् प्रतिपदा को सूर्य का उदय प्रातः ६ बजकर ८ मिनट पर होता है।

(२३-२४ खाने मे)—'सूर्यास्त' के नीचे 'घन्टा मिनट' लिखा है अर्थात् प्रतिपदा को १८ घंटे (सायं-६ बजे) ३७ मिनट पर सूर्य अस्त होता है।

(२५ खाने में)—'हिं' अर्थात् हिन्दू तारीख चैत्र की २५ है।

(२६ खाने मे)—'मु०' अर्थात् मुसलमानी तारीख मुहर्रं० २६ है।

(२७ खाने में)—'अं' अर्थात् अंग्रेजी तारीख अप्रैल ७ है।

(२८ खाने में)—'चंद्र-संचार' अर्थात् चंद्रमा मेष राशि ० घटी ० मिनिट तक प्रतिपदा को रहेगा।

(२९ खाने मे)–इस खाने में पर्व, व्रत, त्योहार आदि का उल्लेख रहता है।

इस प्रकार आप समझ गये होंगे कि इन २९ खानों में किन किन बातों का उल्लेख होता है।

पंचांग में पृ० २१ से २३ तक पूरे वर्ष के प्रतिदिन के 'दैनिक-स्पष्ट ग्रह' दिये हुए हैं। इन स्पष्ट ग्रहों से प्रत्येक स्थान के तात्कालिक स्पष्ट ग्रह भी जाने जा सकते हैं। इस प्रकार यह आसानी से ज्ञात हो जाता है कि कौन ग्रह किस राशि पर किस अंश पर आज है।

इस पंचांग में पूरे वर्ष का देश विदेश की राज-नीति के संबध में तथा नाम-राशि आदि का वर्ष फल, संवत् २०२७ के विवाहादि मुहूर्त, दैनिक लग्न सारिणी, लवांश, विविध अन्य मुहूर्त, अक्षाश देशांतर सारिणी आदि बहुत सी बातें हैं, जो पढ़ने पर सरलता से समझ में आ सकती हैं। ✪

सबके लिए कुर्ता

गाँधीजी एक बार मेरठ गये, तब उनसे एक बच्चे ने पूछा—"बापू, आप कुर्ता क्यों नहीं पहनते ?" गाँधीजी ने कहा—"बेटा, मेरे पास कुर्ता है ही नहीं मैं कहाँ से पहनूँ ? क्या तुम्हारी माँ मेरे लिए कुर्त्ता सी देगी ?"

बच्चे ने उत्साहित होकर कहा—"हाँ क्यों नहीं ?" गाँधीजी ने कहा—"लेकिन बेटा, मेरा कुर्त्ता सिर्फ अपने लिए नहीं चाहता। यदि तुम्हारी माँ देश मे जितने भी आदमी बिना कुर्ते के हैं उन सबके लिए कुर्त्ता दे सके तो मैं भी कुर्त्ता अवश्य पहनूँगा।"

सन्त विनोद

संकलनकर्ता :
कपूरचंद पाटनी
एडवोकेट

दोष-दर्शन

गाँधीजी के किसी आश्रमवासी से कभी कोई दुराचार हो गया। किसी दूसरे ने इसकी शिकायत गुमनाम पत्र लिखकर गाँधीजी से की।

उस दिन प्रार्थना पत्र के बाद गाँधीजी गम्भीर होकर बोले—"एक तो ऐसे विषय में गुमनाम खत लिखना गलत है। दोयम, किसी के पाप की ओर अंगुली उठाते वक्त याद रखना चाहिए कि बाकी की तीन अंगुलियाँ अपने दिल की तरफ होती हैं।"

निन्दा

शेखसादी अपने पिताजी के साथ मक्का जा रहे थे। काफिले का नियम था—आधी रात को उठकर प्रार्थना करना। एक दिन आधी रात को सादी ने प्रार्थना के बाद दूसरे लोगों को सोते देख अपने पिता से कहा—"देखिए; ये लोग कितने आलसी हैं न उठते हैं न प्रार्थना करते हैं।"

पिता ने कड़े शब्दों में कहा—"अरे सादी! बेटा! तू भी न उठता तो अच्छा होता जल्दी उठकर दूसरों की निन्दा करने से तो न उठना ही ठीक था।"

भिखारी

एक फकीर बादशाह अकबर के पास आया। देखा कि नमाज के बाद बादशाह दुआ मांग रहा है–"या खुदा! मुझ पर रहम कर। मेरा खजाना भरा रहे………।" फकीर यह सुनकर चल पड़ा। तभी बादशाह की दुआ खत्म हुई, उसने लौटते फकीर को बुलाया और आकर यूँ ही चल देने की वजह पूछी। फकीर बोला—

मैं तुझसे कुछ माँगने आया था। मगर देखता हूं कि तू किसी से मांगता है। जिससे तू मागता है उसी से मैं भी मांग लूँगा। तुझ भिखारी से क्या लूँ ?

क्रोध

एक साधुजी किसी भंगी से छू गए। चिल्लाये 'अन्धा हो गया है, देखकर नहीं चलता; अब मुझे फिर से स्नान करना पड़ेगा।' भंगी हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! स्नान तो मुझे करना पड़ेगा।'

'तुझे क्यों स्नान करना पड़ेगा ?'

'सबसे अपवित्र चांडाल क्रोध है। उसने आपके अन्दर घुसकर मुझे छू दिया है। इसलिए मुझे नहा कर पवित्र होना पड़ेगा।'

साधुजी शर्म से पानी-पानी हो गये।

अभेद

शुकदेव ब्रह्मज्ञान सीखने के लिए जनक के पास गये। जनक बोले—"गुरुदक्षिणा पहले दे दो।

ब्रह्मज्ञान करने के बाद तुम गुरुदक्षिणा नहीं दोगे, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी गुरु और शिष्य में भेद नहीं देखता।"

शिक्षण

किसी ने लुकमान से पूछा—'आपने तमीज किस से सीखी ?' उसने जवाब दिया—"बदतमीजों से" क्योंकि मैंने उन लोगो मे जो कुछ बुरी बात देखी उससे परहेज किया अक्लमन्द खेल मे भी शिक्षा प्राप्त कर लेता है। बेवकूफ हिकमत की सौ बात सुन लेने पर भी खेल और बेवकूफी ही सीखता है।"

याद

किसी बादशाह ने महात्मा से पूछा—'क्या आपको कभी मेरी भी याद आती है ? उसने जवाब दिया, "हाँ, जब मैं ईश्वर को भूल जाता हू"

पापी कौन ?

एक बार आदमी के शरीर और आत्मा मे बहस छिड गयी। शरीर तमक कर बोला—"मैं तो जड हूं—मिट्टी का पिण्ड मोह पैदा करने वाली चीजों को देख भी नहीं सकता। फिर भला मैं पाप कैसे कर सकता हू ?"

आत्मा कैसे चुप रहती ? बोली मेरे पास पाप करने के साधन ही नहीं हैं, मैं पाप कैसे कर सकती हूँ ? इन्द्रियों के बिना ही कोई काम हो सकता है क्या ?"

भगवान ने सुना तो मुस्कुरा कर बोला—'सच-मुच तुम दोनो ही जिम्मेवार हो। शरीर के कधो पर जब आत्मा आ बैठती है, तब दोनो के काट से पाप का जन्म होता है ?

धरती

"हे धरती ! तू बड़ी कंजूस है। सख्त महनत और एडी-चोटी का पसीना एक होने के बाद तु हमे अन्न देती है। बिना महनत ही अगर तु हमें अन्न दे दिया करे, तो तेरा क्या घट जाए ?"

धरती मुस्कुरायी 'मेरी तो इसमे शान बढेगी ही, लेकिन तेरी शान बिल्कुल कम हो जायगी।

समदर्शन

एक दफा संत नामदेव खाना बना रहे थे। रोटिया बन चुकने पर आप जरा काम से कुछ देर के लिए कही चले गये। इतने में ही एक कुत्ता आया और रोटियां मुंह में उठाकर भागा। उसी वक्त संत नामदेव आ गये। और घी की कटोरी हाथ में लेकर, ये कहते हुए कुत्ते के पीछे दौड़े—"भगवान ! रोटिया रूखी है, अभी चुपडी नहीं हैं, घी लगाने दीजिए फिर भोग लगाइये।"

सहनशीलता आत्म शक्ति

पुराने जमाने मे किसी शहर मे एक वृद्ध महात्मा को किसी झूठे इल्जाम मे पकडकर कोड़े लगाये जाते थे। लेकिन महात्मा शान्त और अवि-चल भाव से सहन किए जा रहे थे।

एक सज्जन ने यह दृश्य देखा। पास जाकर पूछा—' महाराज ! आप तो इतने वृद्ध व दुर्बल हैं फिर भी ऐसी सख्त मार को शान्त भावना से कैसे सह रहे हैं। महात्मा बोले "विपत्तिको आत्मशक्ति से सहा जाता है, शरीर बल से नहीं।

वर्षण

एक दिन सुकुरात की कर्कशा स्त्री उनसे झड़प पडी। बडा गर्जन-तर्जन किया। लड़ाई की पूर्णा-हुति स्वरूप उसने सुकुरात पर गन्दा पानी डाल दिया। सुकुरात मुस्कुराते हुए बोले—"मैं जानता था तुम गरजने के बाद बरसोगी भी।"

आङ्ग्ल भाषा
ENGLISH SECTION

चतुर्थ खंड

इस अङ्क में —

Conception of Matter in Communist Philosophy

Ram Chandra Jain, Advocate
Director, Institute of Bharatalogical Research,
Sri Ganganagar

The philosophy of dialectical materialism is the basic foundation of the communist system. Dialectics make it a scientific system. This materialistic dialectical thought is the communist philosophy.

Matter is the bearer of all reality. Motion is the mode of existence of matter. Never anywhere has there been matter without motion, nor can there be. Motion is as uncreatable and indestructible as matter itself. Motion can not be created; it can only be transferred. The active motion is called force and the passive, the manifestation of force. A motionless state of matter is one of the most empty and nonsensical of ideas-a "delirious phantasy" of the purest water. The matter can neither be created nor destroyed and that this is true also of motion[1].

Matter-in-motion is the subject matter of all natural sciences. Natural sciences; mathematics, mechanics and astronomy, physics and chemistry; are subject to the laws of dialectics. Matter and its inherent motion is the cause finalis.[2]

The primordial nebula is the earliest form of matter. This certainly does not exclude, but rather implies the supposition that before the nebular stage, matter had passed through an infinite series of other forms.[3] Engels is not very sure of his supposition. When he says that

1. F. Engels: Anti-Duhring; 1947; Pages 91. 92, 99,
2. F. Engels; Dialectics of Nature; 1954; Pages 322, 329.
3. F. Engels; OP. cit (A.D.); Pages 89-90

nebula has only the beginning of form. Differentiation comes after-wards[4]. Nebula, thus, is the original cause of the various graded forms of matter.

F. Engles is the father of the communist philosophy. Karl Marx accepted the conclusions of Engels arrived at by him on his researches into the natural sciences and applied them to his social researches of the capitalist system. The references to matter or matter-in-motion by Marx in his economistic researches embodied in Das Capital and his other works are only the social applications of the Engelic philosophical doctrines.

Engels discovered his theory of the matter in mation from his researches into the knowledge of the forms of motion governing non-living nature arrived at by the different branches of the natural sciences such as mechanics, physics, chemistry and others. He very truthfully concedes that we are compelled to restrict ourselves-in accordance with the state of science-to the forms of motion of non-living nature[5]. This is the most rational and scientific attitude of Engels. If he had been living today and witnessed the present great and revolutionary strides in the modern natural sciences,he, as a great dialectician as he was, would have further improved upon his theory of matter-in-motion. We have to study him with this perspective.

All motion consists in the interplay of attraction and repulsion. There can be no final cancelling out of repulsion and attraction. There can be no question of mutual penetration[5]. Form of motion conceived as repusion is the same as that which the modern physics terms "energy". There is mutual action between attraction on the one hand and a form of motion; taking place in the opposite direction to it, hence a repelling form of motion on the other hand. Dialectics (attraction and repulsion), so-called objective dialectics, prevails throughout nature, and socalled subjective dialectics, dialectical thought, is only the reflection of the motion through opposites which asserts itself everywhere in nature, and which by the continual conflict of the opposites and their final passage into one another or into higher forms, determines the life of nature. The processes of nature are dialectical. The basis of the dialectics of nature is the law of the attraction and repulsion; the positive and the negative. The evolution in nature reflects itself in the evolution of a concept or of a conceptual relation (positive and negative, cause and effect, substance and accidency) in the history of thought[6].

This general law of the positive and the negative, the basis of the evolution of nature,reflects as the law of attraction and repulsion in relation to matter, a particular object. The emergence of the science of nuclear physics, non-existent during the times of Engels, significantly has further much advanced our knowledge about the substratum of matter. The

4. F. Engels; Op. cit (D. N); Page 323; 329.
5. F. Engels; Op. cit(D N); Page 92-93.
6 F. Engels; Op Cit (D. N.); Pages 95-90; 98-99; 287; 295.

particles have been classified into photons, protons, neutrons, electrons and pious and many more. We know mouns and K-Mesons. We also know six different kinds of hyperons, particles heavier than neuclons. Furthermore to each particle, there exists anti-particle, having electric and magnetic properties. The current list includes 30 in all. The existence of 30 elementary particles as the substratum of all matter is among the greatest enigma of physics. Matter contains in itself Anti-Matter. Matter and Anti-Matter also self-annihilate. This is the greatest discovery of our age. Substance Anti-Matter[7] exists side by side the substance Matter in a particular physical unit.

The principle of matter-in-motion is the principle of the self-movement of matter which is one of the basic principles of logical materialism[8]. It is an eternal cycle in which matter moves, a cycle that certainly only completes its orbit in periods of time for which our terrestrial year is no adequate measure, a cycle in which the time of highest development, the time of organic life and still more that of the life of beings conscious of nature and of themselves, is just as narrowly restricted as the space in which life and self-consciousness comes into operation;a cycle in which every finite mode of existence of matter, whether it be sun or nebular vapour, single animal or genus of animals, chemical combination or dissolution, is equally trancient, and and wherein nothing is eternal but eternally changing, eternally moving matter and the laws according to which it moves and changes. But however often, and however relentlessly, this cycle is completed in time and space; however many millions of suns and earths may arise and pass away, however long it may arise and pass away,however long it may last before, in one solar system and only on one planet, the conditions for organic life develop; however innumerable the organic beings, too, that have to arise and pass away before animals with a brain capable of thought are developed from their midst, and for a short span of time find conditions suitable for life, only to be exterminated later without mercy-we have the certainty that matter remains eternally the same in all its transformations, that none of its attributes can ever be lost, therefore, also, that with the same iron necessity that it will exterminate on the earth its highest creation, the thinking mind, it must somewhere else and at another time again produce it. The inalienable attribute of matter is the unity of attraction and repulsion and transformations of motion are inherent in moving matter. Matter is nothing but the totality of material things from which this concept is abstracted, and motion as such nothing but the totality of all sensuously perceptible forms of motion: words like matter and motion are nothing but abbreviations in which we comprehend many different sensuously perceptible things according to their common properties. Hence matter and motion can be known in no other way than by investigation of the separate material things and forms of

7. O. R. Frisch; The Elementary Particles; Discovery, December 1961 Issue; Pages 518-524

8. M. Shirokov; A Text-Book of Marxist Philosophy; 1944; Page 225.

motion, and by knowing these, we also pro tanto know matter and motion *as such*..[9] The primordial nebula is the unity of attraction and repulsion, affirmation and negation, matter and motion. This is what Matter-in-Motion of Engels means. Attraction and repulsion do not, as earlier seen, mutually penetrate; hence affirmation and negation and for that matter also Matter and Motion do not mutually penetrate. Engels, as earlier seen, has also maintained that motton is the inherent attribute of matter. Engel, here, contradicts himself. The misconception of the nature of the primordial nebula led Engles to this self-contradiction. This misconception of matter-in-motion led Engles to his consequential false and unscientific conclusions.

Self-contradictions of Engels now continue to accumulate. He maintains that the Hegelian pre-mundane existence of the "absolute idea", the "pre-existence of the logical categories" before the world existed, is nothing more than the fantastic survival of the belief in the existence of an extra-mudane creator; that the material, sensuously; perceptible world to which we our-selves belong is the only reality; and that our consciousness and thinking, however supra-sensuous they may seem, are the product of a material, bodily organ, the brain. Matter is not a product of mind, but mind itself is merely the highest product of matter.[10] The attempt at refutation of Hegelian idealism, itself a wrong philosophical doctrine, in agreement with Ludwig Feurbach, misled Engels to take Matter for Matter-in-Motion. He should have, to be self-consistent, maintained that Mind is merely the highest product of Matter-in-Motion. The dropping down of Motion from Matter-in-Motion by Engels led him and consequentially the later Marxist philosophers, including Lenin and his successor Stalin, to their wrong and unscientific statements about the origin af mind.

V. I. Lenin succumbs to this mistake. He maintains that materialism, in full agreement with natural science, takes matter as primary and regards consciousness, thought and sensation as secondary because in its well-defnded form sensation is associated only with the higher forms of matter (organic matter), while "in the foundation of the structure of matter", one can only *surmise* the existence of a faculty akin to sensation ... .. Matter is primary. Sensation thought, consciousness are the supreme product of matter organised in a particular way .... Organic matter is a later phenomenon, the fruit of a long evolution. It follows that there was not sentient matter, no "complexes of sensations", no *self* that was supposedly "indissolubly" connected with the environment in accordance with Avenarius' doctrine. Matter is primary, and thought, consciousness, sensation are products of a very high development.[11] Engels, to annihilate Hegelianism, misled himself. Lenin, to annihi.

9. F. Engels; Op. Cit (D. N.); Page 52; 54: 95; 312; 323-324.

10. F. Engels; Ludwing Feurbach (in A Handbook of Marxism); 1935; Page 219.

11. V. I. Lenin; Materialism and Empirio-Criticism; 1947, Pages 38; 48; 69.

late Avenarius (and Mach too), also misled himself. Lenin could only "surmise" the exi tence of a faculty akin to sensation in matter. He totally forgot the Motion of the Matter-in-Motion. Stalin was no philosopher. He only respeated his master's thought.[12]

This confused thinking still further persists. Mind is held to be a product of matter at a high level of organisation of matter but, inconsistently in the same breath, it is also held to be a product of the evolutionary development of life .... Brain process, or rather, a part of the brain process, becomes a conscious-process .... Sensation is the direct connection between consciousness and the external world . ... There is no consciousness apart from a living brain. There are not, therefore, two separate and distinct spheres of existence, material and spiritual.[13] The Leninist confusion further confounded. Matter has, here, been equated with life which neither Lenin nor any other Marxist philosopher does.

Spirit, consciousness, mind, thoughts, sensations, psyche and such other concepts are interchangeable in the communist philosophy. They are the properties of matter, *not all of it*, but only of highly organised matter, the human brain.[14] Spirit or consciouness reside only in the Brain, not in any other part of the body. The consciousness of man not only reflects the objective world, but also creates it (Lenin).[15] Lenin, unconsciously, approaches, here, Hegel whom he and his masters, Marx and Engels, annihilate.

Lenin speaks of monism and dualism about which Engels (and Marx too) do not speak. Lenin holds that the materialist elimination of the "dualism of spirit and body" (i. e. materialist monism) consists in the assertion that the spirit does not exist independently of the body, that spirit is secondary, a function of the brain, a reflection of the external world. The idealist elimination of the "dualism of spirit and body" (i.e., idealist monism) consists in the assertion that spirit is not a function of body, that, consequently spirit is primary, that the "environment" and the "self" exist only in an inseparable connection of one and the same complexes of elements". He discards eclecticism as a senseless jumble of materialism and idealism.[16] Monists Hegel and Lenin (Engels and Shankar too) quite misunderstand dualism. Both denounce dualism but fail to do without it. Spirit and Matter exist for both; may be a projection of one or the other. But none understands that Matter-in-Motion (Padartha) is a single, unitary objective reality where Matter and Motion both do unite. The existence of one nebula is monism. The existence of attraction and repulsion in the unit

12. J Stalin; Dialectical and Historical Materialism, 3rd Edition; Page 14.
13. Maurice Cornforth; Dialectical Materialism; Volume Three-The Theory of Knowledge; 1955; Pages 13; 23; 33; 45.
14. V. Afanasyev; Marxist Philosophy; pages 10; 17; 75.
15. Shirokov; Op. cit (M. P.). page 255.
16. V. I Lenin; Op. Cit (MEC); Page 86.

is dualism. This dualism is a material truth'and the very foundation of the Dialectics of Nature.

This is the chaos and confusion resulting from the Engelic researches into the different branches of the inanimate nature. Engels starts rightly and ends perversely. Matter-in-Motion, unconsciously or calculatingly, becomes shorn off motion which itself is a contradiction[17] and ultimately remains motionless matter alone. Lenin fails to rightly understand this law of contradiction provided by motion. He maintains that even the antithesis of matter and mind has absolute significance only within the bounds of a very limited field-in this case exclusively within the bounds of the fundamental epistemological problem of what is to be regarded primary and what is secondary. Beyond these bounds the relative character of this antithesis is indubitable.[18] Lenin annihilates the law of contradiction. If the primordial unit is constituted of two antithetical forces and motion is one of the two, the other force would be nonmotion or stability, which, in Matter-in-Motion is Matter. Matter and Motion, hence, are the two mutually opposing forces contradicting each other in the unitary concept Matter-in-Motion (Padartha) which is the foundation of the communist philosophy. The right acceptance of the law of contradition annihilates the thesis o the primary and the secondary and crowns both as equal partners in the joint property called Matter-in-Motion or the primordial nebula or unit.

Engelic materialism lands in greater and insoluble difficulties when it lands in the domain of life. Communist philsosophy holds that the life of organisms spring from inorganic nature.[19] But we fail to derive this communist theory from elements of the Engelic philosophy. Engels is unable to explain the origin of life from inorganic nature.[20] But still he falls into the error and defines life as the mode of existence of protein bodies, the essential element of which consists in continual metabolic interchange with the natural environment outside them, and which ceases with the cessation of this metabolism, bringing about the decomposition of the protein,[21] a sheer physical and chemical phenomenon.

Engels bases his theory of the evolution of life on the physical researches of Charles Darwin. He agrees with him and maintains that the organic world of today, plants and animals, and consequently man too, is all a product of a process of development that has been in progress for millions of years[22] But he also agrees with the criticism against Darwin and maintains that science has not yet succeeded in

17. F Engels; Op Cit (A.D.); Page 179.
18. V I. Lenin; Op. cit (M.E C); Page 147.
19. M. Shrokov, Op cit (M. P) Page 246.
20. F. Engels; Op. cit (D. N.); Page 265.
21. F. Engels, Op. Cit (D. N) Page 396
22. F. Engels; OP. Cit (D. N); Page ?9.

producing organic beings without descent from others; indeed, it has not yet succeeded even in producing simple protoplasm or other albuminous bodies out of the chemical elements; but being a follower of Darwin, he leans towards him and asserts that, with regard to the origin of life, therefore, up to the present, science is only able to say with certainty that it must have arisen as a result of chemical action.[23] Engels is a confused thinker here and is unable to fasten his feet on this or that finding.

Life is the mode of existence of albuminous substances. The organic exchange of matter is the most general and most characteristic phenomenon of life. Non-living bodies change, decompose and enter into combinations in the course of natural processes, but in doing this, they cease to be what they are [24] We, here, find that motion is common both to the animate and the inanimate objects. Life exhibits itself in internal motion while non-life in external motion. Non-life is influenced by external forces. Motion, thus, means the power that causes change, transformation, cycle. The inherent internal motion expresses itself in inner-effortiveness. External motion or influences do not lead to any inner-effor tiveness Difference between life and non-life. hence, is that of inherent effortiveness. The materialist monism hesitates to identify life with organism, and rightly so, as organism is a technical term of modern natural sciences; but leans towards identifying organism with life. Organism, living and non-living both, is a truth of science. The natural sciences have so far not been able to demonstrate that life can emerge from the now life.

The basic problem that now emerges is: whether spirit or consciousness is a development of life or non-life If the primordial nebula contains original elements of life, it may be identified with life. If it does not, then, with non-life. Lenin surmises the existence of a faculty akin to sensation (which is identified with spirit or consciousness) in the foundation of the structure of matter.[25] If the original nucleus of spirit or consciousness is co-existent in the original nucleus of matter, spirit or consciousness, clearly, may be identified with life. By postulating some rudimentary form of consciousness the even for ultimate particles of matter, invovles a sort of dualism. For consciousness is something peculiarly different from the other fundamental properties attributed to matter.[26] Consciousness is fundamentally different from matter. What gives motion to matter is the elementary nucleous of consciousness. What bears the motion is the elementary nucleus of matter. Both contradict each other. The primordial nebula inherently has both these substances and, hence, we have Matter-in-Motion. The English

23. F. Engels; op cit (D.N.); Pages 110-111
24 F. Engels; Op. Cit (A. D.); Pages 121-124
25. V I. Lenin; Op. Cit (M. E. C.); Page 38.
26. I. W. N. Sullivan; Limitations of Science; 1953; Page 107

language does not possess a single word to express the idea contained in this compound word, hence, the reality has to be expressed by the group of words, Matter-in-Motion. The Sanskrit language possesses one word "Padartha" to express this reality. Matter-in-Motion means Padartha. Padartha is the union of spirit (call it consciousness, if you so like) and matter. None is the highest development of the other. Both exist, in their own inherent rights, in the single primordial nebula. Idealist monism and materialist monism both are wrong in falsely projecting the development doctrine. There is development but that development is of spirit and of matter. Both do not penetrate each other but interact upon each other. This discussion throws further light too, on the existence or attraction and repulsion, positive and negative, matter and anti-matter in the lowest particle of matter yet known to the natural sciences. The natural sciences prove beyond doubt the existence of these two antithetical forces in the primordial unit which forms the foundation of the Dialectics of Nature. I postulate, though on circumstantial evidence yet provided by science, that Antimatter has to be indentified with spirit or consciousness.[27] The primordial unit is the union of matter, having properties of attraction and positiveness, and antimatter, having properties of negation and repulsion; or matter and spirit,

The union of matter and spirit is a reality. This is the foundation for the development of the lowest living organism into plants, animals and human beings. This is neither idealism nor materialism. This is the negation of idealism and progress upon the materialism. The ghost of idealism of Hegel and the dazzling nymph of Nature of Darwin waylaid Engels and the later communist philosophers. They rightly annihilated the ghost but materialistically fell pray to the dazzling nymph.

The communist philosophy concedes the truth that nothing emerges from nothing. The properties which become elements of the new quality are actually created in the old[28]. If the basic elements of consciousness do not exist in the primordial unit, it is only a transformation, may be an evolutionary leap, of the fundamentally existing substance. If this substance only changes forms at different periods of time; it is no revolution; it is, at the best, a mere reform. The form reforms itself. Revolution consists in the fundamental change of properties and that is alien to one-substance based transformations. If we concede consciousness as a function of the brain, the highest development of matter; it is nothing more than mere re-formism. If one substance basically changes the properties of its co-existing other substance; it is revolution, not mere re-formism. Revolution fundamentally presupposes the existence of mutually opposed, mutually contradicting, ever-interacting two substances in unity. It is this truth, halfrealised, that led Lenin to surmise that existence of the basic element

27. R.C. Jain; The Great Revolution; 1967; Page 115.

28. M. Shirokov; Op Cit (M. P.); Page 289

of consciousness in the foundation of the structure of matter. It is from this existing, not-nothing, basic element of consciousness that varying degrees of consciousness in various and multiform plants, animals and human beings evolved. To deny the existence of the basic element of consciousness in the primordial unit would be tantamount to get something from nothing. This is undialectical, unscientific, unnatural and unreal.

The doctrine of "emergence" is a necessary concommitant of the theory of dialectical development in the philosophy of materialistic monism, (and in idealistic monism too). As the theory of dialectical development presents itself only as reformistic, the theory of dialectical emergence is adovcated. This is the theory of radical break through a leap. The transformation of quantity into quality is a qualitative leap[29] But Engels soon retraces his steps from this "revolutionary leap" and reverts to the re-formism of the inanimate monistic matter. He concedes that in the organic world, the cell stands between terrestrial masses and molecules. These intermediate links prove only that there are no leaps in nature, precisely because nature is composed entirely of leaps[30]. The theory of "emergence' is a false theory in the system of monism, materialist or idealist as that would only mean assuming various forms by the one and the same substance. The theory of Emergent Evolution has not yet been proved by science[31]. The doctrine of monism in philosophy, materialist or idealist, can never be a scientific and a revolutionary doctrine. It is, at the best, a presumptive theory of unscientific re-formism.

The re-formists alone, and not the revolutionaries, would adhere to the philosophical systems of the idealistic and the materialistie monism. The old materialism was negated by idealism. But in the course of the further development of philosophy, idealism too became untenable and was negated by modern materialism[32]. This Engelic "modern" materialism of the nineteenth century today, owing to to the progressive, forceful researches in the domains of naturat sciences; new branches of humanities such as archaeology, anthropology and others, and the startling development of philosophy; stands negated by the modern Matter-in-Motionism (viz. the Padarthism). The conception of matter of the nineteenth century communist philosophy, based on the results of the inanimate natural sciences, is only mechanical and re-formist. The modern Matter-in-Motionist philosopy regards it as a retrograde philosophical system of the by-gone age.

Marx and Engels were two great, revolutionary dialecticians of the nineteenth century. They never prophesied that the "laws" discovered by them are true for all times. These two great founding fathers of communism provided anti-thesis to the thesis of the European idealist philosophers

29. F. Engels; Op Cit (A. D); Page 70: 101: 102.
30. F. Engels; Op Cit (D. N.); Page 58.
31. J. W. N. Sullivan; Op. Cit (L. S.); Pages 104- 05
32. F. Engels; Op. cit (A.D); Page 206

for laying down strong cultural foundations for providing the communist anti-thesis to the capitalist society. They have proved right. The best elements of both the antithetical philosophies and the antithetical societies have resulted in the "emergence" of the present communist philosophy and the communist society covering more than half the world. But they never predicted that this emergence of the new "thesis" would not meet its anti-thesis. The present objective developments in the spheres of materialist and the spiritual conditions of the human society have developed the "contradiction" in the inner and outer working of the present human society and the struggle has reached the brink where a radical break is the necessity of the age. Marx and Engels and Lenin too, envisaged this possibility which today is an objective reality. Marx and Engels are waiting to be un-Marxed and un-Engelled in the realms of philosophy and society. The human society, today, need a new antithetical ideological weapon to win the new "freedoms" for the human society. Revolution in thought and practise is the necessity of the age. For that, first, we have to be very clear about our conception of the reality Matter-in-Motion in the newly emerging revolutionary philosophy.

"Ahimsa is the spark of divinity, heritage of the Universal soul. It binds all into a unity. It gives solace hear and here-after. It should ever be nourished like the sacred flame."

—Jai Bhagwan Jain

Renunciation : The Keynote of Lord Mahavira's Life and Teachings

Dr. Jyoti Prasad Jain,
M.A. LL.B. Ph.D.
Lucknow.

Human beings are instinctively actuated by an urge to acquire and possess external objects for the satisfaction of their physical appetites and the gratification of their sensual desires or their ego, very often at the expense of others. In this constant pursuit of worldly acquisitions, of power and pelf, one is apt of forget that his activities hurt others, contravene their lawful rights and endanger or even destroy their life and property, sometimes very callously and cruelly. This gives rise to various types of social inequalities, class wars, racial or communal conflicts and policical conflagarations, at times involving the entire human race. Besides wholesale destrucion of life and property, peace is disturbed, anarchic conditions prevail, and all kinds of suffering and misery are the order of the day. Human progress is retarded and the society as a whole degenerates. Man forgets himself.

Social scientists, economists and politicians try their best to find out means and methods to counteract these disturbing tendencies, but they have all so far failed to get at a permanent solution. Everybody fears and hates suffering and wishes to be happy. To a world-engrossed mind happiness consists in the satisfaction of desires. But desires have an uncanny tendency to grow and multiply, and it is

absolutely impossible to satisfy fully all the desires that an individual may have entertained. Hence, all the mental gymnastics and heart-breaking efforts and exertions of the worldly-wise dismally fail to bring lasting and unalloyed happiness to mankind.

One is, therefore, forced to the conclusion that the only ray of hope lies in our old friend, religion, the very conception of which implies that by putting restraints on his objective mundane pursuits the individual must come back to his own subjective nature-his inner self. The purpose of religion is, in fact, self-realisation, that is, a realisation of the divinity in oneself And, it is achieved by bringing under control the lower instincts associated with bodily functions and by freeing the spirit from the bonds which have enmeshed it for countless births. Self-discipline, the discipline of body, speech and mind, and involving in the first instance the regulation of the senses, has been conceived of as an effective means of awakening the soul and helping its progress on the path of spiritual evolution, leading ultimately to the never ending transcendental bliss whence there is no return any more.

True, there are religions and religions. Most of the known and prevalent systems, though beneficial to mankind to an extent, fall short of their ultimate purpose inasmuch as they encourage man, directly or indirectly, to go on pursuing his mundane interests and the satisfaction of his desires for acquisition and indulgence in sensual pleasures, by advocating that through profitiation of or pleasing a God or gods and goddesses he would be able to obtain all worldly goods desired by him, here and now, and to thwart calamities, sufferings and misfortunes These *pravritti-pradhan* creeds encourage the 'doing' and 'enjoying' side of human nature and tend to dull the spirit of forbearance, abjuration and sacrifice. But, there are other religions which do the reverse, and Jainism, the creed of the Shramana Tirthankaras of ancient India, is the most conspicuous among these *nivritti-pradhan* systems. Its very keynote is 'Renunciation'.

Lord Rishabhadeva or Adinatha was the first Tirthankara who, about the very beginning of the known human history, himself practised and then propagated this ascetic path of renunciation for the good of all living beings. He was followed, at intervals, by twenty-three other Tirthankaras, the twentieth (Munisuvrata natha) of whom was a contemporary of Shri Rama Chandra of the Ramayana fame and the twenty-second (Arishtanemi) a cousin of Narayana Krishna of the Mahabharata fame The last but one, Parshvanatha, lived in 877-777 B.C , being born about a couple of centuries before the birth of the Buddha, the founder of Buddhism. Vardhamana Mahavira the Nigantha-nata-putta of the Buddhist Pali tradition, was the last of this series of Jain Tirthankaras and was a senior contemporary of the Buddha.

Lord Mahavira was born to Trishala Priyakarini, the wife of the Lichchhavi prince Siddhartha, in Kundagrama, a suburb of Vaishali (capital of the great ancient republican confederation of the

Vajjis), on the 13th day of the bright half of Chaitra in 599 B.C. He belonged to a royal Kshatriya family and was well connected with a number of the princely houses of India. He had an extremely intelligent mind, a superb physique, a very charming personality and all the worldly goods that one may desire, but these things had little meaning for him. From his very childhood he was of an extremely selfless, unaggressive and non-acquiring disposition. The only longing he had was when would he be able to shake off these shackles and be free to launch on the path of liberation, devoting himself, at the same time, wholeheartedly to the welfare of mankind. Lord Bacon once observed, "The nobler a soul is, the more objects of compassion it hath." Young Mahavira's compassion for all living beings really knew no bounds.

At last, at the age of only thirty he renounced the world and its plesaures. For full one year prior to that event he had been giving away to the needy all his wealth. This is known as the *Mahadana* (the Great Charity) of the Tirthankara. When he had distributed all he possessed, he retired to the forest giving away the very clothes and ornaments he had on his body. He now became a Nirgrantha (*nir*— without *grantha*=*bonds*) ascetic who had no attachment to any person or thing and was absolutely possessionless. Even after that, he went for long periods without food, practising severe austerities and reducing the claims of the flesh to their minimum point. At the expiry of twelve years of such thorough self-discipline and spiritual meditation he became an Arhat. He had achieved the perfection of his soul and came to stay in the state of purest, perfectest and most blissful self realisation. He had come to know all that was there to know. And, then he launched on his mission, roaming about the land on foot, preaching to all and sundry the path of liberation which he himself had followed and following which had attained what a human being can ever hope to attain, the full divinity inherent in a soul. For full thirty years he devoted himself to the supreme good of all living beings in an absolutely selfless spirit, attaining Nirvana in 527 B.C., in the early hours of the day, known all over India and beyond wherever Indian cultural influence reached as the Deepavali or Divali, "The Feast of the Lamps'.

It is in that extremely unaggressive and non-acquiring disposition which had begun to characterise Lord Mahavira's early life that, as Dr. H.S. Bhattacharya observes, "is the sought for clue to the possibility of a sensible man's refraining from further acquisition of wealth at a certain stage of his life. If a socialist-minded man is to stop from money-making pursuits and if the state interference or outside pressure in this matter is undesirable, then the urge must come from within. For the socialistic self-control, the back-ground of non-avaricious disposition is psychologically necessary". We have seen that this spirit of forbearance, abjuration and selfsacrifice was a marked trait of Mahavira's character. He not only hankered

after worldly possessions but freely gave away what he possessed. And this he did, not because he was compelled to do so, but of his own free will quite in keeping with his inherent disposition.

The first vow he took, on renouncing the world, was that of absolute possessionlessness and that made him a perfect Nirgrantha. And, when he preached the noble path he prescribed that one of the 'five great vows' (*Mahavratas*), that an ascetic follower of the path must observe was the vow of possessionlessness or Aparigraha. Those who could not renounce the world and would remain householders, as most human beings have ever been doing, they should practise in the form of an Anuvrata (or a partial vow) the Bhogopabhoga parimana, a partial limitation and progressive minimisation of ones luxuries, comforts and even basic needs Further, there are the Digvratas which help in inculcating this spirit of willing renunciation aiming as they do at a systematic limiting of one's activities.

Mahavira, the superman as he was, has been rightly called 'The greatest Apostle of Ahimsa', his motto for all being 'Live and let live'. And, renunciation of possessions is the chief corollary of Ahimsa. Long before he became an Arhanta and a Tirthankara, Mahavira had actually given away all he had, keeping nothing for himself and reducing his personal necessities to the barest minimum, thus, in the words of Carlyle, making his claim of wages a zero litterally. He was not for himself and had no thought of preserving his own life, but was solely devoted to the preservation of all life. He aimed at a peaceful co-existence of living beings.

It is imperative, therefore, that a person should earnestly try to curtail his or her wants and to set a limit to his or her acquisitions and possessions. Even a pioneer of modern socialism is found advocating that every person at a certain stage of his life should say it to himself, "Here I will stop; that which I have already earned is enough and I shall not try to get more." This is what more than 2500 years ago Lord Mahavira advocated though in a more scientific, plausible and practical way. He said that it is not enough that you curtail or limit your possessions, no doubt by using the surplus for the benefit of others, but you should never dream of depriving others of their legitimate possessions or acquiring anything by dishonest or unlawful means. But, this you can do provided you have annihilated the evil attachment to worldly things. There must first be the spirit of renunciation or *tyaga*. In the absence of such a *tyaga-bhavana*, or genuine spirit of renunciation, the outward charity or parting with your possessions is no good. So long as the greed and desire to acquire and possess is not annihilated, so long as one's senses are not brought under control, so long as one does not bring about, by his own free will and choice without any outside compulsion or ulterior motive, a transformation in his values of life, his renunciation, if not

actually a farce, is unable to give the desired results.

Lord Mahavira was the embodiment of true Renunciation. His entire life and his teachings, often translated in the life of those who have sincerely followed them, are living examples of this great ideal of Renunciation which, even if partially but willingly and sincerely practised, will go a great way in bringing about peace and happiness to individuals and to the human society as whole.

Guard watchfully against errings of the mind;
See it falls not from noble to base mood.
Such is the only way to fill with Peace
Of mind and heart the life upon this earth;
Such is the essence of what Jina taught.

—Unknown

The Music of Peace

Hear, hear ! in tranquil Self the peace-music
What poignant melody ? no one can say
But feel as inner voice sings a lyric
Which makes a person happy and gay.

The voice of peace was heard through ages,
And can be heard at every time,
But only by spiritual men or pious sages
In fascinating and unworldly rhyme.

If desirous to bath in shower of peace-voice,
Leave vicious rooms of anger, greed and aggression
And do prefer in thy every choice
The open tamosphere of Truth and Compassion.

Thus peace-music may be audible every where
And peaceful may grow atmosphere.

—V. P Jain

Religion and Modern Science

The word 'religion' arouses quite varied and even opposite feelings in people. Some become ready to sacrifice all their joys on its alter, while others think it an impediment to human progress, a chain in man's feet. To them, all the progress seem to be ensured through the agency of modern science.

It is highly important today that we should be clear about the place of religion and of science in our lives. Religion concerns with the soul of man, its good. Science concerns with matter, body, earth, stars etc., physical things. Both have different kinds of uses for us and are necessary.

Gyan Chand Biltiwala
M. A.

Sometimes people talk of religion in contradistinetion to science. Historically, it is true too. Before the growth of modern science religions provided solutions to every problem. They 'unfolded' the whole mystery of the cosmos. Every religion did it in its own way. The seers of these religions did not limit themselves to the question of mere 'good' of man. They claimed omniscience. The conflict of one religion with another and of all the religions with science is, generally, not the conflict regarding their notions of 'good' but regarding their notions of physics and metaphysics. Religion in West tried to curb the growth of modern science not because it was in

conflict with their notion and practice of 'good' but because it refuted their knowledge about the world.

Modern science has mostly refuted the extrareligious beliefs of different religions. But the story is quite different in case of Jainism. Modern science has supported its many beliefs which it held singularly. No religion maintained life in trees, mines etc. Jainism did. Modern science has amply proved it to be true. It also holds like Jainism innumerable germs in one single drop of water. Moreover, its main beliefs in transmigration of individual souls (पुनर्जन्म), in the capacity in man's mind to know distant things without the help of senses are also being supported by the researches of modern parapsychology.

But, there are areas where modern science is sharply in contrast to Jain Shastras. This is so particularly in the field of geography and astronomy. In modern geography the earth is not flat but round like a globe. Again, modern astronomy has proved that the moon is neither bigger than the Sun nor more distant to the earth by sending astronants over there.

Jainism believes that Mahavir was an Omniscient. He knew everything about man and universe vividly It further believes that Acharyas were able to transfer the knowledge from Mahavir from one generation to another, in the beginning orally and later in the written form. This belief tends to make us cocksure about everything written in the Shastras. It inspires uncritical faith in them.

In this connection, we should know that critical examination of things written in Shastras is not something new in Jain tradition. Writers like Samantbhadra of past and modern like Pandit Todar Mal have been emphasising the need of critical examination. They were aware of the possibility of mistakes in the writings of even sincere great Acharyas. They did not want to allow any falsehood as truth in the name of Tirthankaras.

Pandit Todarmal of Jaipur has very aptly remarked that right-belief (सम्यक्-दर्शन) is not injured by wrong knowledge regarding things other than Seven Tatvas. This we can say for Jain Shastras also. Their authenticity can not be challanged by disproving their statements regarding the sun and the moon. They guarantee us the true knowledge of Seven Tatvas only and in that they should be judged as right and wrong

Let us think a bit about the basic limitations of modern science also. It needs no argument that modern science would never be able to scale the whole truth. There will always be something 'beyond' in time and space unapproached by all its fastest means. That is, science will always be surrounded by 'nescience' or ignorance. Nescience may howsoever recede back, it will always be infinitely greater than the science. The hero of the poem 'Ulysses' correctly says—

"Yet all experience is an arch
Where through gleams that
untravelled Past
Whose margin fades for ever
and ever as I move."

As such, modern science with all its researches will never be able to make us perfectly sure about our own true nature and that of the world. Plainly speaking, it requires some omniscient to know things through all the time and all the space. He alone can tell us the whole truth. Until we have one in the present or search out a true one of so many 'omniscients' from the history of all the religions, we are always a poor unfortunate lot, not knowing the right direction to move to our steps in never getting sure that we are making the best use of our short life on this earth that we can.

Let modern science flourish as much as it can But, we will always need the authority of some omniscient, It we can find one breathing alive, we may relinquish all our search for one in the past. Till we can find out one really, no number of scientists and philosophers, howsoever great in themselves will be able to fill the vacancy. We must search in the past if there has ever been any omniscient in the history of the world howsoever remote.

Jainism believes that Mahavir and other Tirthankaras were omniscients. They knew the whole truth about mind and matter, about the whole of the universe. They knew it and told the world of it. The generations transferred the truth received from the last Tirthankara Mahavir first verbally and later in the written form.

The sole test of the authenticity of Jain tradition, or of any other tradition claimed from some omniscient, consists of its challangeability of its Tatvas. Regarding the Jain tradition we can very well say that modern science has never been able to refute its seven Tatvas. Its researches have so far rather, supported them.

The Message of Dharma

Let your tempered self have bath
In cool stream of forgiveness,
Give no quarter to resentment, wrath
And soft feelings you do possess.

In pure learning's radiant light,
Travel on your life's course
In every moment of delight
Don't be ruled by animal force.

Let truth become the guiding star,
In dense, dark worldly night,
By right conduct can reach so far
To Eternal Home, which's bright.

With self control march on the way
To sublime goal of true nature
Thus be, O soul, quite happy and gay
And finish up the world's torture

—V. P. Jain

With Best Wishes

From :

A WELL WISHER

श्री अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसाइटी

जयपुर द्वारा संचालित

मानव सेवा के महान व्रत

का

मूर्त रूप

श्री अमर जैन मेडिकल अस्पताल

बढ़ते चरण :-

- आधुनिक प्रणाली की सर्वोच्च चिकित्सा
- सुयोग्य व अनुभवी चिकित्सक
- नवीन निदान केन्द्र—एक्सरे
- परिवार नियोजन की समुचित व्यवस्था
- 'अमर भवन' श्री स्वरूपचन्द्र चोरडिया प्रसूतिगृह का निकट भविष्य में संचालन योजना
- नगर के मध्य भाग में स्थित चिकित्सा सेवा उपलब्ध कराने का प्रमुख केन्द्र
- नर्सिंग होम की योजना

"सेवा मानव वृत्तियों में सबसे ऊंची और महान् वृत्ति है।"

राजस्थान राज्य कृषि उद्योग निगम (प्रा०) लि०

जयपुर

आर एस 09 जर्मन ट्रेक्टर के खरीददारों

को

शुभ सूचना

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष है कि पूर्व जर्मनी के ट्रेक्टर निर्माताओं ने 20 अश्व शक्ति के आर एस 09 ट्रेक्टर इतनी संख्या में उपलब्ध कराने का आश्वासन दे दिया है कि अब जनता को ट्रेक्टर खरीदने हेतु प्रतिक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

हर व्यक्ति जो उक्त ट्रेक्टर लेना चाहें निगम कार्यालय से सम्पर्क स्थापित कर शीघ्र ही तैयार स्टोक से प्राप्त कर सकते हैं।

बी० एल० पानगड़िया
सचिव
राजस्थान राज्य कृषि उद्योग निगम (प्रा०) लि०,
आर-7, सहदेव मार्ग, अशोक नगर,
जयपुर-5

राजस्थान स्टेट लौटरी

बडे-बहुत बडे-इनाम

पहला पुरस्कार

३,

टिकिट

टिकि

ग्यार

ाजेन्सी के लि

नहसील (सब

निर्देशव